परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती पट्टाधीशाचार्यश्री

सुविधिसागर जी महाराज

के

50 वें जन्मदिवस के पावन अवसर पर

सुविधि–परिवार के द्वारा आयोजित

जिनवाणी-महोत्सव

सहस्रग्रन्थसंग्रह

❊ जन्मदिवस 19–03–1971 ❊ मुनिदीक्षा–11–05–1989 ❊ आचार्यपद– 20–06–2004

पट्टाधीशपद– 24–12–2010 (20–06–2004 को की गई उद्घोषणा के अनुसार)

परम पूज्य आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज के द्वारा की गई उद्घोषणाः–

हमारी समाधि के पश्चात् आपको इस संघ के संचालकपद पर नियुक्त करते हैं।

(अंकलीकर वाणी–जुलाई 2004) (अक्षयज्योति–अक्तूबर 2004)

प्रमेयरत्नमाला

ग्रन्थकार

परम पूज्य आचार्यश्री अनन्तवीर्य जी महाराज

हिन्दी व्याख्या

डॉक्टर रमेशचन्द जैन

मुद्रक

भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत परिषद्

(परम्परानायक)

परम पूज्य चारित्र-चक्रवर्ती,
आचार्यश्री आदिसागर जी महाराज
(अंकलीकर)

(द्वितीय पट्टाधीश)

परम पूज्य तीर्थभक्त-शिरोमणि,
आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी महाराज

(तृतीय पट्टाधीश)

परम पूज्य सिद्धान्त-चक्रवर्ती,
आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज

(चतुर्थ पट्टाधीश)

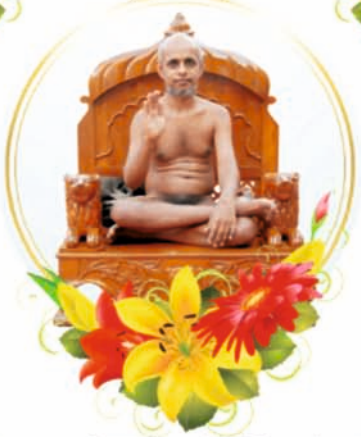

परम पूज्य तपश्चर्या-चक्रवर्ती, आचार्यश्री सुविधिसागर जी महाराज

दिगम्बर साधु निरन्तर पगविहार करते रहते हैं। ग्रन्थभण्डार को साथ में रख कर विहार करना अशक्यप्रायः होता है। फलतः उनको ग्रन्थों के सन्दर्भ देखने में असुविधा होती है। उनकी सुविधा के लिये इस कोश का निर्माण किया गया है। इस कोश के निर्माण में किसी भी प्रकार का व्यापारिक हेतु नहीं है।

आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न श्रावकबन्धुओं से निवेदन है कि वे ग्रन्थ का विक्रय कर अध्ययन करने की परम्परा को कायम रखें।

मुखपृष्ठ पर हमने ग्रन्थकर्त्ता, अनुवादक, सम्पादक, प्रकाशक आदि के नाम दिये हैं। किसी संस्थान का कर्तृत्व हमने लुप्त नहीं किया है।

इस कोश के लिये आवश्यक ग्रन्थ हमें अनेक स्रोतों से प्राप्त हुये हैं। हम उन सभी का आभार मानते हैं।

सुविधि-परिवार

युग प्रमुख चारित्रशिरोमणि सन्मार्गदिवाकर पूज्य आचार्यश्री
विमलसागरजी महाराज की हीरक जयन्ती प्रकाशन माला

श्रीमल्लघु अनन्तवीर्य विरचिता

प्रमेयरत्नमाला

हिन्दी व्याख्या

डॉ० रमेशचन्द्र जैन, जैनदर्शनाचार्य
एम. ए., पी-एच. डी., डि. लिट्
अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, वर्द्धमान कालेज, बिजनौर (उ० प्र०)

अर्थ सहयोग

श्रीमती कमलादेवी जो
सुपुत्र कैलाशचन्द्र भगवती प्रसाद रारा जैन
पलटन बाजार, गोहाटी (आसाम)

प्रकाशक

भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्

हीरक जयन्ती प्रकाशनमाला पुष्प संख्या–५६

प्रेरक : उपाध्याय मुनिश्री भरतसागरजी महाराज

निर्देशक : आर्यिका स्याद्वादमती माताजी

प्रबंध संपादक : ब्र० धर्मचन्द शास्त्री, ब्र० कु० प्रभा पाटनी

ग्रन्थ : **प्रमेयरत्नमाला**

प्रणेता : श्री अनन्तवीर्य

संस्करण : प्रथम संस्करण प्रतियाँ १०००
वीरनिर्वाण सं० २५१८ सन् १९९२

प्रकाशक : भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्

प्राप्ति स्थान : (१) आचार्य विमलसागरजी संघ

(२) अनेकान्त सिद्धान्त समिति, लोहारिया,
बाँसवाड़ा [राजस्थान]

(३) श्री दि० जैन मन्दिर, गुलाबबाटिका,
लोनी रोड, दिल्ली

मूल्य :

वर्द्धमान मुद्रणालय,
जवाहरनगर, वाराणसी

समर्पण

चारित्र शिरोमणि
सन्मार्ग दिवाकर
करुणा निधि
वात्सल्य मूर्ति
अतिशय योगी—
तीर्थोद्धारक चूड़ामणि—
अपाय विचय धर्मध्यान के ध्याता
शान्ति-सुधामृत के दानी
वर्तमान में धर्म-पतितों के उद्धारक
ज्योति पुञ्ज—
पतितों के पालक
तेजस्वी अमर पुञ्ज
कल्याणकर्त्ता, दुःखों के हर्ता, समदृष्टा
बीसवीं सदी के अमर सन्त
परम तपस्वी, इस युग के महान् साधक
जिनभक्ति के अमर प्रेरणास्रोत
पुण्य पुञ्ज—
गुरुदेव आचार्यवर्य श्री 108
श्रीविमलसागर जी महाराज के कर-कमलों में
"ग्रन्थराज"
समर्पित

तुभ्यं नमः परम धर्म प्रभावकाय।
तुभ्यं नमः परम तीर्थ सुवन्दकाय॥
"स्याद्वाद" सूक्ति सरणि प्रतिबोधकाय।
तुभ्यं नमः विमल सिन्धु यगुणार्णवा॥

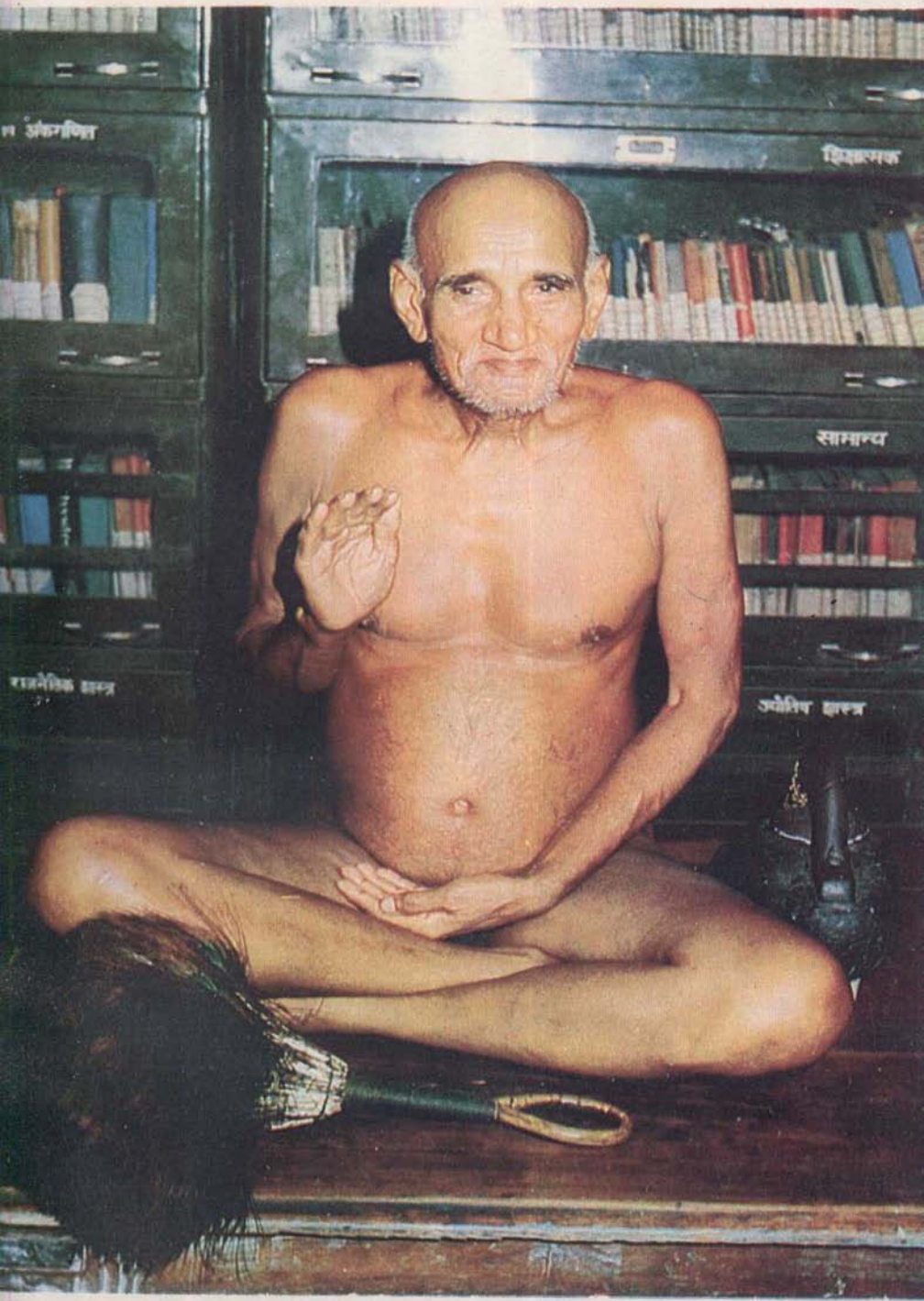

आचार्य श्री विमल सागर जी महाराज

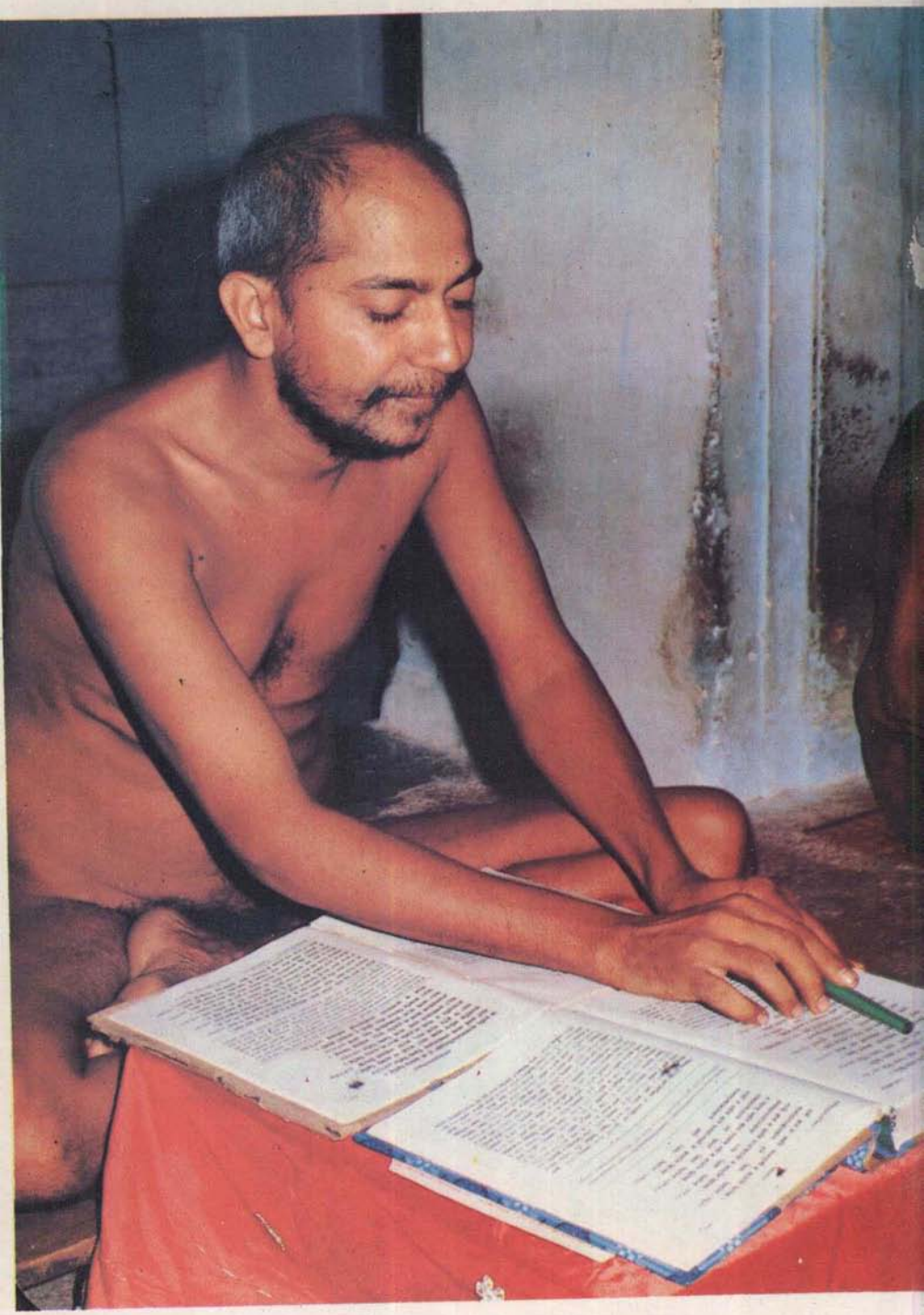

उपाध्याय श्री भरत सागर जी महाराज

सोनगिर

॥ आशीर्वाद ॥

विगत चौबीस वर्षों से जैनागम को धूमिल करने वाला एक भयंकर विवाद देखा गया, जब कि सत्यार्थ प्रकाश का आधार लेकर कुछ व्यक्ति एकान्तवाद - निश्चयाभास तुल पकड़ने लगा।

काल के इस दौर्बल्य युग में असत् को अपना प्रभाव फैलाने में विशेष श्रम नहीं करना होता, पर सत्य है, कारण जीव के त्रिकाल संस्कार अनादिकाल से चले आते हैं। विगत ७०-८० वर्षों में एकान्तवाद ने जैनत्व का दीक्षा लेकर निश्चय नय की आड़ में स्याद्वाद को नीचे पछाड़ने का प्रयास किया है। विपुल साहित्य भी प्रसार-प्रचार किया है। आचार्य कुन्द-कुन्द की आड़ लेकर अपनी रचनाएँ की हैं और ग्रन्थों में आचार्य वचन दिए हैं अर्थों का अनर्थ कर दिया है।

कुछ व्यक्तियों ने अपनी मान्यता पर 'एकान्त' से लोहा लिया है पर वे अपनी ओर से जनता को अपेक्षित सत्साहित्य सुलभ नहीं करा पाए। आचार्य श्री विमल सागर जी महाराज का हीरक जयन्ती वर्ष हमारे लिए एक स्वर्णिम अवसर लेकर आया है। अखिल स्याद्वादमती आर्यिकाओं ने आचार्य श्री एवं हमारे सान्निध्य में एक संकल्प लिया कि प्रथम आचार्य श्री की हीरक जयन्ती के अवसर पर आर्ष साहित्य का प्रचुर प्रकाशन हो और घर घर जन-जन को सुलभ हो। फलतः ७५ आर्ष ग्रन्थों के प्रकाशन का निश्चय किया गया है क्योंकि सत्सूर्य के तेजस्वी होने पर असत्य उलूक कर स्वतः ही पलायन कर जाता है।

आर्ष ग्रन्थों के प्रकाशन हेतु जिन भव्यात्माओं ने अपनी स्वीकृति दी है एवं प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से जिस किसी ने भी इस महदनुष्ठान में किसी भी प्रकार का सहयोग किया है उन सबको हमारा आशीर्वाद है।

उपाध्याय भरतसागर

मी० १२-७-१९९०

'संकल्प'

'णाणं पयासं' सम्यग्ज्ञान का प्रचार-प्रसार केवलज्ञान का बीज है। आज कलयुग में ज्ञान प्राप्ति की तो होड़ लगी है। पदवियाँ और उपाधियाँ जीवन का सर्वस्व बन चुकी हैं परन्तु सम्यग्ज्ञान की ओर मनुष्यों का लक्ष्य ही नहीं है।

जीवन में मात्र ज्ञान नहीं, सम्यग्ज्ञान अपेक्षित है। आज तथाकथित अनेक विद्वान् अपनी मनगढन्त बातों की पुष्टि पूर्वाचार्यों की मोहर लगाकर कर रहे हैं। ऊटपटाँग लेखनियाँ सत्य की श्रेणी में स्थापित की जा रही हैं। कारण पूर्वाचार्य प्रणीत ग्रन्थ आज सहज सुलभ नहीं हैं और उनके प्रकाशन व पठन-पाठन की जैसी और जितनी रुचि अपेक्षित है, वैसी और उतनी दिखाई नहीं देती।

असत्य को हटाने के लिए पर्चेबाजी करने या विशाल सभाओं में प्रस्ताव पारित करने मात्र से कार्यसिद्धि होना अशक्य है। सत्साहित्य का जितना अधिक प्रकाशन व पठन-पाठन प्रारम्भ होगा, असत् का पलायन होगा। अपनी संस्कृति की रक्षा के लिए आज सत्साहित्य के प्रचुर प्रकाशन की महती आवश्यकता है—

येनैते विदलन्ति वादि गिरयस्तुष्यन्ति वागीश्वराः,
भव्या येन विदन्ति निर्वृति पदं मुञ्चन्ति मोहं बुधाः।
यद् बन्धुर्यन्मित्रं यदक्षयसुखस्याधारभूतं मतं,
तल्लोकत्रयशुद्धिदं जिनवचः पुष्याद् विवेकश्रियम्॥

सन् १९८४ से मेरे मस्तिष्क में यह योजना बन रही थी परन्तु तथ्य यह है कि 'सङ्कल्प' के बिना सिद्धि नहीं मिलती। सन्मार्गदिवाकर आचार्य १०८ श्री विमलसागर जी महाराज की हीरक-जयन्ती के मांगलिक अवसर पर माँ जिनवाणी की सेवा का यह सङ्कल्प मैंने प० पू० गुरुदेव आचार्यश्री व उपाध्यायजी के चरण-सान्निध्य में लिया। आचार्यश्री व उपाध्यायश्री का मुझे भरपूर आशीर्वाद प्राप्त हुआ। फलतः इस कार्य में काफी हद तक सफलता मिली है।

इस महान् कार्य में विशेष सहयोगी पं० धर्मचन्द्र जी व प्रभा जी पाटनी रहे, इन्हें व प्रत्यक्ष-परोक्ष में कार्यरत सभी कार्यकर्त्ताओं के लिए मेरा आशीर्वाद है।

पूज्य गुरुदेव के पावन चरण-कमलों में सिद्ध-श्रुत-आचार्यभक्तिपूर्वक नमोस्तु-नमोस्तु-नमोस्तु।

सोनागिर, ११-७-९०

आर्यिका स्याद्वादमती

आभार

सम्प्रत्यस्ति न केवली किल कलौ त्रैलोक्यचूड़ामणि-
स्तद्वाचः परमासतेऽत्र भरतक्षेत्रे जगद्योतिका।
सद्रत्नत्रयधारिणो यतिवरास्तेषां समालम्बनं,
तत्पूजा जिनवाचिपूजनमतः साक्षज्जिनः पूजितः॥ पद्मनंदी पं०॥

वर्तमान में इस कलिकाल में तीन लोक के पूज्य केवली भगवान् इस भरतक्षेत्र में साक्षात् नहीं हैं तथापि समस्त भरतक्षेत्र में जगत्प्रकाशिनी केवली भगवान् की वाणी मौजूद है तथा उस वाणी के आधारस्तम्भ श्रेष्ठ रत्नत्रयधारी मुनि भी हैं। इसलिए उस मुनियों का पूजन तो सरस्वती का पूजन है, तथा सरस्वती का पूजन साक्षात् केवली भगवान् का पूजन है।

आर्ष परम्परा की रक्षा करते हुए आगम पथ पर चलना भव्यात्माओं का कर्त्तव्य है। तीर्थंकर के द्वारा प्रत्यक्ष देखी गई, दिव्यध्वनि में प्रस्फुटित तथा गणधर द्वारा गुन्थित वह महान् आचार्यों द्वारा प्रसारित जिनवाणी की रक्षा प्रचार-प्रसार मार्ग प्रभावना नामक एक भावना तथा प्रभावना नामक सम्यग्दर्शन का अंग है।

डॉ० रमेशचन्द्र जैन बिजनौर ने इस ग्रन्थ को हिन्दी व्याख्या विस्तार से लिखकर विषय को स्पष्ट कर दिया है प्रस्तावना भी महत्त्वपूर्ण है इसके लिये मैं उनकी आभारी हूँ।

युगप्रमुख आचार्यश्री के हीरक जयंती वर्ष के उपलक्ष्य में हमें जिनवाणी के प्रसार के लिए एक अपूर्व अवसर प्राप्त हुआ। वर्तमान युग में आचार्यश्री ने समाज व देश के लिए अपना जो त्याग और दया का अनुदान दिया है वह भारत के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा। ग्रन्थ प्रकाशनार्थ हमारे सान्निध्य या नेतृत्व प्रदाता पूज्य उपाध्याय श्री भरतसागरजी महाराज व निर्देशिका जिन्होंने परिश्रम द्वारा ग्रन्थों को खोजकर विशेष सहयोग दिया, ऐसी पूज्या आर्यिका स्याद्वादमती माताजी के लिए मैं शत-शत नमोस्तु-वंदामि अर्पण करती हूँ। साथ ही त्यागीवर्ग, जिन्होंने उचित निर्देशन दिया उनको शत-शत नमन करती हूँ।

ग्रन्थ प्रकाशनार्थ अमूल्य निधि का सहयोग देने वालों की मैं आभारी हूँ तथा यथासमय शुद्ध ग्रन्थ प्रकाशित करने वाले वर्द्धमान मुद्रणालय की भी मैं आभारी हूँ। अन्त में प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप में सभी सहयोगियों के लिए कृतज्ञता व्यक्त करते हुए सत्य जिनशासन की, जिनागम की भविष्य में इसी प्रकार रक्षा करते रहें, ऐसी भावना करती हूँ।

ब्र० प्रभा पाटनी संघस्थ

प्रकाशकीय

इस परमाणु युग में मानव के अस्तित्व की ही नहीं अपितु प्राणिमात्र के अस्तित्व की सुरक्षा की समस्या है। इस समस्या का निदान 'अहिंसा' से किया जा सकता है। अहिंसा जैनधर्म-संस्कृति की मूल आत्मा है। यही जिनवाणी का सार भी है।

तीर्थंकरों के मुख से निकली वाणी को गणधरों ने ग्रहण किया और आचार्यों ने निबद्ध किया जो आज हमें जिनवाणी के रूप में प्राप्त है। इस जिनवाणी का प्रचार-प्रसार इस युग के लिए अत्यन्त उपयोगी है। यही कारण है कि हमारे पूज्य आचार्य, उपाध्याय एवं साधुगण जिनवाणी के स्वाध्याय और प्रचार-प्रसार में लगे हुए हैं।

उन्हीं पूज्य आचार्यों में से एक हैं सन्मार्ग दिवाकर, चारित्रचूड़ामणि परमपूज्य आचार्यवर्य विमलसागरजी महाराज। जिनकी अमृतमयी वाणी प्राणिमात्र के लिए कल्याणकारी है। आचार्यवर्य की हमेशा भावना रहती है कि आज के समय में प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रणीत ग्रन्थों का प्रकाशन हो और मन्दिरों में स्वाध्याय हेतु रखे जाँय जिसे प्रत्येक श्रावक पढ़कर मोहरूपी अन्धकार को नष्ट कर ज्ञानज्योति जला सकें।

जैनधर्म की प्रभावना जिनवाणी के प्रचार-प्रसार सम्पूर्ण विश्व में हो, आर्ष परम्परा की रक्षा हो एवं अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर का शासन निरन्तर अबाधगति से चलता रहे। उक्त भावनाओं को ध्यान में रखकर परमपूज्य ज्ञान-दिवाकर, वाणीभूषण उपाध्यायरत्न भरतसागरजी महाराज एवं आर्यिकारत्न स्याद्वादमती माता जी की प्रेरणा व निर्देशन में परमपूज्य आचार्य विमलसागरजी महाराज की 75वीं जन्म-जयन्ती पर भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद ने 75 ग्रन्थों के प्रकाशन के योजना के साथ ही भारत के विभिन्न नगरों में 75 धार्मिक शिक्षण शिविरों का आयोजन किया जा रहा है और 75 पाठशालाओं की स्थापना भी की जा रही है। इस ज्ञान यज्ञ में पूर्ण सहयोग करने वाले 75 विद्वानों का सम्मान एवं 75 युवा विद्वानों को प्रवचन हेतु तैयार करना तथा 7775 युवा वर्ग से सप्तव्यसन का त्याग करना आदि योजनाएँ इस हीरक जयन्ती वर्ष में पूर्ण की जा रही हैं।

उन विद्वानों का भी आभारी हूँ जिन्होंने ग्रन्थों के प्रकाशन में अनुवादक/सम्पादक एवं संशोधक के रूप में सहयोग दिया है। ग्रन्थों के प्रकाशन में जिन दाताओं ने अर्थ का सहयोग करके अपनी चंचला लक्ष्मी का सदुपयोग कर पुण्यार्जन किया, उनको धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ। ये ग्रन्थ विभिन्न प्रेसों में प्रकाशित हुए। एतदर्थ उन प्रेस संचालकों को भी धन्यवाद देता हूँ। अन्त में उन सभी सहयोगियों का आभारी हूँ जिन्होंने प्रत्यक्ष-परोक्ष में सहयोग किया है।

ब्र० पं० धर्मचन्द शास्त्री

अध्यक्ष, भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्

प्रस्तावना

भारतीय दर्शन में जैनदर्शन की परम्परा

भारतीय दर्शन आस्तिक और नास्तिक दो भागों में विभाजित है। ईश्वर, आत्मा, परलोक आदि को जो मानता है वह आस्तिक और जो इन्हें नहीं मानता है, वह नास्तिक कहा जाता है। इस अपेक्षा विचार करने पर चार्वाक दर्शन को छोड़कर शेष भारतीय दर्शन आस्तिक हैं। चार्वाक चूँकि ईश्वर, आत्मा, परलोकादि को नहीं मानता है, अतः उसे नास्तिक कहकर प्रायः प्रत्येक दर्शन में उसकी आलोचना की गई है। भारतीय दर्शनों में अनेकान्तवाद के कारण जैनदर्शन का विशिष्ट स्थान है। यह परम आस्तिक दर्शन है। जो लोग 'नास्तिको वेदनिन्दकः' कहकर जैनदर्शन को नास्तिक की श्रेणी में लाने की चेष्टा करते हैं, उनकी परिभाषा संकुचित और एकाङ्गी है। जैनदर्शन की परम्परा अनादि है। वर्तमान में यह प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव से प्रवाहित होकर चौबीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीर तक प्रवाहित होती रही। महावीर के प्रथम शिष्य गौतम गणधर ने उसे द्वादशाङ्ग में निबद्ध किया। इन बारह अंगों में से ग्यारह में तो स्वसमय का प्रतिपादन था, किन्तु बारहवें दृष्टिवाद में ३६३ मतों का स्थापनापूर्वक निवारण था। दृष्टिवाद अङ्ग का अधिकांश भाग लुप्त हो गया। फिर भी पूर्व परम्परा से जो कुछ अवशिष्ट रहा, उसी के आधारण न्यायशास्त्र के धुरीणों ने अपना प्रासाद खड़ा किया और तत्कालीन अन्य दार्शनिकों के तर्क-वितर्कों से जबर्दस्त लोहा लिया।

आचार्य कुन्दकुन्द

कुन्दकुन्द विक्रम की प्रथम शताब्दी के आचार्यरत्न माने जाते हैं[1]। जैन परम्परा में भगवान् महावीर और गौतम गणधर के बाद कुन्दकुन्द का नाम लेना मङ्गलकारक माना जाता है[2]। उनके द्वारा प्रणीत ग्रन्थ निम्नलिखित हैं—

१. नियमसार, २. पंचास्तिकाय, ३. प्रवचनसार, ४. समयसार, ५. बारस अणुवेक्खा, ६. दंसण पाहुड, ७. चरित्त पाहुड, ८. सुत्त पाहुड, ९. बोधपाहुड, १०. भावपाहुड, ११. मोक्ख पाहुड, १२. सील पाहुड, १३. लिंग पाहुड, १४.

---

१. डॉ० लालबहादुर शास्त्री : आचार्य कुन्दकुन्द और उनका समयसार पृ० १२१।

२. मङ्गलं भगवान्वीरो मङ्गलं गौतमो गणी।
मङ्गलं कुन्दकुन्दाद्यो जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलम्॥

दसभत्ति संगहो। इनके अतिरिक्त मूलाचार और तिरुक्कुरल भी आचार्य कुन्दकुन्द कृत माने जाते हैं। कहा जाता है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने ८४ पाहुडों की रचना की थी, किन्तु वर्तमान में कुछ ही उपलब्ध हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द ने तत्कालीन विभिन्न दृष्टियों का समन्वय किया है। द्रव्य का आश्रय लेकर उन्होंने सत्कार्यवाद का समर्थन करते हुए कहा है कि द्रव्य दृष्टि से देखा जाय तो भाव वस्तु का कभी नाश नहीं होता और अभाव की उत्पत्ति नहीं होती। इस प्रकार द्रव्य दृष्टि से सत्कार्यवाद का समर्थन करके आचार्य कुन्दकुन्द ने बौद्धसम्मत असत्कार्यवाद का समर्थन करते हुए कहा है—"गुण और पर्यायों में उत्पाद और व्यय होते हैं[1]। अतएव यह मानना पड़ेगा कि पर्याय दृष्टि से सत् का विनाश और असत् की उत्पत्ति होती है[2]।

औपनिषदिक दर्शन, विज्ञानवाद और शून्यवाद में वस्तु का निरूपण दो दृष्टियों से होने लगा था—एक पारमार्थिक दृष्टि और दूसरी व्यावहारिक दृष्टि। तत्त्व का एक रूप पारमार्थिक और दूसरा सांवृतिक वर्णित है। एक भूतार्थ है तो दूसरा अभूतार्थ, एक अलौकिक है तो दूसरा लौकिक, एक शुद्ध है तो दूसरा अशुद्ध, एक सूक्ष्म है तो दूसरा स्थूल। जैन आगम में व्यवहार और निश्चय ये दो नय या दृष्टियाँ क्रमशः स्थूल-लौकिक और सूक्ष्म-तत्त्वग्राही मानी जाती रही हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने आत्मनिरूपण उन्हीं दो दृष्टियों का आश्रय लेकर किया है। आत्मा के पारमार्थिक शुद्ध रूप का वर्णन निश्चयनय के आश्रय से और अशुद्ध या लौकिक-स्थूल आत्मा का वर्णन व्यवहारनय के आश्रय से उन्होंने किया है[3]।

आचार्य कुन्दकुन्द का कथन है कि तत्त्व का वर्णन न निश्चय से हो सकता है, न व्यवहार से; क्योंकि ये दोनों नय अमर्यादित एवं अवाच्य को मर्यादित और वाच्य बनाकर वर्णन करते हैं। अतएव वस्तु का परमशुद्ध स्वरूप तो पक्षातिक्रान्त है, वह न व्यवहारग्राह्य है और न निश्चयग्राह्य। जैसे—जीव को व्यवहार के आश्रय से बद्ध कहा जाता है और निश्चय के आश्रय से अबद्ध कहा जाता है। स्पष्ट है कि जीव में अबद्ध का व्यवहार भी बद्ध की अपेक्षा से हुआ है। अतएव आचार्य ने कह दिया कि वस्तुतः जीव न बद्ध हैं और न अबद्ध, किन्तु पक्षातिक्रान्त है, यही समयसार है, यही परमात्मा है[4]।

---

१. भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो।
गुणपज्जएसु भावा उप्पादवए पकुव्वंति ॥—पंचास्तिकाय-१५

२. पं० दलसुख मालवणिया : आगम युग का जैनदर्शन, पृ० २४१।

३. वही, प० २४७।

४. कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णयपक्खं।
पक्खादिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो ॥—समयसार-१५२

नागार्जुन के शून्यवाद के विरोध में लोगों का तर्क था कि आप जिन वाक्यों और शब्दों से शून्यता का समर्थन कर रहे हैं वे वाक्य या शब्द शून्य हैं या नहीं ? यदि शून्य हैं तो उनसे शून्यवाद का समर्थन कैसे हो सकता है ? यदि शून्य नहीं हैं तो शून्यवाद का सिद्धान्त खण्डित हो जाता है[1]। नागार्जुन इसके उत्तर में कहते हैं कि लोगों को उनकी भाषा में ही समझाना पड़ता है। शून्य जगत् को शून्य भाषा में शून्यवाद का समर्थन करना होगा। म्लेच्छ को समझाने के लिए म्लेच्छ भाषा का ही सहारा लेना पड़ता है। दूसरा कोई उपाय नहीं है—

नान्यया भाषया म्लेच्छः शक्यो ग्राहयितुं यथा।
न लौकिकमृते लोकः शक्यो ग्राहयितुं तथा॥

—माध्यमिक कारिका, पृ० ३७०

आचार्य कुन्दकुन्द के सामने प्रश्न आता है कि यदि परमार्थ से आत्मा में ज्ञान, दर्शन और चारित्र नहीं हैं तो व्यवहार से उनका कथन क्यों किया जाता है ? क्यों नहीं एक परमार्थभूत ही कथन करते हैं[2]। आचार्य कुन्दकुन्द का उत्तर है—

जह णवि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा उ गाहेउं।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवदेसणमसक्कं॥

—समयसार-८

जिस प्रकार अनार्य को अनार्य भाषा के बिना नहीं समझाया जा सकता, उसी प्रकार व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश शक्य नहीं है। आचार्य कुन्दकुन्द ने खड़िया का दृष्टान्त देते हुए कहा है कि जैसे खड़िया निश्चय से दीवाल से भिन्न है, व्यवहार से कहा जाता है कि खड़िया दीवाल को सफेद करती है, इसी प्रकार निश्चयदृष्टि से ज्ञायक आत्मा सहज ज्ञायक है, परद्रव्य को जानता है, इसलिए ज्ञायक नहीं है। व्यवहार दृष्टि से ज्ञायक अपने स्वभाव के द्वारा परद्रव्य को

दोण्णवि णयाण भणियं जाणइ णवरं तु समयपडिबद्धो।
ण दुणयपक्खं गिण्हदि किं चि वि णयपक्खपरिहीणो॥

—समयसार-१५३

१. शून्यता सर्वदृष्टीनां प्रोक्ता निःसरणं जिनैः।
येषां तु शून्यतादृष्टिस्तानसाध्यान् बभाषिरे॥
शून्यमिति व वक्तव्यमशून्यमिति वा भवेत्।
उभयं नोभयं चेति प्रज्ञप्त्यर्थं तु कथ्यते॥

—माध्यमिक कारिका १३/८, २२/११

२. कुन्दकुन्द और उनका समयसार, पृ० २१३-२१४।

जानता है। इस प्रकार सर्वज्ञ निश्चयदृष्टि से आत्मज्ञ और व्यवहारदृष्टि से सर्वज्ञ है।[1] समयसार की जयसेनाचार्य कृत टीका में बौद्धों की ओर से कहा गया है कि बुद्ध भी व्यवहार से सर्वज्ञ हैं, उन्हें दूषण क्यों देते हो? इसका परिहार करते हुए कहा गया है कि सौगत आदि के मत में जैसे निश्चयनय की अपेक्षा व्यवहार सत्य नहीं है, वैसे ही व्यवहार से भी व्यवहार इनके यहाँ मिथ्या ही है, किन्तु जैनमत में तो व्यवहारनय यद्यपि निश्चयनय की अपेक्षा मिथ्या है, किन्तु व्यवहार रूप में तो सत्य ही है। यदि लोकव्यवहार रूप में भी सत्य न हो तो फिर सारा लोकव्यवहार मिथ्या हो जाय, ऐसा होने पर कोई व्यवस्था न बने। इसलिए उपर्युक्त कथन ठीक ही है कि परद्रव्य को तो आत्मा व्यवहार से जानता, देखता है, किन्तु निश्चय से अपने आपको देखता जानता है।[2]

गृद्धपिच्छ उमास्वामि

जैन परम्परा में संस्कृत में सर्वप्रथम सूत्र ग्रन्थ लिखने वालों में गृद्धपिच्छाचार्य उमास्वामि का नाम अग्रणी है। दस अध्यायों में लिखित इस ग्रन्थ में तत्त्वार्थ का विवेचन हुआ है। इसकी महत्ता इसी से स्पष्ट है कि परवर्ती आचार्यों ने इस पर बड़ी-बड़ी गम्भीर और विशद टीकायें लिखीं और यह ग्रन्थ जैनधर्म के प्रारम्भिक जिज्ञासुओं से लेकर बड़े-बड़े आचार्यों तक को समानरूप से उपयोगी है। यह जैनों की उभय परम्परा दिगम्बर और श्वेताम्बर में मान्य है। इसके कर्त्ता आचार्य कुन्दकुन्द के शिष्य कहे जाते हैं। इसमें प्रमाण और नयों की चर्चा हुई है। यहाँ कहा गया है कि 'प्रमाणनयैरधिगमः' अर्थात् प्रमाण और नयों के द्वारा पदार्थों का यथार्थ ज्ञान होता है। प्रमाण के यहाँ मति आदि पाँच भेद तथा प्रमाणाभास के कुमति, कुश्रुत और कुअवधि कहे गए हैं। यहाँ मति और श्रुत को परोक्ष तथा शेष तीन को प्रत्यक्ष कहा गया है। अनुमानप्रयोग के तीन अवयवों पक्ष, हेतु और उदाहरण का यहाँ प्रयोग किया गया है। जैसे—

मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च (पक्ष)
सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेः। (हेतु)
उन्मत्तवत्। (उदाहरण) तत्त्वार्थसूत्र १/३१, ३२
असंख्येयभागादिषु जीवानाम् (पक्ष)
प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां (हेतु)
प्रदीपवत् (उदाहरण) त. सू. ५/१५, १६

---

१. समयसार ३८५-३९४, जयसेन टीका, पृ० ३२१।
२. वही, पृ० ३२१।

तत्त्वार्थसूत्र में अर्पित (मुख्य) और अनर्पित विवक्षा से वस्तुतत्त्व की सिद्धि की गई है। इस प्रकार इस ग्रन्थ में न्यायशास्त्र के बीज विद्यमान हैं[1]।

आचार्य समन्तभद्र

आचार्य श्री जुगलकिशोर मुख्तार[2] ने समन्तभद्र के साहित्य का गम्भीर आलोडन कर उनका समय विक्रम की द्वितीय शती माना है। इनके मत का समर्थन डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन ने अनेक युक्तियों से किया है। उन्होंने लिखा है—स्वामी समन्तभद्र का समय १२०–१८५ ई० निर्णीत होता है और यह सिद्ध होता है कि उनका जन्म पूर्वतटवर्ती नागराज्य संघ के अन्तर्गत उरगपुर (वर्तमान त्रिचनापल्ली) के नागवंशी चोलनरेश कीलिकवर्मन् के कनिष्ठ पुत्र एवं उत्तराधिकारी सर्ववर्मन (शेषनाग) के अनुज राजकुमार शान्तिवर्मन के रूप में सम्भवतया ई० सन् १२० के लगभग हुआ था। सन् १३८ ई० शक सं० ६० में उन्होंने मुनिदीक्षा ली और १८५ ई० के लगभग स्वर्गस्थ हुए।[3] समन्तभद्र द्वारा प्रणीत रचनायें निम्नलिखित मानी जाती हैं—

१. बृहत् स्वयम्भूस्तोत्र, २. स्तुति विद्या–जिनशतक, ३. देवागम स्तोत्र-आप्तमीमांसा, ४. युक्त्यनुशासन, ५. रत्नकरण्डश्रावकाचार, ६. जीवसिद्धि, ७. प्रमाण पदार्थ, ८. तत्त्वानुशासन, ९. प्राकृत व्याकरण १०. कर्म प्राभृत टीका, ११. गन्धहस्ति महाभाष्य।

स्वामी समन्तभद्र स्तुतिकार थे। बाद के कुछ ग्रन्थकारों ने इसी विशेषण के साथ उनका उल्लेख किया है। अपने इष्टदेव की स्तुति के व्याज से उन्होंने एक ओर हेतुवाद के आधार पर सर्वज्ञ की सिद्धि की, दूसरी ओर विविध एकान्तवादों की समीक्षा करके अनेकान्तवाद की प्रतिष्ठा की। उन्होंने जैन परम्परा में सम्भवतया सर्वप्रथम न्यायशास्त्र शब्द का प्रयोग करके एक ओर न्याय को स्थान दिया तो दूसरी ओर न्यायशास्त्र में स्याद्वाद को गुंफित किया।[4] उन्होंने अनेकान्त में अनेकान्त की योजना बतलाई। प्रमाण का दार्शनिक लक्षण और फल बताया,

---

१. विशेष जानकारी हेतु डॉ० दरबारीलाल कोठिया का लेख 'तत्त्वार्थसूत्र में न्यायशास्त्र के बीज' देखिए (पण्डित बाबूलाल जैन जमादार अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० १२०)।

२. रत्नकरण्डश्रावकाचार (माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला) स्वामी समन्तभद्र शीर्षक प्रबन्ध तथा अनेकान्त वर्ष १४, किरण १, पृ० ३–८।

३. अनेकान्त वर्ष १४, किरण ११–१२, पृ० ३२४।
तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, पृ० १८४ (भाग–२)।

४. पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री : जैन न्याय, पृ० ८।

स्याद्वाद की परिभाषा स्थिर की। श्रुत प्रमाण को स्याद्वाद और विशकलित अंशों का नय बतलाया एवं सुनय तथा दुर्नय की व्यवस्था की[1]। समन्तभद्र की आप्त-मीमांसा पर अकलङ्कदेव ने अष्टशती तथा विद्यानन्द ने अष्टसहस्री की रचना की। वसुनन्दि प्रभृति टीकाकारों ने श्री समन्तभद्र के ग्रन्थों के हार्द को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।

सिद्धसेन

विद्वानों ने अनेक प्रमाणों के आधार पर सन्मतिसूत्र के कर्ता सिद्धसेन के समय निर्धारण का प्रयत्न किया है, तदनुसार उनका समय पूज्यपाद (विक्रम की छठी शती) और अकलंक (वि. की ७वीं शती) का मध्यकाल अर्थात् वि० सं० ६२५ के आस पास माना जाता है। सिद्धसेन नाम के एक से अधिक आचार्य हुए हैं। सन्मतिसूत्र और कल्याणमन्दिर जैसे ग्रन्थों के रचयिता सिद्धसेन दिगम्बर सम्प्रदाय में हुए हैं। इनके साथ दिवाकर विशेषण नहीं है। दिवाकर विशेषण श्वेताम्बर सम्प्रदाय में हुए सिद्धसेन के साथ पाया जाता है, जिनकी कुछ द्वात्रिंशिकायें, न्यायावतार आदि रचनायें हैं। इनका समय सन्मतिसूत्र के कर्ता सिद्धसेन से भिन्न है। प्रो. सुखलाल संघवी ने दोनों को एक मानकर उनका काल विक्रम की पाँचवीं शताब्दी माना है।

जैन साहित्य के क्षेत्र में दिग्नाग जैसे प्रतिभा सम्पन्न विद्वान् की आवश्यकता ने ही प्रतिभामूर्ति सिद्धसेन को उत्पन्न किया है। आचार्य सिद्धसेन का समय विभिन्न दार्शनिकों के बाद विवाद का समय था। उनकी दृष्टि में अनेकान्तवाद की स्थापना का यह श्रेष्ठ अवसर था, अतः उन्होंने सन्मतितर्क की रचना की। उनकी विशेषता यह है कि उन्होंने तत्कालीन नानावादों को सन्मतितर्क में विभिन्न नयवादों में सन्निविष्ट कर दिया। अद्वैतवादों को उन्होंने द्रव्यार्थिकनय के संग्रहनय रूप प्रभेद में समाविष्ट किया। क्षणिकवादी बौद्धों की दृष्टि को सिद्धसेन ने पर्यायनयान्तर्गत ऋजुसूत्रनयानुसारी बताया। सांख्य दृष्टि का समावेश द्रव्यार्थिकनय में किया और काणाददर्शन को उभयनयाश्रित सिद्ध किया।[2] उनका तो यहाँ तक कहना है कि संसार में जितने वचन प्रकार हो सकते हैं, जितने दर्शन एवं नाना मतवाद हो सकते हैं, उतने ही नयवाद हैं, उन सबका समागम ही अनेकान्तवाद है।[3] सांख्य की दृष्टि संग्रहावलम्बी है, अभेदगामी है।

१. पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री : जैन न्याय, पृ० ९–१०।

२. पं० दलसुख मालवणिया : आगम युग का जैनदर्शन, पृ० २७३।

३. जावइया णयवहा तावइया चेव होंति णयवाया।
जावइया णयवाया तावइया चेव होंति परसमया॥

अतएव वह वस्तु को नित्य कहे, यह स्वाभाविक है, उसकी वही मर्यादा है और बौद्ध पर्यायानुगामी या भेददृष्टि होने से वस्तु को क्षणिक या अनित्य कहे, यह भी स्वाभाविक है, उसकी वही मर्यादा है, किन्तु वस्तु का सम्पूर्ण दर्शन न तो केवल द्रव्यदृष्टि में पर्यवसित है और न पर्यायदृष्टि में, अतएव सांख्य या बौद्ध को परस्पर मिथ्यावादी कहने का स्वातन्त्र्य नहीं।[1]

पात्रकेसरी

स्वामी पात्रकेसरी के समय की सीमा विक्रम की नवम शताब्दी से पूर्व निश्चित रूप से सिद्ध होती है, क्योंकि महापुराण के प्रारम्भ में जिनसेनाचार्य ने उनका उल्लेख किया है। दिङ्नाग के त्रैरूप्य के हेतु लक्षण का खण्डन करने के लिए उन्होंने त्रिलक्षण कदर्थन नामक ग्रन्थ लिखा, अतः पात्रकेसरी दिङ्नाग (ईसा की पाँचवीं शताब्दी) के पश्चात् होने चाहिए। त्रिलक्षण कदर्थन विषयक उनका श्लोक निम्नलिखित है—

अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्॥

बौद्ध दार्शनिक शान्तरक्षित ने 'तत्त्वसंग्रह' के अनुमान परीक्षा नामक प्रकरण में पात्रकेसरी के "त्रिलक्षणकदर्थन" नामक ग्रन्थ से कारिकायें उद्धृत करके उनकी आलोचना की है। अकलंकदेव भी शान्तरक्षित के पूर्व समकालीन थे, अतः उन्होंने भी उस ग्रन्थ को देखा होगा, अतः न्यायशास्त्र के मुख्य अंग हेतु आदि के लक्षण का उपपादन अवश्य ही पात्रकेसरी की देन है[2]।

मल्लवादी

विजयसिंह सूरि प्रबन्ध में एक गाथा में लिखा है कि वीर सं० ८८४ में मल्लवादी ने बौद्धों को हराया। अर्थात् विक्रम सं० ४१४ में यह घटना घटी। इससे यह अनुमान होता है कि विक्रम सं० ४१४ में मल्लवादी विद्यमान थे। आचार्य सिंहगणि जो नयचक्र के टीकाकार हैं, अपोहवाद के समर्थक बौद्ध विद्वानों के लिए अद्यतन बौद्ध विशेषण का प्रयोग करते हैं। उससे सूचित होता है कि दिङ्नाग जैसे बौद्ध विद्वान् न केवल मल्लवादी के अपितु सिंहगणि के भी

जं काविलं दरिसणं एयं दव्वट्ठियस्य वत्तव्वं।
सुद्धोअण तणअस्स उ परिसुद्धो पज्जवविअप्पो॥
दोहिं वि णयेहिं णीयं सत्थमुलूएण तहवि मिच्छत्तं।
जं सविसअप्पहाणत्तणेण अण्णोण्णणिरवेक्खा॥—सन्मति तर्क ३/४७-४९

१. वही, १/१०–१२।

२. पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री : जैन न्याय, पृ० २३-२४।

समकालीन हैं। समकालीन होते हुए भी मल्लवादी वृद्ध हैं और दिङ्नाग युवा हैं।[१]

मल्लवादी की सन्मतितर्क टीका महत्त्वपूर्ण है। यह टीका इस समय अनुपलब्ध है। उनका प्रसिद्ध एवं श्रेष्ठ ग्रन्थ नयचक्र है। आज तक के ग्रन्थों में यह एक अद्भुत ग्रन्थ है। तत्कालीन सभी वादों को सामने रखते हुए उन्होंने एक वाद चक्र बनाया। उस चक्र का उत्तर उत्तरवाद पूर्व पूर्ववाद का खण्डन करके अपने-अपने पक्ष को प्रबल प्रमाणित करता है। प्रत्येक पूर्ववाद अपने को सर्वश्रेष्ठ एवं निर्दोष समझता है। वह यह सोचता ही नहीं कि उत्तरवाद मेरा भी खण्डन कर सकता है। इतने में तुरन्त उत्तरवाद आता है और पूर्ववाद को पछाड़ देता है। अन्तिम वाद पुनः प्रथम वाद से पराजित होता है। अन्त में कोई भी वाद अपराजित नहीं रह जाता। अनेकान्त दृष्टि का आश्रय लेने से सभी वाद सुरक्षित रह सकते हैं। अनेकान्तवाद के अनुसार समन्वय में सभी वादों को उचित स्थान प्राप्त हो जाता है। कोई भी वाद बहिष्कृत घोषित नहीं किया जाता[२]।

भट्टाकलंक

भट्ट अकलंक प्राचीन भारत के अद्भुत विद्वान् तथा लोकोत्तर विवेचक ग्रन्थकार एवं जैन वाङ्मय रूपी नक्षत्र लोक के सबसे अधिक प्रकाशमान तारे हैं[3]। अकलंक ने न्याय प्रमाण शास्त्र का जैन परम्परा में जो प्राथमिक निर्माण किया, जो परिभाषायें, जो लक्षण व परीक्षण किया, जो प्रमाण, प्रमेय आदि का वर्गीकरण किया और परार्थानुमान तथा वाद, कथा आदि परमत प्रसिद्ध वस्तुओं के सम्बन्ध में जो जैन प्रणाली स्थिर की, संक्षेप में जैन परम्परा में नहीं, पर अन्य परम्पराओं में प्रसिद्ध तर्कशास्त्र के अनेक पदार्थों को जैन दृष्टि से जैन परम्परा में जो सात्मीभाव किया तथा आगमसिद्ध अपने मन्तव्यों को जिस तरह दार्शनिकों के सामने रखने योग्य बनाया, वह सब छोटे-छोटे ग्रन्थों में विद्यमान उनके असाधारण व्यक्तित्व का तथा न्याय प्रमाण स्थापना युग का द्योतक है।[४]

अकलंकदेव का समय ई० ७२०-७८० सिद्ध होता है[५]। उनके ग्रन्थों में

---

१. पं० दलसुख मालवणिया : आगम युग का जैनदर्शन, पृ० २९६-२९७।
२. डॉ० मोहनलाल मेहता : जैनदर्शन, पृ० १०२-१०३।
३. न्यायविनिश्चयविवरण, भाग २ (सात कौड़ी मुखोपाध्याय लिखित प्राक्कथन)
४. पं० सुखलाल संघवी : दर्शन और चिन्तन, पृ० ३६५।
५. सिद्धिविनिश्चय टीका, प्र० भाग (पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य लिखित प्रस्तावना), पृ० १५।

बौद्ध आचार्य धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकरगुप्त, धर्माकरदत्त (अर्चट), शान्तभद्र, धर्मोत्तर, कर्णकगोमि तथा शान्तरक्षित के ग्रन्थों का उल्लेख या प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।[1] अकलंक जैन न्याय के प्रतिष्ठाता माने जाते हैं। उनके पश्चात् जो जैन ग्रन्थकार हुए उन्होंने अपनी न्याय विषयक रचनाओं में अकलंकदेव का ही अनुसरण करते हुए जैन न्याय विषयक साहित्यश्री की श्रीवृद्धि की और जो बातें अकलंकदेव ने अपने प्रकरण में सूत्र रूप में कही थीं, उनका उपपादन तथा विश्लेषण करते हुए दर्शनान्तरों के विविध मन्तव्यों की समीक्षा में वृहत्काय ग्रन्थ रचे, जिससे जैन न्यायरूपी वृक्ष पल्लवित और पुष्पित हुआ[2]। अकलंकदेव की रचनायें निम्नलिखित हैं—

तत्त्वार्थवार्तिक—यह गृद्धपिच्छाचार्य उमास्वामि के तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ पर उद्योतकरके न्यायवार्तिक की शैली में लिखा गया प्रथम वार्तिक है। पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का बहुभाग इसमें मूलवार्तिक का रूप पा गया है।

अष्टशती—यह समन्तभद्रकृत देवागम स्तोत्र की संक्षिप्त वृत्ति है। गहनता, संक्षिप्तता तथा अर्थगाम्भीर्य में इसकी समानता करने योग्य कोई दूसरा ग्रन्थ दार्शनिक क्षेत्र में दृष्टिगोचर नहीं होता। अष्टशती में उन सब विषयों पर तो प्रकाश डाला ही गया है, जो आप्तमीमांसा में उल्लिखित हैं। किन्तु इनके अतिरिक्त इसमें नए विषयों का भी समावेश किया है। इसमें सर्वज्ञ को न मानने वाले मीमांसक और चार्वाक के साथ-साथ सर्वज्ञविशेष में विवाद करने वाले बौद्धों की भी आलोचना की गयी है। सर्वज्ञ साधक अनुमान का समर्थन करते हुए उन पक्षदोषों और हेतुदोषों का उद्भावन करके खण्डन किया गया है, जिन्हें दिङ्नाग आदि बौद्ध नैयायिकों ने माना है। इच्छा के बिना वचन की उत्पत्ति, बौद्धों के प्रति तर्क प्रमाण की सिद्धि, धर्मकीर्ति द्वारा अभिमत निग्रह स्थान की आलोचना, स्वलक्षण को अनिर्देश्य मानने की आलोचना, स्वलक्षण में अनभिलाप्यत्व की सिद्धि आदि नूतन विषयों पर अष्टशती में अच्छा प्रकाश डाला गया है।[3]

लघीयस्त्रय सविवृत्ति—यह ग्रन्थ प्रमाणप्रवेश, नयप्रवेश और प्रवचनप्रवेश इन छोटे-छोटे तीन प्रकरणों का संग्रह है। लघीयस्त्रय सविवृत्ति की प्रतियों में इसके प्रमाणप्रवेश और नयप्रवेश को एक ग्रन्थ के रूप में माना है तथा प्रवचन-

१. सिद्धिविनिश्चय टीका, प्र० भाग (पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य लिखित प्रस्तावना), पृ० २१-३६।

२. जैन न्याय, पृ० ३५।

३. प्रो० उदयचन्द्र जैन : आप्तमीमांसा तत्त्वदीपिका, पृ० ४५ (प्रस्तावना)।

प्रवेश को पृथक्; क्योंकि उसमें पृथक् मंगलाचरण किया गया है और नयप्रवेश के विषयों को दुहराया है। इससे ज्ञात होता है कि अकलंकदेव ने प्रथम दिङ्नाग के न्यायप्रवेश की जैन न्याय में प्रवेश कराने के लिए प्रमाणनयप्रवेश बनाया था। पीछे या तो स्वयं अकलंकदेव ने या अनन्तवीर्य ने तीनों प्रकरणों की लघीयस्त्रय संज्ञा रखी[1]।

न्यायविनिश्चय—धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक की तरह न्यायविनिश्चय की रचना गद्यपद्यमय रही है। वादिराजसूरि ने इस पर न्यायविनिश्चय विवरण टीका बनाई। जिसके आधार पर न्यायविनिश्चय के पद्यभाग की पुनः स्थापना तो की गई। किन्तु गद्यभाग के संकलन का साधन न होने से वह कार्य सम्पन्न न हो सका। न्यायविनिश्चय प्रमाणवाद तथा तर्कशास्त्र का ग्रन्थ है। इसमें प्रधान बौद्ध आचार्य धर्मकीर्ति तथा उनके अनुगामी विद्वानों द्वारा प्रतिपादित तर्कसिद्धान्तों का प्रामाणिक वर्णन और विस्तृत समीक्षा है। यह अपनी व्यापक विवेचकता तथा अद्भुत युक्तिवाद के लिए ख्यात भारतीय तर्कशास्त्र का विश्वकोष है।[2]

सिद्धिविनिश्चय—सिद्धिविनिश्चय मूलश्लोक तथा उसकी वृत्ति दोनों अकलंककर्तृक हैं। इसके गद्य और पद्य दोनों अकलंकदेव के नाम से उद्धृत हैं। सिद्धिविनिश्चय में १२ प्रस्ताव हैं। इसमें प्रमाण, प्रमेय, नय और निक्षेप का विवेचन है। इसमें बौद्धों की प्रमाणमीमांसा, सन्तानवाद, निर्वाण तथा क्षणिकवाद इत्यादि विषयों की प्रकरणानुसार समीक्षा प्राप्त होती है।

प्रमाणसंग्रह—यह अकलङ्कदेव की अन्तिम कृति है। इसमें प्रमाण और प्रमेय का वर्णन प्रौढ़शैली से किया गया है। अकलङ्कदेव का नाम बौद्ध आचार्य धर्मकीर्ति से जुड़ा हुआ है। अकलङ्क ने धर्मकीर्ति की शैली, भावना और विधि का पूरी तरह अनुसरण किया है। उन्होंने धर्मकीर्ति की केवल मौलिक कृतियों का ही अध्ययन नहीं किया, अपितु उन पर लिखी हुई सभी व्याख्याओं का अध्ययन किया। यह उन शब्दों से बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है, जो उन्होंने धर्मकीर्ति की कृतियों और व्याख्याओं से उद्धृत किए हैं।

अकलंक ने धर्मकीर्ति के सम्पूर्ण वाक्य को कभी ज्यों का त्यों तथा कभी मामूली परिवर्तनों के साथ ले लिया है। बहुत बार उन्होंने धर्मकीर्ति के ही वाक्यों को उन्हीं के खण्डन के लिए लिया है, परन्तु धर्मकीर्ति के नाम का उल्लेख

---

१. सिद्धिविनिश्चय (प्र० भाग) प्रस्तावना, पृ० ५७।

२. न्यायविनिश्चयविवरण (भाग-२), प्रस्तावना—सातकौड़ी उपाध्याय।

नहीं किया। उनकी सामान्य शैली है—धर्मकीर्ति के विचारों को पहले प्रस्तुत करना, अनन्तर उसका खण्डन करना। इससे स्पष्ट द्योतित होता है कि अकलंक की कृतियों का उद्देश्य लगातार जैन सिद्धान्तों को बौद्ध तथा विशेष रूप से धर्मकीर्ति के प्रहारों से बचाना था। शैली में भी अकलंक ने धर्मकीर्ति का अनुसरण किया है; क्योंकि धर्मकीर्ति की भाँति अकलंक भी समझने में कठिन, सुव्यवस्थित, ठोस और संक्षिप्त शैली का प्रयोग करते हैं[1]। इस प्रकार जैन न्याय के विकास में अकलङ्क का योग अप्रतिम है।

हरिभद्रसूरि

आचार्य हरिभद्र बहुश्रुत विद्वान् थे। उन्होंने आगम, आचार, योग, कथा, ज्योतिष, दर्शन इत्यादि अनेक विधाओं पर साहित्य रचना की। उनकी दार्शनिक कृतियाँ निम्नलिखित हैं[2]—

१. अनेकान्तजय पताका, २. अनेकान्तवाद प्रवेश, ३. अनेकान्तसिद्धि, ४. आत्मसिद्धि, ५. तत्त्वार्थसूत्र लघुवृत्ति, ६. द्विजवदनचपेटा, ७. धर्मसंग्रहणी (प्राकृत), ८. न्याय प्रवेश टीका, ९. न्यायावतारवृत्ति, १०. लोकतत्त्वनिर्णय, ११. शास्त्रवार्ता समुच्चय, १२. षड्दर्शन समुच्चय, १३. सर्वज्ञसिद्धि, १४. स्याद्वाद कुचोद्य परिहार।

हरिभद्र की यह विशेषता है कि उन्होंने अपने प्रतिपक्षी के प्रति जैसी हार्दिक बहुमानवृत्ति प्रदर्शित की है, वैसी दार्शनिक क्षेत्र में दूसरे किसी विद्वान् ने, कम से कम उनके समय तक तो प्रदर्शित नहीं की[3]। शान्तरक्षित ने भिन्न-भिन्न स्थानों पर जैन मन्तव्यों की परीक्षा की है तो हरिभद्र ने बौद्ध मन्तव्यों की, परन्तु दोनों के दृष्टिकोण भिन्न हैं। शान्तरक्षित मात्र खण्डनपटु हैं, किन्तु हरिभद्र तो विरोधी मत की समीक्षा करने पर भी जहाँ तक सम्भव हो कुछ सार निकालकर उस मत के पुरस्कर्ता के प्रति सम्मानवृत्ति भी प्रदर्शित करते हैं। क्षणिकवाद, विज्ञानवाद और शून्यवाद इन तीन बौद्ध वादों की समीक्षा करने पर भी हरिभद्र इन वादों के प्रेरक दृष्टि बिन्दुओं को अपेक्षा विशेष से न्याय्य स्थान देते हैं और स्वसम्प्रदाय के पुरस्कर्ता ऋषभ, महावीर आदि का जिन विशेषणों से वे निर्देश करते हैं, वैसे ही विशेषणों से उन्होंने बुद्ध का भी निर्देश किया है और कहा है कि बुद्ध

---

१. Nagin J. Shah : Akalanka's Critieism of Dharmakirti's Philosophy, p. 39.

२. पं० सुखलाल संघवी : समदर्शी आचार्य हरिभद्र, पृ० १०९।

३. पं० सुखलाल संघवी : समदर्शी आचार्य हरिभद्र, पृ० १०९।

जैसे महामुनि एवं अर्हत् की देशना अर्थहीन नहीं हो सकती[1]। ऐसा कहकर उन्होंने सूचित किया है कि क्षणिकत्व की एकांगी देशना आसक्ति की निवृत्ति के लिए ही हो सकती है[2]। इसी भाँति बाह्य पदार्थों में आसक्ति रखने वाले आध्यात्मिक तत्त्व से नितान्त पराङ्मुख अधिकारियों को उद्दिष्ट करके ही बुद्ध ने विज्ञानवाद का उपदेश दिया है तथा शून्यवाद का उपदेश भी उन्होंने जिज्ञासु अधिकारी विशेष को लक्ष्य में रखकर ही दिया है, ऐसा मानना चाहिए[3]। इस प्रकार के अनेक प्रसङ्ग हैं, जिनमें हरिभद्र की अपनी विशिष्ट दृष्टि की झलक मिलती है।

विद्यानन्द

आचार्य विद्यानन्द ई० ७७० से ८४० के विद्वान् माने जाते हैं[4]। उन्होंने इतरदार्शनिकों के साथ-साथ नागार्जुन, वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर तथा धर्मोत्तर इन बौद्ध दार्शनिकों के ग्रन्थों का सर्वाङ्गीण अभ्यास किया था। इसके साथ ही साथ जैन दार्शनिक तथा आगमिक साहित्य भी उन्हें विपुल मात्रा में प्राप्त हुआ था[5]। उनके द्वारा रचित ग्रन्थ निम्नलिखित हैं—

१. विद्यानन्द महोदय २. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक ३. अष्टसहस्री ४. युक्त्यनुशासनालङ्कार ५. आप्तपरीक्षा ६. प्रमाणपरीक्षा ७. पत्रपरीक्षा ८. सत्यशासन परीक्षा ९. श्रीपुरपार्श्वनाथ स्तोत्र।

विद्यानन्द महोदय सम्प्रति अनुपलब्ध है। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक की रचना तत्त्वार्थसूत्र पर भाष्य के रूप में मीमांसा श्लोकवार्तिक के अनुकरण पर की गयी। भट्टाकलङ्क की अष्टशती के गूढ़ रहस्य को समझने के लिए अष्टसहस्री की रचना की गयी। इसके गौरव को आचार्य विद्यानन्द ने स्वयं इन शब्दों में व्यक्त किया है—हजार शास्त्रों के सुनने से क्या लाभ है। केवल इस अष्टसहस्री को सुन लीजिए। इतने से ही स्वसिद्धान्त और परसिद्धान्त का ज्ञान हो जायगा[6]। युक्त्यनुशासनालङ्कार आचार्य समन्तभद्र के युक्त्यनुशासन की टीका है। आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा और सत्यशासन परीक्षा परीक्षान्त ग्रन्थ हैं, जो दिङ्नाग

---

१. न चैतदपि न्याय्यं यतो बुद्धो महामुनिः।
सुवैद्यवद्भिना कार्यं द्रव्यासत्यं न भोषते ॥—शास्त्रवार्तासमुच्चय-४६६

२. वही, ४६५। ३. वही, ४७६।

४. प्रमाण परीक्षा (प्रस्तावना), पृ० १११।

५. आप्तमीमांसा तत्त्वदीपिका (प्रस्तावना) पृ० ५४।

६. श्रोतव्याष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्र संख्यानैः।
विज्ञायेत यमैव स्वसमयपरसमय सद्भावः ॥—अष्टसहस्री पृ० १५७

की आलंबन परीक्षा और त्रिकाल परीक्षा, धर्मकीर्ति की सम्बन्ध परीक्षा, धर्मोत्तर की प्रमाण परीक्षा व लघुप्रमाण परीक्षा तथा कल्याणरक्षित की श्रुतिपरीक्षा जैसे परीक्षान्त ग्रन्थों को याद दिलाते हैं[1]। विद्यानन्द को परीक्षान्त नाम रखने में इनसे प्रेरणा मिली हो, इसमें आश्चर्य नहीं। पहले शास्त्रार्थों में जो पत्र दिए जाते थे, उनमें क्रियापद गूढ़ रहते थे, जिनका आशय समझना कठिन होता था। उसी के विवेचन के लिए विद्यानन्द ने पत्रपरीक्षा नामक एक छोटे से प्रकरण की रचना की थी। जैन परम्परा में इस विषय की सम्भवतया यह प्रथम और अन्तिम रचना है[2]। श्रीपुर पार्श्वनाथ स्तोत्र की रचना अतिशय क्षेत्र श्रीपुर के पार्श्वनाथ के प्रतिबिम्ब को लक्ष्य में रखकर की गई है।

अष्टसहस्री की अन्तिम प्रशस्ति में बताया है कि कुमारसेन की युक्तियों के वर्द्धनार्थ यह रचना लिखी जा रही है[3]। इससे ध्वनित होता है कि कुमारसेन ने आप्तमीमांसा पर कोई विवृति या विवरण लिखा होगा, जिसका स्पष्टीकरण विद्यानन्द ने किया है। निश्चयतः कुमारसेन इनके पूर्ववर्ती हैं। कुमारसेन का समय ई० सन् ७८३ के पूर्व माना गया है[4]।

अनन्तकीर्ति

आचार्य अनन्तकीर्ति रचित लघुसर्वज्ञसिद्धि और बृहत् सर्वज्ञ सिद्धि नाम के दो प्रकरण लघीयस्त्रयादि संग्रह में छपे हैं। उनके अध्ययन से प्रकट होता है कि वे एक प्रख्यात दार्शनिक थे। उन्होंने इन प्रकरणों में वेदों के अपौरुषेयत्व का खण्डन करके आगम की प्रमाणता में सर्वज्ञ प्रणीतता को ही कारण सिद्ध किया है। इन्होंने सर्वज्ञता के पूर्व पक्ष में जो पद्य उद्धृत किए हैं, उनमें कुछ मीमांसा श्लोकवार्तिक के, कुछ प्रमाणवार्तिक के और कुछ तत्त्वसंग्रह के हैं। प्रभाचन्द्र ने न्यायकुमुदचन्द्र और प्रमेयकमलमार्त्तण्ड के सर्वज्ञ साधक प्रकरणों में अनन्तकीर्ति की बृहत्सर्वज्ञसिद्धि का शब्दपरक अनुसरण किया है[5]।

---

१. प्रमाण परीक्षा डॉ० दरबारीलाल कोठिया द्वारा लिखित प्रस्तावना, पृ० १।

२. जैन न्याय, पृ० ३७।

३. वीरसेनाख्य मोक्षे चारुगुणाऽनर्घ्यरत्नसिन्धुगिरि संततम्।
सारतरात्मध्याने भारमदाम्भोदपवनगिरि गह्वरायितुं॥
कष्टसहस्री सिद्धा साष्टसहस्रीयमत्र मे पुष्यात्।
शश्वदभीष्टसहस्री कुमारसेनोक्ति वर्द्धमानार्था॥

४. डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री : भगवान महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, पृ० ३५१ (भाग-२)।

५. जैन न्याय, पृ० ३८।

आचार्य माणिक्यनन्दि

आचार्य माणिक्यनन्दि नन्दि संघ के प्रमुख आचार्य थे। टिप्पणकार ने उन्हें धारानगरी का निवासी बतलाया है—

'धारानगरीनिवासिनः श्रीमन्माणिक्यनन्दिभट्टारकदेवाः परीक्षामुखाख्यं प्रकरणमारचयाम्बभूवुः।'

माणिक्यनन्दि अकलङ्क (७२०-७८० ई०) के बाद हुए, यह बात सुनिश्चित है; क्योंकि प्रमेयरत्नमाला के रचयिता ने उन्हें अकलङ्कदेव का उत्तरवर्ती बतलाया है—

अकलङ्कवचनाम्भोधेरुद्दधे येन धीमता।
न्यायविद्यामृतं तस्मै नमो माणिक्यनन्दिने॥ प्रमेयरत्नमाला—२

अर्थात् जिस बुद्धिमान् ने अकलंकदेव के वचन रूप समुद्र से न्यायविद्या रूप अमृत का उद्धार किया, उस माणिक्यनन्दि नामक आचार्य के लिए हमारा नमस्कार हो॥ २॥

अकलङ्कदेव के ग्रन्थों और माणिक्यनन्दि के परीक्षामुख सूत्र की तुलना करने पर स्पष्ट द्योतित होता है कि माणिक्यनन्दि ने अकलङ्कदेव के ग्रन्थों का अनुशीलन किया था।

अकलङ्कदेव ने प्रमाण को अनधिगतार्थग्राही लिखा है—

प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम् अनधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वात्।

(अष्टशती, अष्टसहस्री, पृ० १७५)

माणिक्यनन्दि ने अनधिगतार्थाधिगम को ही ध्यान में रखकर अपने प्रमाण लक्षण में अपूर्व पद को स्थान दिया है—

स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणं॥ परीक्षामुख १।१

इसी प्रकार अन्य स्थल भी तुलना के योग्य हैं।

आचार्य नयनन्दि ने, जिनकी सुदंसणचरिउ रचना वि० सं० ११०० में धारानरेश भोज के समय में पूर्ण हुई, अपने को माणिक्यनन्दि का शिष्य लिखा है—

जिणिदागमब्भासणे एयचित्तो तवायारणिट्ठाइ लद्धाइजुत्तो।
णरिंदामरिंदाहिवाणंदवंदी हुओ तस्स सीसो गणी रामणंदी॥
असेसाण गंथंमि पारंमि पत्तो तवे अंगवी भव्वराईवमित्तो।
गुणायासभूवो सुलोकणंदी महापंडिओ तस्स माणिक्कणंदी॥
पढम सीसु तहो जायउ जगविक्खायउ मुणि णयणंदी अणिंदियउ।
चरिउं सुदंसणणाहहो तेण अबाह हो विरइउं बुह अहिणंदिउ॥

(सुदंसण चरिउ)

उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर माणिक्यनन्दि का समय विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध सिद्ध होता है।

माणिक्यनन्दि ने परीक्षामुख की रचना की। यह जैन न्याय का आदि सूत्र ग्रन्थ है। इसके निर्माण में पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों के साथ-साथ बौद्ध परम्परा के आचार्य दिङ्नाग और धर्मकीर्ति के ग्रन्थों से पर्याप्त सहायता ली गई है।[1] ये सूत्र सरल, विशद, सुबोध, सारवान् और असन्दिग्ध हैं। इनकी शैली और विषयवस्तु की स्पष्टता से प्रभावित होकर परवर्ती जैन सूत्रग्रन्थकारों ने कहीं शब्दशः और कहीं अर्थशः इनका उपयोग किया है। इसके लिए श्वेताम्बर आचार्य देवसूरिकृत प्रमाणनयतत्त्वालोक तथा आचार्य हेमचन्द्रकृत प्रमाणमीमांसा द्रष्टव्य है। इन सूत्रों की उपयोगिता इसी से स्पष्ट होती है कि आचार्य प्रभाचन्द्र ने इन पर १२ हजार श्लोक प्रमाण प्रमेयकमलमार्त्तण्ड जैसी बड़ी टीका लिखी। लघु अनन्तवीर्यकृत परीक्षामुखपञ्जिका (प्रमेयरत्नमाला) तथा भट्टारक चारुकीर्ति-कृत प्रमेयरत्नालङ्कार की रचना भी परीक्षामुख की टीका के रूप में हुई। केशव-वर्णी ने परीक्षामुख के 'स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणं' पर एक स्वतन्त्र कृति प्रमेयकण्ठिका का प्रणयन किया।

परीक्षामुख का प्रमुख विषय प्रमाण और प्रमाणाभास है। समस्त ग्रन्थ में २०८ सूत्र हैं तथा यह छः समुद्देशों में विभक्त है। प्रथम समुद्देश में प्रमाण का स्वरूप, स्वोक्त प्रमाण लक्षण में ज्ञान रूप विशेषण का समर्थन, ज्ञान की निश्चयात्मकता, ज्ञान की स्वयंप्रकाशता और प्रत्यक्षता तथा प्रमाण का प्रामाण्य वर्णित है। इस समुद्देश में १३ सूत्र हैं।

द्वितीय समुद्देश में १२ सूत्र हैं। इसमें प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष दो भेद, प्रत्यक्ष का लक्षण, विशदता का लक्षण, सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष, अर्थ और आलोक की सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के प्रति कारणता का अभाव, प्रत्यक्ष प्रमाण में अपने आवरण कर्म के क्षयोपशम लक्षण वाली योग्यता से पदार्थों को जानने की व्यवस्था, पदार्थ को ज्ञान का कारण होने से परिच्छेद्य मानने की मान्यता का निराकरण तथा अतीन्द्रिय स्वरूप मुख्य प्रत्यक्ष का लक्षण प्रतिपादित है।

तृतीय समुद्देश ९७ सूत्रों में विभक्त है। इसमें परोक्ष का लक्षण, परोक्ष के भेद, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान तथा तर्क का लक्षण एवं उदाहरण, अनुमान का लक्षण, हेतु का लक्षण, अविनाभाव का लक्षण, सहभावनियम और क्रम-भावनियम, साध्य का लक्षण, साध्य के विशेषणों की सार्थकता, धर्मी का प्रति-

१. उदाहरणार्थ देखिये—न्यायकुमुदचन्द्र, प्र० भाग (प्रस्तावना), पृ० ८०-८१, प्र० माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला।

पादन, धर्मी की सिद्धि के प्रकार, पक्ष प्रयोग की आवश्यकता, अनुमान के दो अङ्ग, उदाहरण, उपनय और निगमन को अनुमान का अङ्ग मानने में दोषोद्भावन, वीतराग कथा में उदाहरणादि को अनुमान का अङ्ग मानने पर सहमति, दृष्टान्त के भेद, उपनय और निगमन की परिभाषा, स्वार्थानुमान और परार्थानुमान, हेतु के दो भेद उपलब्धि और अनुपलब्धि, उपलब्धि के भेद अविरुद्धोपलब्धि तथा विरुद्धोपलब्धि, अनुपलब्धि के भेद अविरुद्धानुपलब्धि और विरुद्धानुपलब्धि एवं अविरुद्धोपलब्धि के व्याप्य, कार्य, कारण, पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर, विरुद्धोपलब्धि के भी अविरुद्धोपलब्धि के समान विरुद्धव्याप्य, विरुद्ध कार्य, विरुद्ध कारण, विरुद्ध पूर्वचर, विरुद्ध उत्तरचर एवं विरुद्ध सहचर, अनुपलब्धि के प्रथम भेद, अविरुद्धानुपलब्धि के अविरुद्ध स्वभावानुपलब्धि, व्यापकानुपलब्धि, कार्यानुपलब्धि, कारणानुपलब्धि, पूर्वचरानुपलब्धि, उत्तरचरानुपलब्धि तथा सहचरानुपलब्धि, विरुद्धानुपलब्धि के विरुद्ध कार्यानुपलब्धि, विरुद्धकारणानुपलब्धि और विरुद्धस्वभावानुपलब्धि भेद, बौद्धों के प्रति कारण हेतु का समर्थन, आगम प्रमाण का लक्षण तथा शब्दादिक के वस्तु का ज्ञान कराने की कारणता का वर्णन है।

चतुर्थ समुद्देश में ९ सूत्र हैं। इसमें कहा गया है कि सामान्य-विशेषात्मक पदार्थ प्रमाण का विषय है। अनेकान्तात्मक वस्तु के समर्थन के लिए यहाँ दो हेतु कहे गये हैं---वस्तु सामान्य विशेषादि अनेक धर्म वाली है; क्योंकि वह अनुवृत्त प्रत्यय और व्यावृत्त प्रत्यय की विषय है तथा पूर्व आकार का परिहार, उत्तर आकार की प्राप्ति और स्थिति लक्षण परिणाम के साथ उसमें अर्थक्रिया पायी जाती है। सामान्य के दो भेद हैं---तिर्यक् सामान्य और ऊर्ध्वतासामान्य। पर्याय और व्यतिरेक के भेद से विशेष दो प्रकार का है।

पञ्चम समुद्देश में ३ सूत्र हैं। इसमें कहा गया है कि अज्ञान की निवृत्ति, हान, उपादान और उपेक्षा ये प्रमाण के फल हैं। वह फल प्रमाण से कथञ्चित् अभिन्न है और कथञ्चित् भिन्न है। प्रमाण से जानने वाले का ही अज्ञान निवृत्त होता है। वही हेय वस्तु का त्याग करता है, इष्ट वस्तु का ग्रहण करता है और उपेक्षणीय वस्तु की उपेक्षा करता है।

षष्ठ समुद्देश में ७४ सूत्र हैं। इसमें प्रमाणाभासों का विवेचन है। स्वरूपाभास, प्रत्यक्षाभास, परोक्षाभास, स्मरणाभास, प्रत्यभिज्ञानाभास, तर्काभास, अनुमानाभास, पक्षाभास, हेत्वाभास, हेत्वाभास के भेद तथा उनके उदाहरण, दृष्टान्ताभास और उसके भेद, बालप्रयोगाभास, आगमाभास, संख्याभास, विषयाभास तथा फलाभास का वर्णन कर वस्तु तत्त्व की सिद्धि के सम्भव अन्य (नय, निक्षेपादि) को विचारणीय कहा गया है।

प्रभाचन्द्र

आचार्य प्रभाचन्द्र का काल ९५० ई० से १०२० ई० के मध्य माना जाता है। वे एक बहुश्रुत विद्वान् थे। सभी दर्शनों के प्रायः सभी मौलिक ग्रन्थों का उन्होंने अभ्यास किया था। इतर दर्शनों का पूर्वपक्ष स्थापित करते समय वे तत्तत् दर्शनों का हार्द स्पष्ट करते हैं। इनके द्वारा लिखित चार ग्रन्थ माने जाते हैं—१. न्यायकुमुदचन्द्र २. प्रमेयकमलमार्त्तण्ड ४. तत्त्वार्थवृत्ति और ४. शाकटायन न्यास। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड माणिक्यनन्दि के परीक्षामुख का विस्तृत भाष्य है। अकलङ्कदेव के लघीयस्त्रय तथा उसकी विवृति के व्याख्यान ग्रन्थ का नाम न्यायकुमुदचन्द्र है। उन्होंने अपने ग्रन्थों में जिन ग्रन्थों[1] से उद्धरण दिए हैं, उनमें से कुछ की तालिका इस प्रकार है—१. न्यायभाष्य, न्यायवार्तिक, न्याय मञ्जरी, वैशेषिक सूत्र, प्रशस्तपाद भाष्य, पातञ्जलमहाभाष्य, योगसूत्र, व्यास-भाष्य, सांख्य कारिका, शाबर भाष्य, ब्रह्मविन्दूपनिषत्, छान्दोग्योपनिषद्, बृहदा-रण्यक, अभिधर्मकोश, न्यायविन्दु, प्रमाणवार्तिक, माध्यमिकवृत्ति आदि। उनकी तत्त्वार्थवृत्ति पूज्यपादकृत सर्वार्थसिद्धि नामक टीका की लघुवृत्ति है। अन्तिम ग्रन्थ शाकटायन न्यास के प्रभाचन्द्रकृत होने में अभी तक सर्वसम्मत निर्णय नहीं हो पाया है। प्रभाचन्द्र ने अपने ग्रन्थों में विद्यानन्द और अनन्तवीर्य का स्मरण किया है और यह भी लिखा है कि अनन्तवीर्य की उक्तियों की सहायता से वे अकलङ्क के प्रकरणों को समझने में समर्थ हुए। उत्तरकालीन ग्रन्थकारों में जो जैन ग्रन्थकार प्रभाचन्द्र की शैली से प्रभावित हुए तथा जिन्होंने प्रभाचन्द्र के लेखों का अनुसरण किया, उनमें सन्मतितर्क टीका के रचयिता अभयदेवसूरि, स्याद्वाद रत्नाकर के रचयिता वादिदेवसूरि। लघु अनन्तवीर्य, हेमचन्द्र, मल्लिषेण तथा उपाध्याय यशोविजय भी प्रभाचन्द्र से प्रभावित हैं[2]।

वादिराज

ये प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र के रचयिता प्रभाचन्द्र के समकालीन और अकलङ्कदेव के ग्रन्थों के व्याख्याता हैं। चालुक्यनरेश जयसिंह की राज्यसभा में इनका बड़ा सम्मान था। इनका काल १०१० से १०६५ ई० माना जाता है। इनके द्वारा निम्नलिखित ग्रन्थ प्रणीत हुए—१. पार्श्वनाथ चरित २. यशोधरचरित ३. एकीभावस्तोत्र ४. न्यायविनिश्चय विवरण ५. प्रमाण निर्णय। इनमें से अन्तिम दो दार्शनिक कृतियाँ हैं। न्यायविनिश्चय-विवरण अकलङ्कदेव के न्यायविनिश्चय का बीस हजार श्लोक प्रमाण भाष्य है।

---

१. न्यायकुमुदचन्द्र (प्र० भाग), प्रस्तावना, पृ० १२३।

२. वही, पृ० ११-१२।

प्रमाणनिर्णय एक लघुकाय ग्रन्थ है। इसके चार प्रकरण हैं—१. प्रमाणनिर्णय २. प्रत्यक्ष निर्णय ३. परोक्षनिर्णय ४. आगम निर्णय।

अभयदेव

अभयदेव का समय विक्रम की दसवीं सदी उत्तरार्द्ध से ग्यारहवीं सदी का पूर्वार्द्ध प्रमाणित होता है। इन्होंने सिद्धसेन के सन्मतितर्क पर टीका लिखी। सिद्धसेन, माणिक्यनन्दि और प्रभाचन्द्र की प्रशस्तियों में अभयदेव का निर्देश प्रद्युम्नसूरि के शिष्य और वादमहार्णव नामक तर्कग्रन्थ के रचयिता तार्किक विद्वान् के रूप में किया गया है[1]। पं० सुखलालजी और पं० बेचरदासजी ने सन्मतितर्क, प्रथम भाग की गुजराती प्रस्तावना में लिखा है कि अभयदेव की सन्मतितर्क टीका में सैकड़ों दार्शनिक ग्रन्थों का दोहन किया गया है। सामान्य रूप से कुमारिल का मीमांसा श्लोकवार्तिक, शान्तरक्षित कृत तत्त्वसंग्रह पर कमलशील की पंजिका और दिगम्बराचार्य प्रभाचन्द्र के प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र का प्रतिबिम्ब मुख्य रूप से इस टीका में है।[2]

वादिदेवसूरि

वादिदेवसूरि (ई० १०८६-११३०) ने अकलङ्क वचनाम्भोधि से उद्धृत परीक्षामुखसूत्र के आधार से प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार की रचना की तथा उसकी स्याद्वाद रत्नाकर टीका भी स्वयं लिखी[3]। परीक्षामुखसूत्र के विषय के साथ इनमें नयपरिच्छेद और वादपरिच्छेद नए जोड़े गए हैं। शास्त्रान्तरों के नामोल्लेख पूर्वक उद्धरण इस ग्रन्थ की अपनी एक विशेषता है और उस पर से भारतीय दर्शनशास्त्र के विविध ग्रन्थों एवं ग्रन्थकारों की सूची निर्मित की जा सकती है[4]।

अनन्तवीर्य

अनन्तवीर्य नाम के अनेक विद्वान् आचार्यों की सूची शिलालेखों तथा ग्रन्थ प्रशस्तियों से प्राप्त होती है। इनमें से कुछ का विवरण डॉ०नेमिचन्द्र शास्त्री ने भगवान महावीर और उनकी आचार्य परम्परा (भाग-३, पृ० ३९-४०) पर दिया है। अकलंक सूत्र के वृत्तिकार दो अनन्तवीर्य हैं—एक रविभद्रपादोपजीवी और दूसरे इन्हीं अनन्तवीर्य द्वारा उल्लिखित सिद्धिविनिश्चय के प्राचीन व्याख्याकार अनन्तवीर्य, जिन्हें हम वृद्ध अनन्तवीर्य कह

१. सन्मति तर्क (पं० सुखलालजी द्वारा लिखित प्रस्तावना), पृ० ७२।
२. जैन न्याय, पृ० ४२।
३. सिद्धिविनिश्चय टीका (भाग-१), पृ० ४२।
४. जैन न्याय, पृ० ४३।

सकते हैं। सिद्धिविनिश्चय टीका के कर्त्ता अनन्तवीर्य ई० सन् ९७५ के बाद और ई० सन् १०२५ के पहले किसी समय में हुए हैं। पार्श्वनाथचरित में वादिराज ने अनन्तवीर्य की स्तुति करते हुए लिखा है कि उस अनन्त सामर्थ्य-शाली मेघ के समान अनन्तवीर्य की स्तुति करता हूँ, जिनकी वचनरूपी अमृत-वृष्टि से जगत् को चाट जाने वाला शून्यवादरूपी हुताशन शान्त हो गया था। इन्होंने 'न्यायविनिश्चय विवरण' में अनन्तवीर्य को उस दीपशिखा के समान लिखा है, जिससे अकलङ्कवाङ्मय का गूढ़ और अगाध अर्थ पद-पद पर प्रकाशित होता है। रविभद्रशिष्य अनन्तवीर्य की दो रचनाएँ हैं—सिद्धिविनिश्चय टीका और प्रमाणसंग्रह या प्रमाणसंग्रहालंकार। सम्प्रति दूसरी अनुपलब्ध है।[1]

लघु अनन्तवीर्य

अनन्तवीर्य नाम के चूँकि अनेक आचार्य हुए हैं, अतः प्रमेयरत्नमाला के टिप्पणकार ने प्रमेयरत्नमाला के रचनाकार को लघु-अनन्तवीर्य[2] या द्वितीय अनन्तवीर्य कहा है; क्योंकि इससे पूर्व जैन न्याय साहित्य में अकलङ्कदेव के सिद्धिविनिश्चय के टीकाकार अनन्तवीर्य हो चुके थे। लघु अनन्तवीर्य की एकमात्र कृति प्रमेयरत्नमाला प्राप्त है। ग्रन्थ के आरम्भ में इस टीका को इन्होंने परीक्षामुखपञ्जिका कहा है। प्रत्येक समुद्देश के अन्त में दिये गये पुष्पिका वाक्य में इसे परीक्षामुख लघुवृत्ति भी कहा है। इसमें परीक्षामुख के सूत्रों की संक्षिप्त किन्तु विशद व्याख्या है। ग्रन्थ के प्रथम समुद्देश के पाँचवें पद्य में कहा गया है—

वैजेय प्रिय पुत्रस्य हीरस्योपरोधतः।
शान्तिषेणार्थमारब्धा परीक्षामुखपञ्जिका ॥ ५ ॥

अर्थात् वैजेय के प्रिय पुत्र हीरप के अनुरोध से शान्तिषेण नामक शिष्य के लिए यह परीक्षामुखपञ्जिका प्रारम्भ की गई है।

ग्रन्थ की अन्तिम प्रशस्ति में कहा गया है कि बदरीपाल वंशावली रूप आकाश में सूर्य के समान ओजस्वी और गुणशालियों में अग्रणी श्रीमान् वैजेय हुए। गुण और शील की सीमास्वरूप नागम्ब इस नाम से संसार में प्रसिद्ध उसे वैजेय की पत्नी हुई, जिसे सज्जन पुरुष रेवती, अम्बिका और प्रभावती इस नाम से पुकारते थे।

वैजेय की उस स्त्री से विश्व का कल्याण करने की मनोवृत्ति वाला, दान देने के लिए मेघ के समान, अपने गोत्र के विस्तार रूप आकाश का अंशुमाली (सूर्य)

१. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, पृ० ४० (तृ० भाग)।
२. तद्विवरीतुमिच्छवः श्रीमल्लघ्वनन्तवीर्य देवा ॥—प्रमेयरत्नमाला टिप्पण, पृ० १।

और सम्यक्त्व रूपी रत्नों के आभूषण से सुशोभित अङ्ग वाला संसार में हीरप नाम से प्रसिद्ध पुत्र हुआ।

निर्मल और विशाल कीर्ति वाले उस हीरप के आग्रह वश इस अनन्तवीर्य ने माणिक्यनन्दि कृत अगाध बोध वाले इस शास्त्र को कुछ संक्षिप्त किन्तु उदार वचनों के द्वारा बालकों को प्रबोधित करने वाले इस विवरण के रूप में स्पष्ट किया है[1]।

प्रमेयरत्नमाला की रचना प्रभाचन्द्र के 'प्रमेयकमलमार्त्तण्ड' के पश्चात हुई; क्योंकि प्रमेयरत्नमाला के प्रारम्भ में कहा है—

प्रमेन्दुवचनोदारचन्द्रिका प्रसरे सति।
मादृशाः क्व नु गण्यन्ते ज्योतिरिङ्गणसन्निभाः॥ ३॥

अर्थात् प्रभाचन्द्र नामक आचार्य के वचन रूप उदार चाँदनी का विस्तार होते हुए जुगनू के समान हम जैसे मन्दबुद्धि वाले पुरुषों की क्या गणना?

उक्त उद्धरण से यह स्पष्ट है कि प्रभाचन्द्र लघु अनन्तवीर्य से पूर्व हुए। इनका समय ९५० से १०२० ई० के मध्य माना जाता है। हेमचन्द्र की प्रमाण-मीमांसा पर प्रमेयरत्नमाला का बहुत प्रभाव है। इस प्रकार अनन्तवीर्य का समय प्रभाचन्द्र और हेमचन्द्र के मध्य होना चाहिए। इस आधार पर इन अनन्तवीर्य का समय १२वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध प्रतिफलित होता है[2]।

प्रमेयरत्नमाला का वर्ण्य विषय—चूँकि परीक्षामुख का प्रधान विषय प्रमाण और प्रमाणाभास का विवेचन है, अतः उसकी टीका प्रमेयरत्नमाला का प्रधान विषय भी प्रमाण और प्रमाणाभास ही है। इनका उद्देश्य परीक्षामुख नामक सूत्रात्मक ग्रन्थ का स्पष्ट कथन करना था। प्रथम समुद्देश के अन्त में लघु अनन्तवीर्य ने कहा है—

देवस्स सम्मतमपास्तसमस्त दोषं
वीक्ष्य प्रपञ्चरुचिरं रचितं समस्य।
माणिक्यनन्दिविभुना शिशुबोधहेतो-
र्मानस्वरूपममुना स्फुटमभ्यधायि॥६॥

अकलंकदेव के द्वारा सम्मत, समस्त दोषों से रहित, विस्तृत और सुन्दर प्रमाण के स्वरूप को माणिक्यनन्दि स्वामी ने देख करके शिशुओं की जानकारी के लिए (परीक्षामुख में) संक्षेप रूप से रचा, उसी को इस (अनन्तवीर्य) ने स्पष्ट रूप से कहा है।

---

१. प्रमेयरत्नमाला-टीकाकारस्य प्रशस्ति—१-४।

२. भगवान महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग ३, पृ० ५३।

अकलंकदेव और माणिक्यनन्दि से अनन्तवीर्य इतने अधिक प्रभावित थे कि प्रत्येक समुद्देश के अन्त में उन्होंने कहीं संक्षिप्त पदों द्वारा तो कहीं स्पष्ट रूप से उनका स्मरण किया है। इससे उनके कृतज्ञता रूप महान् गुण की सूचना मिलती है।

प्रमेयरत्नमाला के प्रथम समुद्देश में प्रमाण का स्वरूप, द्वितीय में प्रत्यक्ष प्रमाण, तृतीय में परोक्ष प्रमाण, चौथे में प्रमाण का विषय, पाँचवें में प्रमाण का फल तथा षष्ठ समुद्देश में प्रमाणाभास आदि का विशद विवेचन किया गया है।

अनन्तवीर्य का वैदुष्य—लघु अनन्तवीर्य ने भारतीय दर्शन की प्रत्येक शाखा के मूल ग्रन्थों का भलीभाँति अध्ययन किया था। जैन न्याय ग्रन्थों में आचार्य समन्तभद्र, अकलंक, माणिक्यनन्दी और प्रभाचन्द्र की कृतियों ने उन्हें विशेष प्रभावित किया था। उन्होंने विभिन्न दर्शनों के ग्रन्थों का उद्धरण अपनी प्रमेयरत्नमाला में देकर पूर्व पक्ष को स्पष्ट कर, विभिन्न वादों की समीक्षा की है। उनके द्वारा उद्धृत प्रमुख ग्रन्थ हैं—धर्मकीर्ति का प्रमाणवार्त्तिक, कुमारिल का मीमांसा श्लोकवार्त्तिक, प्रभाचन्द्र का प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, व्यासकृत महाभारत, मण्डन मिश्रकृत ब्रह्मसिद्धान्त, अकलंककृत लघीयस्त्रय, ईश्वर कृष्ण कृत सांख्य-कारिका, ऋग्वेद, दिङ्नाग कृत प्रमाणसमुच्चय, विद्यानन्द कृत पत्रपरीक्षा, श्वेताश्वरोपनिषद्, पात्रकेशरी स्तोत्र तथा बृहदारण्यक। इनके अतिरिक्त उन्होंने कहाँ-कहाँ से विचार ग्रहण कर अपनी प्रमेयरत्नमाला की रचना की होगी, इस पर स्वतन्त्र रूप से शोध आवश्यक है। इन सबसे उनके वैदुष्य की भलीभाँति जानकारी प्राप्त होती है। अनन्तवीर्य के वाक्य बड़े संक्षिप्त और गूढ़ अर्थ वाले हैं। उन्हें समझना साधारण व्यक्ति का काम नहीं है। इसके लिए पद-पद पर टिप्पण की सहायता की अपेक्षा होती है। इस दृष्टि से वह टिप्पण, जिसके कर्त्ता लघुसमन्तभद्र कहे जाते हैं, बहुत उपयोगी है। टिप्पणकार ने ग्रन्थकार के हार्द को अच्छी तरह खोलकर रख दिया है। जैन न्याय के क्षेत्र में प्रभाचन्द्ररूपी चन्द्र के बाद वे चमकते हुए सितारे हैं, जिन पर न्यायविद्या के अध्येताओं को गर्व है।

अनन्तवीर्य और भारतीय दर्शन

ऊपर कहा जा चुका है कि लघु अनन्तवीर्य भारतीय दर्शनों के तलस्पर्शी अध्येता थे। उनके विभिन्न दर्शनों के अध्ययन सम्बन्धी एक संक्षिप्त सर्वेक्षण यहाँ प्रस्तुत है—

१. वेद—प्रमेयरत्नमाला में ऋग्वेद के दशम मण्डल के पुरुषसूक्त की एक पंक्ति उद्धृत की गयी है। यह सूक्त ऋग्वेद के दार्शनिक सूक्तों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। पंक्ति इस प्रकार है—"पुरुष एवेदं यद्भूतं यच्च भाव्यम्"

इसे परम ब्रह्म के प्रतिपादन करने वाले आगम वाक्य के रूप में पूर्वपक्ष के रूप में उद्धृत किया गया है।

२. आरण्यक—आरण्यकों में जहाँ वानप्रस्थियों के यज्ञों का विधान है। वहाँ उपनिषदों के समान ज्ञानकाण्ड का विषय भी प्रतिपादित है। ये ब्राह्मणों और उपनिषदों के मिश्रित रूप हैं। वास्तव में ये ब्राह्मण ग्रन्थों के ही अंग हैं। अरण्य में पढ़े जाने के कारण इनको आरण्यक कहते थे। प्रमेयरत्नमाला में बृहदारण्यक का एक पद्य उद्धृत[1] हुआ है, जो इस प्रकार है—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन।
आरामं तस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन॥ (बृहदारण्यक ४।३।१४)

बृहदारण्यक के आरम्भ में यज्ञविषय अतिस्वल्प है। वास्तव में इसमें आत्मज्ञान और ब्रह्मविद्या का ही मुख्य वर्णन होने से इसे बृहदारण्यकोपनिषद् कहते हैं। शंकराचार्य ने इस पर भाष्य लिखा है।

उपनिषद्—उप और नि उपसर्ग पूर्वक सद् धातु से क्विप् प्रत्यय लगकर उपनिषद् शब्द बनता है, जिसका अर्थ है ज्ञान प्राप्ति के लिए गुरु के समीप बैठना। जो जन श्रद्धा और भक्तिपूर्वक आत्मज्ञान के लिए ब्रह्मविद्या को ग्रहण करते हैं। वह उनके गर्भ, जन्म, जरा, रोगादि वर्ग का नाश करती हुई ब्रह्म को प्राप्त कराती है। वह उनके अविद्या संस्कार कारण का विनाश कर देती है। प्रमेयरत्नमाला में श्वेताश्वतरोपनिषद् का एक [2]उद्धरण है, जो इस प्रकार है—

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतः पात्।
सम्बाहुभ्यां धमति सम्पतत्त्रैर्द्यावि भूमी जनयन् देव एकः॥

श्वेताश्वतरोपनिषद् कृष्ण यजुर्वेद की श्वेताश्वतर शाखा से सम्बन्धित था। इस उपनिषद् में छः अध्याय हैं तथा इसका सम्पूर्ण भाग गद्य में है। इसमें सांख्य और योग का स्पष्ट वर्णन है तथा कपिल ऋषि का उल्लेख इसी वैदिक ग्रन्थ में सर्वप्रथम मिलता है। इसमें सांख्य, योग और वेदान्त की पदावली प्राप्त होती है।[3]

स्मृतियाँ—प्रमेयरत्नमाला के तृतीय समुद्देश में मनु और याज्ञवल्क्य आदि की स्मृतियों को श्रुत्यर्थानुसारी कहा गया है। इस प्रकार की मान्यता बहुत पहले से ही प्रचलित थी। कालिदास ने भी इसे उपमा प्रयोग के रूप में अपनाया है—श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्[4]। स्मृतियों में मनुस्मृति का अत्यधिक महत्त्व है। इसका कारण यह है कि यह वेदों के अत्यन्त समीप है। कहा भी गया है—वेदार्थोपनिबद्धत्वात् प्राधान्यं तु मनोः स्मृतम्।" मनुस्मृति की वेदार्थोपनिबद्धता

---

१. प्रमेयरत्नमाला—द्वितीय समुद्देश-उद्धरण १३।
२. प्रमेयरत्नमाला-द्वितीय समुद्देश-उद्धरण ८।
३. डॉ० कुँवरलाल जैन : वैदिक साहित्य का इतिहास पृ० १६५
४. रघुवंश २।२।

या वेदमूलकता के कारण धर्मशास्त्र के रचयिताओं ने यहाँ तक घोषणा कर दी कि जो स्मृति मनुस्मृति के विपरीत है, वह मान्य या प्रशंसनीय नहीं मानी जा सकती है—मन्वर्थविपरीता तु या स्मृतिः सा न शस्यते।[1] मनु ने अपनी स्मृति के प्रामाण्य प्रतिपादनार्थ स्पष्ट रूप से कहा है कि इसमें जो धर्म कहा गया है, वह सब वेदोक्त है[2]—

यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः॥—मनुस्मृति २।७

मनुस्मृति के बाद याज्ञवल्क्य स्मृति की मान्यता है। इसमें वर्णों के नियम, संस्कार, विवाह गृहस्थ धर्म, स्नातक धर्म, भक्ष्याभक्ष्य नियम, द्रव्यशुद्धि, दान, श्राद्ध, ग्रहशान्ति, राजधर्म, ऋणादान, साक्षि, लेख्य, दाय विभाग, क्रयविक्रय के नियम, वेतनादान दण्ड, आपद्धर्म, अशौच, वानप्रस्थ, यतिधर्म तथा प्रायश्चित्त के नियम वर्णित हैं।

चार्वाक दर्शन—चार्वाक दर्शन प्रत्यक्ष को ही एकमात्र प्रमाण मानता है। प्रमेयरत्नमाला के कर्ता ने अनेक प्रमाणों द्वारा यह सिद्ध किया है कि प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अनुमानादि प्रमाण भी सिद्ध होते हैं। इसके लिए उन्होंने धर्मकीर्ति के प्रमाण समुच्चय की एक कारिका उद्धृत[3] की है—

प्रमाणेतरसामान्यस्थितेरन्यधियो गतेः।
प्रमाणान्तरसद्भावः प्रतिषेधाच्च कस्यचित्॥

प्रमाण सामान्य और अप्रमाण्य सामान्य की स्थिति होने से, शिष्यादि की बुद्धि के ज्ञान से और परलोकादि के प्रतिषेध से अन्य प्रमाण रूप अनुमान का सद्भाव सिद्ध होता है।

चार्वाक दर्शन की मान्यता है कि आत्मा भूतचतुष्टय से उत्पन्न होता है। इसके विरोध में कहा गया है कि अचेतन भूतों से चेतन आत्मा की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि आत्मा इन पृथिवी आदि चार भूतों से उत्पन्न होता तो उसमें उन चारों भूतों के धारण आदि स्वभाव अवश्य पाए जाने चाहिए, चूँकि नहीं पाए जाते हैं, इससे ज्ञात होता है कि आत्मा पृथिवी आदि भूतचतुष्टय से उत्पन्न नहीं होता। इसकी पुष्टि में प्रमेयकमलमार्त्तण्ड[4] का एक पद्य उद्धृत किया गया है, जिसका तात्पर्य यह है कि तत्काल जात बालक के स्तनपान की इच्छा

१. मनुस्मृति–डॉ० जयकुमार जैन द्वारा लिखित प्रस्तावना पृ० ५।
२. वही पृ० १। ३. प्रमेयरत्नमाला द्वितीय समुद्देश, उद्धरण–२।
४. प्रमेयरत्नमाला चतुर्थ समुद्देश, उद्धरण–४०।

से, व्यन्तरादिक के देखने से, पूर्वभव के स्मरण से, पृथिवी आदि भूतचतुष्टय के गुण-धर्म-स्वभाव आदि का अन्यवपना नहीं पाए जाने से स्वभावतः ज्ञाता दृष्टा और सनातन आत्मा स्वयं सिद्ध है।

बौद्धदर्शन—प्रमेयरत्नमाला में निम्नलिखित बौद्ध सिद्धान्तों की समीक्षा है—निर्विकल्प प्रत्यक्षवाद, शून्यवादियों का प्रमाण को न मानना, प्रत्यक्ष की अव्यवसायात्मकता, स्मृति की अप्रमाणता, प्रत्यभिज्ञान की अप्रमाणता, तर्क की अप्रमाणता, क्षणभङ्गवाद, स्वसंवेदन प्रत्यक्ष, तदुत्पत्ति (ज्ञान का पदार्थ से उत्पन्न होना), तादूप्य (पदार्थ के आकार होना और तदध्यवसाय (उसी पदार्थ को जानना), परिच्छेद होने से पदार्थ की ज्ञानकारणता, हेतु का त्रैरूप्य लक्षण, प्रयोग काल में मात्र हेतुको आवश्यकता, कारण हेतु को न मानना, शब्दों का अर्थ का वाचक न होना, अन्यापोह, विशेष ही प्रमाण का विषय तथा प्रमाण और फल में अभेद आदि।

सांख्य—सांख्यदर्शन अत्यन्त प्राचीन है। इसके प्रणेता महर्षि कपिल हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार इनका सम्बन्ध संख्या से है; क्योंकि इसमें तत्त्वों की संख्या निर्धारित की गई है। दूसरा मत है कि संख्या का अर्थ है—सम्यक् ज्ञान और इसी अर्थ में यह दर्शन सांख्य कहलाता है। सांख्य प्रकृति और पुरुष केवल दो मूल तत्त्व मानता है[1]। प्रमेयरत्नमाला में सांख्यदर्शन की अनेक मान्यताओं का निराकरण किया गया है। ये मान्यतायें इस प्रकार हैं—

अस्वसंवेदन ज्ञानवाद, प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम रूप तीन प्रमाणों को प्रमाणता, पक्ष, हेतु और दृष्टान्त के भेद से अनुमान के तीन अवयव, पदार्थ को मात्र सामान्यात्मकता, प्रधान का स्वरूप, पुरुष का स्वरूप, २५ तत्त्व तथा सत्कार्यवाद आदि।

योग—चित्तवृत्ति का निरोध करना योग कहलाता है। महर्षि पतंजलि का बनाया हुआ योगसूत्र इसका प्रमुख ग्रन्थ है, इस पर व्यासभाष्य लिखा गया है, जो बहुत प्रसिद्ध है। योगदर्शन को पतंजलि के नाम पर पातञ्जल दर्शन भी कहा जाता है। इसमें योग्य का स्वरूप, चित्तवृत्ति को रोकने के उपाय, दुःख-निवृत्ति, योगजनित सिद्धियाँ तथा कैवल्य का निरूपण है। अनन्तवीर्य ने ईश्वर के सद्भाव के समर्थन में पतंजलि के निम्नलिखित सूत्रों को उद्धृत किया है—

---

१. श्री सतीशचन्द्र चाट्टोपाध्याय एवं धीरेन्द्र मोहनदत्त : भारतीय दर्शन, पृ० १६३, १६४।

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ।
तत्र निरतिशय सर्वज्ञ बीजम् ।
स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥

इस मत का खण्डन प्रमेयरत्नमाला में नैयायिकों के सृष्टिकर्ता ईश्वर के खण्डन के साथ किया गया है ।

यौगदर्शन (न्याय-वैशेषिक)—टिप्पणकार ने यौग से तात्पर्य नैयायिक वैशेषिकाणाम् कहकर न्याय और वैशेषिक दोनों दर्शनों को यौग की परिधि में सम्मिलित किया है । यौगदर्शन की समस्त मान्यतायें न्याय वैशेषिक दर्शन में पायी जाती हैं । प्रमेयरत्नमाला का बहुभाग यौग, मीमांसक तथा बौद्धदर्शन की समीक्षा करने में प्रयुक्त हुआ है । यौग की वे मान्यतायें जिनका निराकरण प्रमेयरत्नमाला में किया गया है, निम्नलिखित हैं—

सन्निकर्ष, ज्ञानान्तर प्रत्यक्षवाद, ज्ञान का स्व व्यवसायी न होना, प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द की प्रमाणता, प्रत्यभिज्ञान का भिन्न प्रमाण न होना, तर्क को स्वतन्त्र प्रमाण न मानना, अर्थ और आलोक को ज्ञान की कारणता, अनुमान के पंच अवयव, सृष्टिकर्त्ता ईश्वरवाद, समवाय, हेतु पञ्चलक्षणत्व, परस्पर निरपेक्ष सामान्य और विशेष प्रमाण का विषय, प्रमाण से उसके फल की सर्वथा भिन्नता, प्रमाण का अस्वसंवेदीपना, आत्मा का विभुत्व तथा सत्ता के सम्बन्ध में सत् होना आदि ।

मीमांसादर्शन—मीमांसा का मुख्य उद्देश्य है वैदिक कर्मकाण्ड की पुष्टि करना । वह दो प्रकार से (१) वैदिक विधि-निषेधों का अर्थ समझने के लिए और आपस में उनकी संगति बैठाने के लिए व्याख्या प्रणाली निर्धारित करना, (२) कर्मकाण्ड के मूल सिद्धान्त का युक्ति द्वारा प्रतिपादन करना । मीमांसा का मूल ग्रन्थ है जैमिनि सूत्र । दार्शनिक सूत्रों में यह सबसे बड़ा है । इसके बारह अध्याय हैं । जैमिनि के सूत्र पर शबर स्वामी का विशद भाष्य है, जिसे शाबर भाष्य कहते हैं । इसके बाद बहुत से टीकाकार और स्वतन्त्र ग्रन्थकार हुए । उनमें दो मुख्य हैं—कुमारिल भट्ट और प्रभाकर (गुरु) । इन दोनों के नाम पर मीमांसा में दो प्रधान सम्प्रदाय चल पड़े—भाट्टमीमांसा और प्रभाकर मीमांसा[1] । प्रमेयरत्नमाला में मीमांसादर्शन का जैमिनीय, भाट्ट और प्राभाकर के नाम से प्रायः उल्लेख हुआ है । यहाँ मीमांसकों के निम्नलिखित सिद्धान्तों का खण्डन किया गया है—

प्राभाकरों का अज्ञात रूप भी ज्ञातृव्यापार को प्रमाण मानना, जैमिनीय परोक्षज्ञानवाद, भाट्टों का कर्त्ता और कर्म की ही प्रतीति मानना, जैमिनीयों का कर्त्ता,

---

१. दत्त तथा चाट्टोपाध्याय : भारतीय दर्शन, पृ० १९८ ।

कर्म और क्रिया की ही प्रतीति मानना, प्रमाण की प्रमाणता स्वतः और अप्रमाणता परतः, जैमिनीय षट् प्रमाण, वेद की प्रमाणता, अनुमान के चार अवयव, पुरुष की सर्वज्ञता का निषेध, शब्द की व्यापकता, वेद की अपौरुषेयता, शब्दों की नित्यता, भावनावाद, नियोगवाद, विधिवाद, अस्वसंवेदनवाद।

वेदान्त—वेदान्त का अर्थ है—वेदान्त का अन्त। प्रारम्भ में इस शब्द से उपनिषदों का बोध होता था। पीछे उपनिषदों के आधार पर जिन विचारों का विकास हुआ, उनके लिए भी इस शब्द का व्यवहार होने लगा[1]। वेदान्त दर्शन उत्तरमीमांसा के नाम से प्रसिद्ध है। जैमिनी की मीमांसा पूर्वमीमांसा कही जाती है। प्रमेयरत्नमाला में वेदान्त के सिद्धान्तों की समालोचना की गयी है। वेदान्त का कहना है कि यह सभी दृश्यमान पदार्थ निश्चय से परमब्रह्म ही हैं, इसके अतिरिक्त इस जगत् में कोई वस्तु नहीं है। हम लोग उसकी पर्यायों को तो देखते हैं, किन्तु उसे कोई नहीं देख सकता।

इस मान्यता पर शंका की गई है कि परमब्रह्म को ही परमार्थसत् मान लेने पर 'यह घट है, यह पट है' इत्यादि रूप से जो प्रतिभास होता है, वह कैसे बनेगा? ब्रह्मा का इस जगत् की सृष्टि का क्या प्रयोजन है? क्रीड़ा के वश वह जगत् की रचना करता है तो उसके प्रभुता नहीं रहती, इत्यादि विकल्प उठाकर परमब्रह्म का निषेध किया गया है।

लघु अनन्तवीर्य के उत्तरवर्ती जैन न्याय ग्रन्थकार

हेमचन्द्र—हेमचन्द्र (वि० सं० ११४५–१२२८) बहुमुखी प्रतिभा के धनी आचार्य थे। व्याकरण, कोश, छन्द, अलंकार, काव्य, चरित्र, न्याय आदि प्रत्येक विषय पर इन्होंने विद्वत्तापूर्वक ग्रन्थ लिखे। इनका सुप्रसिद्ध दर्शनिक ग्रन्थ प्रमाण-मीमांसा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। हेमचन्द्र के सामने जैनाचार्यों की एक लम्बी परंपरा थी। प्रमाणमीमांसा का दार्शनिक आधार इन जैनाचार्यों की रचनायें हैं। प्रमेय-रत्नमाला का इस पर विशेष प्रभाव है। प्रमाणमीमांसा के अतिरिक्त हेमचन्द्र ने अयोगव्यवच्छेदिका तथा अन्ययोगव्यवच्छेदिका नामक दो द्वात्रिंशिकायें भी लिखीं। इनमें से अन्ययोग व्यवच्छेदिका पर मल्लिषेण ने स्याद्वादमञ्जरी टीका भी लिखी है, जो न्याय के अध्येताओं में लोकप्रिय है।

यशोविजय—विक्रम की अठारहवीं शताब्दी के विद्वान् उपाध्याय यशो-विजय का नाम नव्यन्याय की शैली में लिखने वाले जैन नैयायिकों में अग्रगण्य है। इन्होंने अनेकान्त व्यवस्था नामक ग्रन्थ नव्य-न्याय की शैली में लिखकर अनेकान्तवाद की पुनः प्रतिष्ठा की। प्रमाणशास्त्र पर जैनतर्कभाषा और ज्ञान-बिन्दु लिखकर जैन परम्परा का गौरव बढ़ाया। नय पर भी नयप्रदीप, नयरहस्य

१. दत्त तथा चाट्टोपाध्याय : भारतीय दर्शन पृ० २०९

और नयोपदेश आदि ग्रन्थ लिखे। नयोपदेश पर इन्होंने नयामृततरंगिणी नामक स्वोपज्ञ टीका भी लिखी। इसके अतिरिक्त अष्टसहस्री पर अपना विवरण लिखा। हरिभद्र कृत शास्त्रवार्तासमुच्चय पर स्याद्वाद कल्पलता नामक टीका भी लिखी। भाषा रहस्य, प्रमाण रहस्य, वाद रहस्य आदि अनेक ग्रन्थों के अतिरिक्त जैन न्यायखण्ड खाद्य और न्यायालोक लिखकर नवीन शैली में ही नैयायिकादि दार्शनिकों की मान्यताओं का खण्डन भी किया। दर्शन के अतिरिक्त इन्होंने योग, आचारशास्त्र आदि सम्बन्धी ग्रन्थ लिखे। गुजराती में भी इनके द्वारा साहित्य लिखा गया[1]।

आभार प्रदर्शन

प्रमेयरत्नमाला जैनदर्शन के पाठ्यक्रम में अनेक स्थान पर निर्धारित है। कई वर्षों से यह बाजार में अनुपलब्ध थी, अतः छात्र कठिनाई का अनुभव कर रहे थे। उनकी कर्मा का अनुभव कर पूज्य १०८ उपाध्याय श्री भरतसागर जी महाराज ने इसकी हिन्दी टीका लिखने का आदेश दिया। उनकी आज्ञा को शिरोधार्य कर मैंने कार्य प्रारम्भ कर दिया। न्याय का ग्रन्थ होने और ग्रन्थकार द्वारा संक्षेप में बात कह देने की प्रवृत्ति के कारण कुछ कठिनाई अवश्य हुई, किन्तु अज्ञातकर्तृक अथवा कुछ लोगों के अनुसार लघुसमन्तभद्र कृत टिप्पण के कारण सारी समस्या सुलझ गई। यह टिप्पण न होता तो किसी के लिए भी अनुवाद करना कठिन था। स्व० पं० हीरालाल जी सिद्धान्तशास्त्री द्वारा किए हुए अनुवाद से अनेक जगह ग्रन्थ को समझने में मदद मिली। जहाँ-जहाँ मैंने विशेषार्थ दिये हैं, वे प्रायः टिप्पण के आधार से ही लिखे गए हैं। कहीं-कहीं अन्य ग्रन्थों का भी सहारा लिया है, जिसका निर्देश पादटिप्पणी में कर दिया गया है। प्रस्तावना लेखन में भी अनेक लेखकों के ग्रंथों का उपयोग हुआ है। न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमार जी, श्रद्धेय गुरुवर पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री, पं० दलसुख जी मालवणिया डॉ० लालबहादुर जी शास्त्री डॉ० नेमिचन्द्र जी शास्त्री, डॉ दरबारी लाल जी कोठिया न्यायाचार्य, प्रो० उदयचन्द्र जी सर्वदर्शनाचार्य, डॉ० मोहनलाल जी मेहता प्रभृति आधुनिक विद्वानों की कृतियों के सहारे प्रस्तावना लिखी जा सकी है। उपर्युक्त सब मनीषियों का मैं हृदय से आभारी हूँ। उन प्राचीन आचार्यों के प्रति मैं हार्दिक श्रद्धा से नतमस्तक हूँ, जिन्होंने दर्शनान्तरों की समीक्षा कर अनेकान्तवाद की दुन्दुभि बजायी और जैनधर्म तथा दर्शन का उद्योत किया।

१४-१२-१९९१ ई० **रमेशचन्द्र जैन**

---

१. डॉ० मोहनलाल मेहता : जैनदर्शन पृ० ११५

सहायक ग्रन्थ सूची

१. पंचास्तिकाय—आचार्य कुन्दकुन्द
२. समयसार—आचार्य कुन्दकुन्द
३. माध्यमिक कारिका—आचार्य नागार्जुन
४. सन्मति तर्क—आचार्य सिद्धसेन
५. न्याय विनिश्चयविवरण—सम्पादक–पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य
६. स्याद्वाद मञ्जरी—मल्लिषेण
७. सिद्धि विनिश्चय—सम्पादक–पं० महेन्द्रकुमार
८. शास्त्र वार्ता समुच्चय—आ० हरिभद्र सूरि
९. प्रमाण परीक्षा—आचार्य विद्यानन्द
१०. आप्तमीमांसा-तत्त्वदीपिका—प्रो० उदयचन्द्र जैन
११. न्याय कुमुदचन्द्र—सम्पादक पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य
१२. प्रमेयरत्नमाला—श्रीमल्लघु अनन्तवार्य
हिन्दी व्या० पं० हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री
१३. मनुस्मृति—मनु, सम्पादक एवं अनु० डॉ० जयकुमार जैन
१४. अष्टसहस्री—आचार्य विद्यानन्द, अनु० आर्यिका ज्ञानमती जी
१५ आचार्य कुन्दकुन्द और उनका समयसार—डॉ० लालबहादुर शास्त्री
१६. आगम युग का जैनदर्शन—पं० दलसुख मालवणिया
१७. पं० दाबूलाल जैन जमादार अभिनन्दन ग्रन्थ
१८. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा—डॉ० नेमीचन्द्र शास्त्री
१९. जैन न्याय—पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री
२०. जैनदर्शन—डॉ० मोहनलाल मेहता
२१. दर्शन और चिन्तन—पं० सुखलाल संघवी
२२. समदर्शी आचार्य हरिभद्र—पं० सुखलाल संघवी
२३. वैदिक साहित्य का इतिहास—डॉ० कुँवरलाल जैन
२४. भारतीय दर्शन—श्री सतीशचन्द्र चाट्टोपाध्याय एवं धीरेन्द्र मोहन दत्त

●

विषयानुक्रमणिका

प्रथम समुद्देश	१–२८
मङ्गलाचरण	१
प्रमाण और प्रमाणाभास का लक्षण कहने की प्रतिज्ञा	४
सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजन का कथन	६
प्रमाण का लक्षण	१०
प्रमाण के लक्षण में ज्ञान विशेषण का समर्थन	१३
ज्ञान निश्चयात्मक है	१४
अपूर्वार्थ का लक्षण	१६
स्वव्यवसाय का लक्षण	१७
ज्ञान का प्रामाण्य	२१
द्वितीय समुद्देश	२९–८२
प्रमाण के भेद	२९
प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण	३०
प्रत्यक्ष का लक्षण	४२
वैशद्य का लक्षण	४३
सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष	४५
अर्थ और आलोक सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के कारण नहीं हैं	४७
ज्ञान अर्थ का प्रकाशक होता है	४८
योग्यता से पदार्थों के जानने की व्यवस्था	४९
कारण होने से पदार्थ परिच्छेद्य है, इसका निराकरण	५१
मुख्य प्रत्यक्ष	५१
आवरण सहित और इन्द्रिय जनित मानने पर ज्ञान का प्रतिबन्ध सम्भव	५२
सर्वज्ञता पर शङ्का	५२
सर्वज्ञता का समर्थन	५८
नैयायिकों की सृष्टिकर्तृत्व विषयक मान्यता	६४
नैयायिकों की मान्यता का निराकरण	६५
ब्रह्म के सद्भाव को सिद्ध करने वाले प्रमाण का अभाव	७४

तृतीय समुद्देश	**८३–१५३**
परोक्ष का लक्षण	८३
परोक्ष के भेद	८३
स्मृति का लक्षण	८४
प्रत्यभिज्ञान का लक्षण	८४
ऊह प्रमाण	८६
अनुमान प्रमाण	८७
हेतु का लक्षण	८७
अविनाभाव का लक्षण	९१
सहभाव	९१
क्रमभाव	९१
साध्य का लक्षण	९२
असिद्ध विशेषण की सार्थकता	९२
इष्ट और अबाधित विशेषणों के ग्रहण का कारण	९३
पक्ष	९५
विकल्प सिद्ध धर्मी में सत्ता और असत्ता दोनों ही साध्य हैं	९६
प्रमाणसिद्ध और उभयसिद्ध धर्मी में साध्यधर्म से विशिष्टता	९८
व्याप्तिकाल में धर्म ही साध्य होता है	९९
गम्यमान भी पक्ष का प्रयोग	१००
पक्ष और हेतु दोनों ही अनुमान के अंग हैं	१०३
उदाहरण साध्य की जानकारी का अंग नहीं है	१०३
उपनय और निगमन अनुमान के अंग नहीं हैं	१०६
समर्थन ही हेतु का यथार्थ रूप है	१०७
बालकों की व्युत्पत्ति के लिए उदाहरणादि हैं	१०७
अन्वय और व्यतिरेक दृष्टान्त	१०८
उपनय	१०९
निगमन	१०९
स्वार्थ और परार्थानुमान	११०
उपलब्धि और अनुपलब्धि हेतु	११२
अस्तित्व साध्य होने पर अविरुद्धोपलब्धि के छह भेद	११३
कारण के व्यापार के आश्रित ही कार्य का व्यापार	११६
सहचर हेतु का स्वभाव, कार्य और कारण हेतु में अन्तर्भाव नहीं होता है	११७

प्रतिज्ञादि पाँच अवयव ११८
कार्य हेतु ११८
कारण हेतु ११९
पूर्वचर हेतु ११९
उत्तरचर हेतु ११९
सहचर लिंग ११९
विरुद्धोपलब्धि के भेद ११९
अविरुद्धानुपलब्धि के भेद १२१
विधि के अस्तित्व को सिद्ध करने में विरुद्धानुपलब्धि के भेद १२३
तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति १२६
आगम का स्वरूप १२८
मीमांसकों की आपत्ति १२९
मीमांसकों का निराकरण १३४
शब्दादि वस्तु का ज्ञान कराने के कारण हैं १४७
अन्यापोह का निराकरण १४८
चतुर्थ समुद्देश १५४–१८९
प्रमाण का विषय १५४
सांख्याभिमत प्रधान तथा उसका निराकरण १५४
बौद्धों के अनुसार विशेष ही वस्तु का स्वरूप है १५९
बौद्धों का निराकरण १६५
क्षणिकत्व का निराकरण १६८
परस्पर निरपेक्ष सामान्य विशेष की मान्यता वाले यौगों का निराकरण १७३
अनेकान्तात्मक वस्तु के समर्थन हेतु हेतुद्वय १८१
दो प्रकार का सामान्य १८२
विशेष के दो भेद १८३
पर्याय १८३
आत्मा के व्यापकपने का निराकरण १८४
आत्मा के पृथिव्यादिचतुष्टय रूप होने की असम्भावना १८६
व्यतिरेक १८८
पञ्चम समुद्देश १९०–१९१
प्रमाण के फल १९०
फल प्रमाण से कथञ्चित् अभिन्न है और कथञ्चित् भिन्न है १९०

षष्ठ समुद्देश १९२–२२८
प्रमाण के स्वरूपाभास १९२
प्रत्यक्षाभास २००
परोक्षाभास २००
स्मरणाभास २००
प्रत्यभिज्ञानाभास २०१
तर्काभास २०१
अनुमानाभास २०१
पक्षाभास २०२
हेत्वाभासों के भेद २०४
दृष्टान्ताभास २०९
बालप्रयोगाभास २११
आगमाभास २१२
संख्याभास २१३
विषयाभास २१६
फलाभास २१८
अपने पक्ष के साधन और परपक्ष के दूषण की व्यवस्था २२०
नयों का विवेचन २२१
वाद का लक्षण २२६
पत्र का लक्षण २२६
सूत्रकार का अन्तिम श्लोक २२६
टीकाकार की प्रशस्ति २२८

●

श्रीः

प्रमेयरत्नमाला

नतामरशिरोरत्नप्रभाप्रोतनखत्विषे ।
नमो जिनाय दुर्वारमारवीरमदच्छिदे ॥ १ ॥

(प्रथम समुद्देश)

झुके हुए देवों के मुकुटों के रत्नों की प्रभा से जिनके चरणों के नखों की कान्ति सुशोभित हो रही है तथा जिसका निवारण कठिन है इस प्रकार के वीर कामदेव के मद का जो छेदन करने वाले हैं, ऐसे जिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार हो ॥ १ ॥

विशेषार्थ—नतामर शिरोरत्न इत्यादि का टिप्पणकार ने एक दूसरा अर्थ किया है, जो अन्वय के अनुसार इस प्रकार है—नतामरशिरोरत्नप्रभाप्रोतनखत्विषे = प्रणाम करते हुए चार निकाय के देवों के चंचल मुकुटों में जड़े हुए मणिगणों से जिनके चरणों के नखों की कान्ति सुशोभित हो रही है, ऐसे जिनाय नमः—समस्त भगवान् अर्हत्परमेश्वर समूह को नमस्कार हो। वे अनेक प्रकार के विषम, गहन भव में भ्रमण के कारण पाप समूह को जीतने के कारण जिन कहलाते हैं। 'दुर्वारमारवीरमदच्छिदे'—दुर्वार—अन्य वादियों के द्वारा जिन्हें जीता नहीं जा सकता है अर्थात् जिनकी शक्ति अप्रतिहत है। मां लक्ष्मीं रातीति मारः—लक्ष्मीदायक अर्थात् मोक्षमार्ग के नेता। वीरः-विशेषेण ईर्ते सकलपदार्थजातं प्रत्यक्षी करोतीति वीरः—विशेष रूप से समस्त पदार्थों के समूह को प्रत्यक्ष करने के कारण वीर अर्थात् सर्वज्ञ या समस्त तत्त्वों के ज्ञाता हैं। मारश्च असौ वीरश्च मारवीरः—जो मोक्षमार्ग के नेता और सर्वज्ञ हैं। मदच्छित् मदं मानकषाय छिनत्ति विदारयति इति मदच्छित् = जो मानकषाय का विदारण करते हैं। मारवीरश्चासौ मदच्छिच्च मारवीरमदच्छित् = जो मोक्षमार्ग के नेता, सर्वज्ञ और मानकषाय के विदारक हैं। अथवा मा प्रमेय परिच्छेदकं केवलज्ञानमेव रविः अशेषप्रकाशत्वात्—समस्त पदार्थों का प्रकाशक होने से केवलज्ञान ही जिनका रवि (सूर्य) है। इरा—मृदु, मधुर, गम्भीर,

निरुपम हितकारी दिव्यध्वनि। इनका विग्रह इस प्रकार होगा—मारविश्च इरा च मारवीरे, दुर्वारि कुहेतु दृष्टान्तैर्निवारयितुमशक्ये मारवीरे यस्य स तथोक्तः। मद से यहाँ रागादि उपलक्षित हैं इस प्रकार मदच्छिद् का अर्थ होगा—रागादि समस्त दोषों के विदारक।

'नतामर' इत्यादि पद्य द्वारा ग्रन्थकार लघु अनन्तवीर्य ने मङ्गलाचरण किया है। मङ्गल शब्द की दो व्युत्पत्तियाँ हैं—मङ्गं सुखं लातीति मङ्गलम्—मङ्ग अर्थात् सुख को जो लाए, वह मङ्गल है। मलं गालयति इति मङ्गलम्—अर्थात् जो कर्म मल का विनाश करे, वह मंगल है। मङ्गल स्वरूप आचरण मङ्गलाचरण है। कहा भी है—

आदौ मध्येऽवसाने च मङ्गलं भाषितं बुधैः।
तज्जिनेन्द्रगुणस्तोत्रं तदविघ्नप्रसिद्धये॥ (धवला १-१-१)

आदि, मध्य और अन्त में आने वाले विघ्नों का नाश करने के लिए विद्वानों ने उक्त तीनों ही स्थानों पर मङ्गल कहा है और वह मंगल जिनेन्द्र का गुणस्तवन है।

मंगलाचरण के निम्नलिखित प्रयोजन हैं—

१—नास्तिकता परिहार।
२—शिष्टाचार परिपालन।
३—पुण्य सम्प्राप्ति।
४—निर्विघ्न शास्त्र व्युत्पत्ति, परिसमाप्ति।

प्रश्न—मंगल करके आरम्भ किए गए कार्यों के कहीं पर विघ्न पाए जाने से और उसे न करके भी प्रारम्भ किए गए कार्यों के कहीं पर विघ्नों का अभाव देखे जाने से जिनेन्द्र नमस्कार विघ्न विनाशक नहीं है?

उत्तर—यह कोई दोष नहीं है; क्योंकि जिन व्याधियों की औषधि की गई है, उनका अविनाश और जिनको औषधि नहीं की गई है, उनका विनाश देखे जाने से व्यभिचार ज्ञात होने पर भी काली मिरच आदि द्रव्यों में औषधित्व गुण पाया जाता है।

प्रश्न—औषधियों का औषधित्व तो इसलिए नष्ट नहीं होता कि असाध्य औषधियों को छोड़कर केवल साध्य व्याधियों के विषय में ही उनका व्यापार माना गया है?

उत्तर—तो जिनेन्द्र नमस्कार भी (उसी प्रकार) विघ्न विनाशक माना जा सकता है; क्योंकि उसका भी व्यापार असाध्य विघ्नों के कारणभूत कर्मों को छोड़कर साध्य विघ्नों के कारणभूत कर्मों के विनाश में

अकलङ्कवचोऽम्भोधेरुद्ध्रे येन धीमता।
न्यायविद्यामृतं तस्मै नमो माणिक्यनन्दिने ॥ २ ॥
प्रभेन्दुवचनोदारचन्द्रिकाप्रसरे सति।
मादृशाः क्व नु गण्यन्ते ज्योतिरिङ्गणसन्निभाः ॥ ३ ॥
तथापि तद्वचोऽपूर्वरचनारुचिरं सताम्।
चेतोहरं भृतं यद्वन्नद्या नवघटे जलम् ॥ ४ ॥

देखा जाता है। दूसरी बात यह है कि (सर्वथा) औषध के समान जिनेन्द्र नमस्कार नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार निर्विघ्न अग्नि के होते हुए न जल सकने योग्य ईंधनों का अभाव रहता है (अर्थात् सम्पूर्ण प्रकार के ईंधन भस्म हो जाते हैं), उसी प्रकार उक्त नमस्कार के ज्ञान व ध्यान की सहायता युक्त होने पर असाध्य विघ्नोत्पादक कर्मों का भी अभाव होता है (अर्थात् सब प्रकार के कर्म विनष्ट हो जाते हैं) तहाँ ज्ञान ध्यानात्मक नमस्कार को उत्कृष्ट एवं मन्द श्रद्धानयुक्त नमस्कार को जघन्य जानना चाहिए। शेष असंख्यात लोक प्रमाण भेदों से भिन्न नमस्कार मध्यम है और वे सब समान फल वाले नहीं होते; क्योंकि ऐसा मानने पर अति-प्रसंग दोष आता है (धवला ९।४, १, १।५, १)।

आपने जो यह कहा है कि मंगल करने या न करने पर भी (निर्विघ्नता का अभाव या सद्भाव दिखाई देने से) वहाँ व्यभिचार दिखाई देता है, सो यह कहना अयुक्त है; क्योंकि जहाँ देवता नमस्कार दान, पूजादि रूप धर्म के करने पर भी विघ्न होता है, वहाँ वह पूर्वकृत पाप का ही फल जानना चाहिए, धर्म का दोष नहीं और जहाँ देवता नमस्कार दान पूजादि रूप धर्म के अभाव में भी निर्विघ्नता दिखायी देती है, वह पूर्वकृत धर्म का ही फल जानना चाहिए, पाप का अर्थात् मङ्गल न करने का नहीं। (पंचास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति १।६।४)।

जिस बुद्धिमान् माणिक्यनन्दि ने भट्ट अकलङ्क स्वामी के वचन रूप समुद्र से न्यायविद्यारूप अमृत को प्रकट किया, उन माणिक्यनन्दि आचार्य को हमारा नमस्कार हो ॥ २ ॥

प्रभाचन्द्र नामक आचार्य के वचन रूप उदार चाँदनी का प्रसार होते हुए जुगनू के समान अल्प बुद्धि रूपी ज्योति के धारक हम जैसे लोगों को गणना कहाँ सम्भव है ? अर्थात् कहीं सम्भव नहीं है ॥ ३ ॥

तथापि जिस तरह नदी का नए घड़े में भरा हुआ जल सज्जनों के चित्त का हरण करने वाला होता है, उसी प्रकार प्रभाचन्द्र के वचन

वैजेयप्रियपुत्रस्य हीरपस्योपरोधतः ।
शान्तिषेणार्थमारब्धा परीक्षामुखपञ्जिका ॥ ५ ॥

श्रीमन्न्यायावारपारस्यामेयप्रमेयरत्नसारस्यावगाहनमव्युत्पन्नैः कर्तुं न पार्यत इति तदवगाहनाय प्रोतप्राप्यमिदं प्रकरणमाचार्यः प्राह । तत्प्रकरणस्य च सम्बन्धादित्रयापरिज्ञाने सति प्रेक्षावतां प्रवृत्तिर्न स्यादिति तत्त्रयानुवादपुरस्सरं वस्तुनिर्देशपरं प्रतिज्ञाश्लोकमाह—

प्रमाणादर्थसंसिद्धिस्तदाभासाद्विपर्ययः ।
इति वक्ष्ये तयोर्लक्ष्म सिद्धमल्पं लघीयसः ॥ १ ॥

ही मेरी अपूर्व रचना में भरे जाने पर सज्जनों के मन का हरण करेंगे ॥४॥

वैजेय के प्रिय पुत्र हीरप के अनुरोध से शान्तिषेण नामक शिष्य के पढ़ने के लिए यह परीक्षामुखपञ्जिका प्रारम्भ की गई है ॥ ५ ॥

बाधारहित होने रूप लक्षण से युक्त अथवा श्रद्धानादि गुणों को उत्पन्न करने रूप लक्षण से युक्त अथवा पूर्वापर विरोध से रहितपने रूप लक्षण वाली श्री से युक्त, ऐसा जो नय प्रमाण रूप युक्ति का प्रतिपादन करने से युक्तिशास्त्ररूप न्याय वाला अपार समुद्र है तथा जिसमें अप्रमेय (जिसकी गणना नहीं की जा सकती) रत्नों का सार है, उसके अवगाहन करने के लिए युक्तिशास्त्र के संस्कार से रहित जो अव्युत्पन्न पुरुष हैं, वे असमर्थ हैं अतः उस युक्तिशास्त्र रूप समुद्र में अवगाहन के लिए जहाज के समान इस परीक्षामुख ग्रन्थ को आचार्य माणिक्यनन्दी ने कहा है। उस परीक्षामुख प्रकरण के सम्बन्धादि तीन (सम्बन्ध, अभिधेय और शक्यानुष्ठान रूप इष्ट प्रयोजन) के जाने बिना विचार करने में चतुर चित्त वालों की प्रवृत्ति नहीं हो सकती अतः उक्त अर्थ के पुनः कथन रूप तीनों के अनुवाद पूर्वक वस्तु का निर्देश करने वाले अर्थात् प्रमाण और प्रमाणाभास रूप अभिधेय का कथन करने वाले प्रतिज्ञा श्लोक को कहते हैं। (वर्तमान का अङ्गीकार प्रतिज्ञा है) ।.....

श्लोकार्थ—प्रमाण से अर्थात् सम्यक् ज्ञान से अर्थ की सम्यक् प्रकार सिद्धि होती है और प्रमाणाभास से अर्थ की सम्यक् प्रकार सिद्धि नहीं होती है। इसलिए मैं प्रमाण और प्रमाणाभास का प्रसिद्ध संक्षिप्त लक्षण कनिष्ठजनों अर्थात् मन्दबुद्धियों के लिए कहूँगा ॥ १ ॥

विशेष—यद्यपि अर्थ शब्द विषय, मोक्ष, शब्द वाच्य, प्रयोजन, व्यवहार, धन, शास्त्र इत्यादि अनेक अर्थों में प्रसिद्ध है तथापि यहाँ इसको

अस्यार्थः—अहं वक्ष्ये प्रतिपादयिष्ये। किं तत् ? लक्ष्म लक्षणम्[1]। किंविशिष्टं लक्ष्म ? सिद्धम्, पूर्वाचार्यप्रसिद्धत्वात्। पुनरपि कथम्भूतम् ? अल्पम्, अल्पग्रन्थवाच्यत्वात्। ग्रन्थतोऽल्पमर्थतस्तु महदित्यर्थः। कान् ? लघीयसो विनेयानुद्दिश्य। लाघवं मतिकृतमिह गृह्यते, न परिमाणकृतं नापि कालकृतम्, तस्य [2]प्रतिपाद्यत्वव्यभिचारात्[3]। कयोस्तल्लक्ष्म ? तयोः प्रमाण-तदाभासयोः। कुतः ? यतोऽर्थस्य परिच्छेद्यस्य संसिद्धिः सम्प्राप्तिर्ज्ञप्तिर्वा भवति। कस्मात् ? प्रमाणात्। न

व्युत्पत्ति है—'अर्यते गम्यते ज्ञायते यः सोऽर्थः'—जिसे जाना जाता है, वह अर्थ है। जो जैसा नहीं होने पर भी उसके समान प्रतिभासित होता है वह तदाभास है। अपनी रुचि से मैं प्रमाण और प्रमाणाभास का लक्षण नहीं कह रहा हूँ, अपितु इनका पूर्वाचार्यों द्वारा प्रसिद्ध लक्षण कह रहा हूँ, एतदर्थ सिद्ध यह विशेषण दिया है। पिष्टपेषण के परिहार के लिए अल्प यह विशेषण दिया है। लघीयसः से तात्पर्य मन्दमतियों को है।

इसका अर्थ है—मैं प्रतिपादन करूँगा। वह क्या ? लक्ष्म = लक्षण। वह लक्षण कैसा है ? सिद्ध है; क्योंकि पूर्वाचार्यों से प्रसिद्ध है। पुनः कैसा है। अल्प है; क्योंकि अल्प शब्दों से रचे गए ग्रन्थ के द्वारा कहा गया है। यद्यपि वह लक्षण ग्रन्थ की अपेक्षा अल्प है तथापि अर्थ की अपेक्षा महान् है। यह लक्षण किनके लिए कहा जा रहा है ? लघु शिष्यों को लक्ष्य करके। यहाँ पर लाघव बुद्धि की अपेक्षा ग्रहण किया जाता है। परिमाणकृत और कालकृत नहीं; क्योंकि उसका प्रतिपाद्य शिष्य के साथ व्यभिचार देखा जाता है। तात्पर्य यह कि लाघव तीन प्रकार का है—मतिकृत, कालकृत और कायपरिमाणकृत। इनमें से अन्त के दो लाघव ग्राह्य नहीं हैं; क्योंकि उन दोनों का प्रतिपाद्य शिष्य के साथ व्यभिचार देखा जाता है। कालकृत लाघव को मानें तो आठ वर्ष के ज्ञान सम्पन्न संयत से व्यभिचार दोष आ जाता है। कालकृत लाघव ग्रहण करें तो जिसे शास्त्र विदित है, ऐसे कुबड़े आदि से व्यभिचार देखा जाता है। अर्थात् कितने ही कुबड़े अधिक ज्ञानी दिखाई देते हैं। किनका लक्षण कहा जायगा ? प्रमाण और प्रमाणाभास का। कैसे ? क्योंकि ज्ञेय पदार्थ की भले प्रकार सिद्धि, सम्प्राप्ति अथवा ज्ञप्ति होती है। किससे ? प्रमाण से। प्रमाण से केवल

---

१. व्यतिकीर्णवस्तुव्यावृत्तिहेतुर्लक्षणम्।

२. शिष्यत्व।

३. साध्याभावे प्रवर्तमानो हेतुर्व्यभिचारी भवति।

केवलं प्रमाणादर्थसंसिद्धिर्भवति, विपर्ययो भवति—अर्थसंसिद्धयभावो भवति। कस्मात्। तदाभासात् प्रमाणाभासात्। [1]इतिशब्दो हेत्वर्थे, इति हेतोः। अयमत्र समुदायार्थः—यतः कारणात्प्रमाणादर्थसंसिद्धिर्भवति, यस्माच्च तदाभासाद्विपर्ययो भवति; इति हेतोस्तयोः प्रमाण—तदाभासयोर्लक्ष्म लक्षणमहं वक्ष्ये इति।

ननु सम्बन्धाभिधेयशक्यानुष्ठानेष्टप्रयोजनवन्ति हि शास्त्राणि भवन्ति। [2]तत्रास्य प्रकरणस्य यावदभिधेयं सम्बन्धो वा नाभिधीयते, न तावदस्योपादेयत्वं भवितुमर्हति; एष वन्ध्यासुतो यातीत्यादिवाक्यवत्, दश दाडिमादिवाक्यवच्च। तथा शक्यानुष्ठानेष्टप्रयोजनमपि शास्त्रादाववश्यं वक्तव्यमेव, अशक्यानुष्ठानेष्टप्रयोजनस्य सर्वज्ञवरहस्तक्षकचूडारत्नालङ्कारोपदेशस्येव प्रेक्षावद्भिरनादरणीयत्वात्। तथा शक्यानुष्ठानस्याप्यनिष्टप्रयोजनस्य विद्वद्भिरवधीरणा[3] न्मातृविवाहा-

---

पदार्थ का सम्यक् सिद्धि ही नहीं होती है, विपर्यय भी होता है—अर्थ की सम्यक् प्रकार की सिद्धि का अभाव होता है। कैसे? तदाभास—प्रमाणाभास से। इति शब्द हेतु अर्थ में है—इति हेतोः—इस कारण यहाँ यह समुदायार्थ है—चूँकि प्रमाण से अर्थ की भले प्रकार सिद्धि होती है, और प्रमाणाभास से विपर्यय होता है अतः प्रमाण और प्रमाणाभास का लक्षण मैं कहूँगा।

शङ्का—शास्त्र निश्चित रूप से सम्बन्ध, अभिधेय और शक्यानुष्ठान—इष्ट प्रयोजन वाले होते हैं। इनमें से इस प्रकरण का जब तक अभिधेय अथवा सम्बन्ध नहीं कहा जायगा, तब तक इसकी उपादेयता होनी योग्य नहीं है। जैसे—यह खरगोश के सींग का धनुष धारण करने वाला, आकाश कुसुम का सेहरा धारण किए हुए वन्ध्या का पुत्र मृगतृष्णा में स्नान कर जा रहा है। यहाँ पर सम्बन्ध है। किन्तु अभिधेयत्व नहीं है। दश अन्तर हैं। छः पूवा हैं, यह बकरे का चमड़ा है। इन वाक्यों में अभिधेयत्व होने पर भी सम्बन्ध नहीं है। उसी प्रकार शास्त्र के आदि में शक्यानुष्ठान—इष्ट प्रयोजन भी अवश्य कहना चाहिए; क्योंकि जो बात इष्ट प्रयोजन वाली होते हुए भी अशक्यानुष्ठान हो अर्थात् जिसका अनुष्ठान करना सम्भव न हो, वह भी बुद्धिमानों के द्वारा आदरणीय नहीं होती है। जैसे किसी पुरुष से यह कहना कि तक्षक नाग के मस्तक के मणि का अलङ्कार धारण करने से समस्त ज्वर रोग दूर हो जाते हैं। जो बात शक्यानुष्ठान होते हुए भी अनिष्ट प्रयोजन वाली होती है, वह

---

१. इति हेतुप्रकरणप्रकर्षादिसमाप्तिषु।
२. एवं सति त्रिषु।
३. अनादरणीयत्वात्।

दिप्रदर्शक[1]वाक्यवदिति। सत्यम्[2], प्रमाण-तदाभासपदोपादानादभिधेयमभिहितमेव, प्रमाण-तदाभासयोरनेन प्रकरणेनाभिधानात्। सम्बन्धश्चार्थायातः प्रकरण तदभिधेययोर्वाच्य-वाचक भावलक्षणः प्रतीयत एव। तथा प्रयोजनं चोक्तलक्षणमादिश्लोकेनैव संलक्ष्यते। प्रयोजनं हि द्विधा भिद्यते—साक्षात्परम्परयेति। तत्र साक्षात्प्रयोजनं 'वक्ष्ये' इत्यनेनाभिधीयते, प्रथमं शास्त्र[3]व्युत्पत्तेरेव विनेयैरन्वेषणात्। पारम्पर्येण तु प्रयोजनमर्थसंसिद्धिरित्यनेनोच्यते, शास्त्रव्युत्पत्त्यनन्तरभावित्वादर्थसंसिद्धेरिति। ननु निःशेषविघ्नोपशमनायेष्टदेवतानमस्कारः शास्त्रकृता कथं न कृत इति न वाच्यम्; तस्य मनःकायाभ्यामपि सम्भवात्। अथवा वाचनिकोऽपि नमस्कारोऽनेनैवादि वाक्येनाभिहितो वेदितव्यः; केषाञ्चिद्वाक्यानामुभयार्थप्रति-

---

भी विद्वानों के द्वारा तिरस्करणीय होती है। जैसे—माता से विवाह करने के प्रदर्शक वाक्य। माता के साथ विवाह शक्य है, किन्तु वह बुद्धिमानों के द्वारा तिरस्करणीय है।

समाधान—आपकी बात सही है। प्रमाण और प्रमाणाभास पदों के ग्रहण करने से अभिधेय का कथन हो ही गया; क्योंकि इस प्रकरण ग्रन्थ के द्वारा प्रमाण और प्रमाणाभास का कथन हो ही गया। और सम्बन्ध अर्थ-प्राप्त है; क्योंकि इस प्रकरण ग्रन्थ में और उसके द्वारा अभिधेय प्रमाण और प्रमाणाभास में वाच्य-वाचक भावरूप लक्षण वाला सम्बन्ध स्पष्टतः प्रतीत हो रहा है। इसी प्रकार प्रयोजन भी इसी आदिम श्लोक से भली भाँति लक्षित हो रहा है। प्रयोजन के दो भेद होते हैं—१. साक्षात् २. परम्परा से। (शास्त्र व्युत्पत्ति रूप) साक्षात्प्रयोजन 'वक्ष्ये' इस पद के द्वारा कहा गया है। शिष्य शास्त्र की व्युत्पत्ति का सबसे पहले अन्वेषण करते है। परम्परा से प्रयोजन 'अर्थ संसिद्धि' इस पद के द्वारा कहा गया है; क्योंकि पदार्थ की भले प्रकार सिद्धि शास्त्र की व्युत्पत्ति के अनन्तर ही होती है। यहाँ यह नहीं कहना चाहिए कि समस्त विघ्नों की उपशान्ति के लिए शास्त्रकार ने इष्टदेवता को नमस्कार क्यों नहीं किया; क्योंकि यह तो मन और काय से भी संभव है। अथवा वाचनिक नमस्कार भी इसी आदि वाक्य से कहा हुआ जानना चाहिए; क्योंकि कितने ही वाक्य उभय अर्थ का

---

१. यजुर्वेदप्रवृत्तिलक्षणे मातरमपि विवृणीयात् पुत्रकाम इति श्रुतिः।

२. अर्धाङ्गीकारे।

३. मतेर्विशेषेण संशयादिव्यवच्छेदेनोत्पत्तिः व्युत्पत्तिरिति व्युत्पत्तेर्लक्षणम्।

पादनपरत्वेनापि दृश्यमानत्वात्। यथा श्वेतो धावतीत्युक्ते 'श्वा इतो धावति, श्वेतगुणयुक्तो धावति' इत्यर्थद्वयप्रतीतिः। तत्रादिवाक्यस्य नमस्कारपरताऽभिधीयते—अर्थस्य हेयोपादेयलक्षणस्य संसिद्धिर्ज्ञप्तिर्भवति। कस्मात्? प्रमाणात्। अनन्तचतुष्टयस्वरूपान्तरङ्गलक्षणा, समवसरणादिस्वभावा बहिरङ्गलक्षणा लक्ष्मीर्मा इत्युच्यते। अणनमाणः[1] शब्दः, मा च आणश्च माणौ। प्रकृष्टौ माणौ यस्यासौ प्रमाणः। हरि-हरादिसम्भविविभूतियुक्तो दृष्टेष्टाविरुद्धवाक् च भगवान्नर्हन्नेवाभिधीयत इत्यसाधारणगुणोपदर्शनमेव भगवतः संस्तवनमभिधीयते। तस्मात् प्रमाणादवधिभूतादर्थसंसिद्धिर्भवति, तदाभासाच्च हरि-हरादेरर्थसंसिद्धिर्न भवति; इति हेतोः सर्वज्ञ-तदाभासयोर्लक्ष्म लक्षणमहं वक्ष्ये—'सामग्रीविशेषेत्यादिना'।

अथेदानीमुपक्षिप्तप्रमाणतत्त्वे स्वरूप-सङ्ख्या-विषय-फललक्षणासु चतसृषु

प्रतिपादन करने वाले देखे जाते हैं। जैसे—'श्वेतो धावति' ऐसा कहे जाने पर "श्वा-(कुत्ता) इधर दौड़ता है" और 'श्वेत गुण युक्त' दौड़ता है, इस प्रकार दो अर्थों को प्रतीति होती है। आदि वाक्य की नमस्कार-परता कही जाती है—हेयोपादेय रूप लक्षण वाले पदार्थ की संसिद्धि-ज्ञप्ति है। किससे? प्रमाण से। अनन्त चतुष्टय रूप अन्तरङ्ग लक्षण वाली और समवशरणादिस्वभावा बहिरङ्ग लक्षणा लक्ष्मी 'मा' कही जाती है। जिसके द्वारा कथन किया जाता है वह 'अणनमाणः शब्दः' अथवा 'अण्यते शब्द्यते येनासावाणः' व्युत्पत्ति के अनुसार आण अर्थात् दिव्यध्वनि कही जाती है। 'मा च आणश्च माणौ' इस प्रकार द्वन्द्व समास करने पर माण शब्द बनता है। 'प्रकृष्टौ माणौ यस्यासौ प्रमाणः' यह प्रमाण शब्द का विग्रह है। प्र = प्रकृष्ट, माणः—अन्तरंग, बहिरंग लक्ष्मी और दिव्यध्वनि जिसके पायी जाय अर्थात् अरहन्त देव। इस प्रकार प्रमाण शब्द से हरि, हर आदि में जो विभूति असम्भव है तथा जिनकी वाणी प्रत्यक्ष और अनुमान से विरुद्ध नहीं है, ऐसे भगवान् अर्हन्त देव ही कहे जाते हैं। इस प्रकार असाधारण गुणों को प्रदर्शित करना ही भगवान् का संस्तवन कहा जाता है। अतः अवधिभूत (प्रथम कारणभूत) प्रमाण से अर्थ की संसिद्धि होती है और प्रमाणाभास—हरि हरादिक से अर्थ की संसिद्धि नहीं होती है। अतः सर्वज्ञ और सर्वज्ञाभास का लक्षण मैं कहूँगा—सामग्री विशेष इत्यादि से।

अब आगे जिसका कथन प्रारम्भ किया है, उस प्रमाण तत्त्व के विषय में स्वरूप, संख्या, विषय और फल लक्षण वाली चार विप्रतिपत्तियों के

---

१. अण्यते शब्द्यते येनासावाणः, दिव्यध्वनिरित्यर्थः।

विप्रतिपत्तिषु मध्ये स्वरूपविप्रतिपत्तिनिराकरणार्थमाह—

मध्य में स्वरूप विप्रतिपत्ति के निराकरण के लिए कहते हैं--

विशेषार्थ—स्वरूप विप्रतिपत्ति जैसे—आर्हत् मतानुयायी स्वापूर्वार्थ-व्यवसायात्मक ज्ञान को प्रमाण मानते हैं। कपिल के अनुयायी इन्द्रिय वृत्ति को प्रमाण मानते हैं। प्रभाकर के अनुयायी प्रमाता के व्यापार को प्रमाण कहते हैं। भट्ट के अनुयायी अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणम् ऐसा कहते हैं। बौद्ध लोग अविसंवादि ज्ञान को प्रमाण मानते हैं। यौग (न्याय-वैशेषिक) प्रमा के करण को प्रमाण कहते हैं। जयन्त के अनुयायी कारक साकल्य को प्रमाण कहते हैं। इन्द्रिय और पदार्थ का सम्बन्ध सन्निकर्ष है। कारकों के समूह का नाम कारक साकल्य है। लघु नैयायिक सन्नि-कर्ष को प्रमाण मानते हैं। वृद्ध नैयायिक कारक साकल्य को प्रमाण मानते हैं।

संख्या विप्रत्तिपत्ति—चार्वाक केवल प्रत्यक्ष को प्रमाण मानते हैं। बौद्ध प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाण मानते हैं। सांख्य प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द तीन प्रमाण मानते हैं। नैयायिक प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द चार प्रमाण मानते हैं। प्रभाकर के अनुयायी प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द और अर्थापत्ति इन पाँच प्रमाणों को मानते हैं। भट्ट के अनुयायी प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अभाव ये छः प्रमाण मानते हैं। पौराणिक इनके अतिरिक्त संभव और ऐतिह्य प्रमाणों को मानते हैं। यह सब युक्त नहीं हैं। जैनों का कहना है कि प्रमाण दो प्रकार का होता है—१-प्रत्यक्ष २-परोक्ष।

विषय विप्रतिपत्ति—कपिल के अनुयायी और पुरुषाद्वैतवादी कहते हैं कि प्रमाणतत्त्व का सामान्य ही विषय है, विशेष नहीं। बौद्ध कहते हैं कि प्रमाण तत्त्व का विशेष ही विषय है, सामान्य नहीं। यौगों का कहना है कि प्रमाण का विषय सामान्य और विशेष दोनों स्वतन्त्र रूप से है। मीमांसक अभेद रूप से सामान्य और विशेष को प्रमाण का विषय मानते हैं। जैन लोग सामान्य और विशेष में कथञ्चित् भेद और कथञ्चित् अभेद मानकर सामान्यविशेषात्मक वस्तु को प्रमाण का विषय मानते हैं।

फल विप्रतिपत्ति—कपिल के अनुयायी और योग फल को प्रमाण से भिन्न मानते हैं। बुद्ध के अनुयायी प्रमाण से फल को अभिन्न ही मानते हैं। जैन कहते हैं कि प्रमाण से फल कथंचित् भिन्न है, कथञ्चित् अभिन्न है।

स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम् ॥१॥

प्रकर्षेण संशयादिव्यवच्छेदेन मीयते परिच्छिद्यते वस्तुतत्त्वं येन तत्प्रमाणम् । तस्य च ज्ञानमिति विशेषणमज्ञानरूपस्य [1]सन्निकर्षादेर्नैयायिकादिपरिकल्पितस्य प्रमाणत्वव्यवच्छेदार्थमुक्तम् । तथा ज्ञानस्यापि स्वसंवेदनेन्द्रियमनोयोगिप्रत्यक्षस्य निर्विकल्पस्य प्रत्यक्षत्वस्य प्रामाण्यं सौगतैः परिकल्पितम्, तन्निरासार्थं व्यवसायात्मकग्रहणम् । तथा बहिरर्थापह्नोतृणां[2] विज्ञानाद्वैतवादिनां पुरुषाद्वैतवादिनां पश्यतोहराणां[3] शून्यैकान्तवादिनाञ्च विपर्यासव्युदासार्थमर्थग्रहणम् । अस्य चापूर्वविशेषणं गृहीतग्राहिधारावाहिज्ञानस्य प्रमाणतापरिहारार्थमुक्तम् । तथा परोक्षज्ञानवादिनां मीमांसकानामस्वसंवेदनज्ञानवादिनां सांख्यानां ज्ञानान्तरप्रत्यक्षज्ञानवादिनां योगानाञ्च मतमपाकर्तुं स्वपदोपादानम् । इत्यव्याप्त्यतिव्याप्त्यसम्भवदोषपरिहा-

---

सूत्रार्थ—अपने आपके और अपूर्वार्थ अर्थात् जिसे किसी अन्य प्रमाण से जाना नहीं है ऐसे पदार्थ के निश्चय करने वाले ज्ञान को प्रमाण कहते हैं ॥ १ ॥

जिसके द्वारा प्रकर्ष से संशय आदि (आदि शब्द से विपर्यय और अनध्यवसाय का ग्रहण होता है) के निराकरण से वस्तु तत्त्व जाना जाय, वह प्रमाण है । सूत्र में ज्ञान यह विशेषण नैयायिकादि के द्वारा परिकल्पित सन्निकर्षादि के प्रमाणत्व के निराकरण के लिए कहा गया है । बौद्धों ने स्वसंवेदन, इन्द्रिय प्रत्यक्ष, मनो प्रत्यक्ष और योगि प्रत्यक्ष रूप निर्विकल्प प्रत्यक्ष रूप ज्ञान का प्रामाण्य कल्पित किया है, उसके निराकरण के लिए व्यवसायात्मक पद का ग्रहण किया है । बाह्य पदार्थ का अपलाप करने वाले विज्ञानाद्वैतवादी तथा पुरुषाद्वैतवादी एवं देखते हुए भी अनादर करके लोप करने वाले शून्यैकान्तवादियों की विपरीतता का निराकरण करने हेतु अर्थ पद का ग्रहण किया है । सूत्र में जो अपूर्व विशेषण कहा गया है, वह गृहीतग्राहि धारावाहिक ज्ञान की प्रमाणता का निराकरण करने के लिए कहा गया है । तथा परोक्षज्ञानवादी मीमांसक, अस्वसंवेदनवादी सांख्य, ज्ञानान्तर प्रत्यक्ष ज्ञानवादी योग (न्याय-वैशेषिक) के मत का निराकरण करने के लिए स्व पद का ग्रहण किया है । इस प्रकार अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असंभव दोष का निराकरण करने से प्रमाण का लक्षण

---

१. इन्द्रियार्थयोः सम्बन्धः सन्निकर्षः । कारकाणां समूहः कारकसाकल्यम् । लघुनैयायिकानां सन्निकर्षो जरन्नैयायिकानां कारकसाकल्यम्, कापिलानामिन्द्रियवृत्तिः प्राभाकराणां ज्ञातृव्यापारोऽज्ञानरूपोऽपि ।

२. अपलापिनाम् ।

३. पश्यन्तमनादृत्य हर्तृणाम् ।

रात् सुव्यवस्थितमेव प्रमाणलक्षणम् । अस्य च प्रमाणस्य यथोक्तलक्षणत्वे साध्ये प्रमाणत्वादिति हेतुरत्रैव द्रष्टव्यः, प्रथमान्तस्यापि हेतुपरत्वेन निर्देशोपपत्तेः; प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं' इत्यादिवत् ।

सुव्यवस्थित है। इस प्रमाण के यथोक्त लक्षणत्व के साध्य होने पर प्रमाणत्व यह हेतु यहीं देखना चाहिए। प्रमाण पद प्रथमान्त होने पर भी इसका हेतु के रूप में निर्देश उचित है। जैसे 'प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं'—विशद ज्ञान प्रत्यक्ष है। यहाँ प्रत्यक्ष धर्मी है, विशद ज्ञान साध्य है और प्रत्यक्षत्व हेतु है। टिप्पणकार ने एक अन्य उदाहरण दिया है—'गुरवो राजमाषा न भक्षणीया' यहाँ प्रथमान्त होने पर भी गुरुत्वाद्, यह हेतु है।

विशेष—'मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्' इस सूत्र में सम्यग्ज्ञानों का सामान्य ज्ञान पद से संग्रह होने से हेतु हेतुमद्भाव के ज्ञापन के लिए 'ज्ञानम्' यह प्रथक् पद है। ज्ञान प्रमाण होने के योग्य है; क्योंकि वह अपने आपके और अपूर्वार्थ का निश्चय कराने वाला होने के कारण। यहाँ पर 'ज्ञानम्' इस विशेषण से अव्याप्ति दोष का परिहार है। 'व्यवसायात्मकम्' इस विशेषण से अतिव्याप्ति का निराकरण होता है। स्व पद से असम्भव दोष का निराकरण होता है।

सामान्य का प्रत्यक्ष होने और विशेष का प्रत्यक्ष न होने तथा विशेष की स्मृति से संशय होता है।

इन्द्रिय और पदार्थ का सम्बन्ध सन्निकर्ष है। कारकों का समूह कारक साकल्य है। लघुनैयायिक सन्निकर्ष और वृद्धनैयायिक कारक-साकल्य मानते हैं। सांख्य इन्द्रियवृत्ति को प्रमाण मानते हैं। प्रभाकर के अनुयायी अज्ञान रूप भी ज्ञातृव्यापार को प्रमाण मानते हैं। बौद्धों के अनुसार इन्द्रिय का ज्ञान इन्द्रिय ज्ञान है। जो इन्द्रिय के आश्रित (इन्द्रियजन्य) है, वह प्रत्यक्ष (इन्द्रिय ज्ञान कहलाता है)। समस्त चित्त (विज्ञान) और चैत्त (विशेष अवस्था का ग्रहण करने वाले सुख आदि) पदार्थों का आत्मसंवेदन (या स्वसंवेदन) प्रत्यक्ष होता है। अपने (स्व = इन्द्रिय के) विषय (क्षण) के अनन्तर होने वाला (समानजातीय द्वितीय क्षण) है सहकारी जिसका ऐसे इन्द्रिय ज्ञान द्वारा समनन्तर प्रत्यय के रूप से उत्पादित ज्ञान मनोविज्ञान (नामक प्रत्यक्ष) है। यथार्थ वस्तु (क्षणिक वस्तु) की भावना के प्रकर्ष पर्यन्त से उत्पन्न होने वाला योगियों का ज्ञान योगिप्रत्यक्ष है।

तथाहि–प्रमाणं स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं भवति, प्रमाणत्वात् । यत्तु स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं न भवति, न तत्प्रमाणम्, यथा [1]संशयादिर्घटादिश्च । प्रमाणञ्च विवादापन्नम्[2] । तस्मात्स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानमेव भवतीति । न च प्रमाणत्वमसिद्धम्; सर्वप्रमाणस्वरूपवादिनां प्रमाणसामान्ये विप्रतिपत्त्यभावात्, अन्यथा स्वेष्टानिष्टसाधन-दूषणायोगात् ।

अथ धर्मिण एव हेतुत्वे प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्धो हेतुः स्यादिति चेन्न; विशेषं धर्मिणं कृत्वा सामान्यं हेतुं ब्रुवतां दोषाभावात् ।

'एतेनापक्षधर्मत्वमपि प्रत्युक्तम्, सामान्यस्याशेषविशेषनिष्ठत्वात् । न च पक्षधर्मताबलेन हेतोर्गमकत्वम्, अपि त्वन्यथानुपपत्ति[3]बलेनेति । सा चात्र नियमवती[4] विपक्षे बाधकप्रमाणबलान्निश्चितैव । एतेन विरुद्धत्वमनैकान्तिकत्वञ्च

स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान प्रमाण है; क्योंकि उसमें प्रमाणता पायी जाती है । जो स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान नहीं होता है, वह प्रमाण नहीं है । जैसे—संशयादिक तथा घटादिक । ये चूँकि स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मक नहीं हैं, अतः प्रमाण नही हैं । प्रमाण विवाद को प्राप्त है । अतः स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान ही होता है । प्रमाणत्व असिद्ध भी नहीं है; क्योंकि प्रमाण का स्वरूप कहने वाले समस्त वादियों को प्रमाण सामान्य के विषय में किसी प्रकार की विप्रतिपत्ति नहीं है, अन्यथा अपने इष्ट तत्त्व का साधन तथा अनिष्ट तत्त्व का दूषण नहीं बन सकता है ।

शङ्का—धर्मी के ही हेतु रूप मानने पर प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्ध नामक हेत्वाभास हो गया ।

समाधान—यह शङ्का ठीक नहीं है । विशेष को धर्मी मानकर सामान्य का हेतु के रूप में कथन करने पर दोष का अभाव प्राप्त होता है ।

हेतु के अन्यथानुपपत्ति नियम रूप निश्चय के इस समर्थन से हेतु की अपक्षधर्मता का भी निराकरण हो गया; क्योंकि सामान्य अपने समस्त विशेषों में व्याप्त होकर रहता है । पक्षधर्मता के बल से हेतु की साध्य के प्रति गमकता नहीं है, अपितु अन्यथानुपपत्ति के बल से ही साध्य के प्रति गमकता है । वह अन्यथानुपपत्ति यहाँ नियम से है । अर्थात् प्रमाणत्व

---

१. बौद्धान् प्रति दृष्टान्तः ।
२. निगमनम् ।
३. साध्याभावे साधनाभावः ।
४. अविनाभाववती ।

निरस्तं बोद्धव्यम्। विरुद्धस्य व्यभिचारिणश्चाविनाभावनियमनिश्चयलक्षणत्वायोगात्। अतो भवत्येव साध्यसिद्धिरिति केवलव्यतिरेकिणोऽपि हेतोर्गमकत्वात्, सात्मकं जीवच्छरीरं प्राणादिमत्त्वादितिवत्।

अथेदानीं स्वोक्तप्रमाणलक्षणस्य ज्ञानमिति विशेषणं समर्थयमानः प्राह—

हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत् ॥२॥

हितं सुखं तत्कारणञ्च। अहितं दुःखं तत्कारणञ्च। हितं चाहितं च हिताहिते। तयोः प्राप्तिश्च परिहारश्च, तत्र समर्थम्। 'हि' शब्दो यस्मादर्थे। तेनायमर्थः सम्पादितो भवति—यस्माद्धिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं प्रमाणम्, ततस्त-

---

हेतु की स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान रूप साध्य के साथ अन्यथानुपपत्ति निश्चित रूप से है। इसलिए वह बाधक विपक्ष (संशयादिक) में बाधक प्रमाण के बल से निश्चित ही है। इस कथन से (साध्य विपरीत व्याप्त) विरुद्ध और (सव्यभिचार) अनैकान्तिक का भी निराकरण जानना चाहिए; क्योंकि विरुद्ध हेतु के और व्यभिचारी हेतु के अविनाभावरूप नियम के निश्चयस्वरूप लक्षणपने का अभाव है। अतः प्रमाणत्व हेतु से साध्य की सिद्धि होती ही है; क्योंकि केवल व्यतिरेकी हेतु भी गमक है। जैसे—जीता हुआ शरीर आत्मा सहित है; क्योंकि वह प्राणादिमान् है। जो आत्मा सहित नहीं होता है वह प्राणादिमान् नहीं देखा गया। जैसे—मृतक शरीर।

विशेष—साध्य के अभाव में साधन अर्थात् हेतु का न होना अविनाभाव है। अतएव एक मुहूर्त बाद शकट का उदय होगा; क्योंकि कृत्तिका का उदय हो रहा है, इत्यादि में कृत्तिकोदय शकट का धर्म नहीं होता है। साध्य के बिना हेतु का न होना विद्यमान नहीं है।

प्रमाण का असाधारण स्वरूप कहने के अनन्तर इस समय अपने कहे गए प्रमाण के लक्षण में 'ज्ञान' इस विशेषण का समर्थन करते हुए कहते हैं—

सूत्रार्थ—चूँकि प्रमाण हित की प्राप्ति और अहित का परिहार करने में समर्थ है, अतः वह ज्ञान ही हो सकता है ॥२॥

सुख (माला, वस्त्रादि) और सुख के कारण (सम्यग्दर्शनादि) को हित कहते हैं। दुःख (कण्टकादि) और दुःख के कारण (मिथ्यात्वादि) को अहित कहते हैं। हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थ का विग्रह इस प्रकार होगा—'हितं चाहितं च हिताहिते, तयोः प्राप्तिश्च परिहारश्च तत्र समर्थम्'। हि शब्द हेतु के अर्थ में है। उससे यह अर्थ सम्पादित होता है—चूँकि हित की प्राप्ति और अहित के परिहार में समर्थ प्रमाण

त्प्रमाणत्वेनाभ्युपगतं वस्तु ज्ञानमेव भवितुमर्हति, नाज्ञानरूपं सन्निकर्षादिः। तथा च प्रयोगः—प्रमाणं ज्ञानमेव, हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थत्वात्। यत्तु न ज्ञानं तन्न हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थम्, यथा घटादि। हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थञ्च विवादापन्नम्, तस्माज्ज्ञानमेव भवतीति। न चैतदसिद्धम्, हितप्राप्तयेऽहितपरिहाराय च प्रमाणमन्वेषयन्ति प्रेक्षापूर्वकारिणो न व्यसनितया[1]; सकलप्रमाणवादिभिरभिमतत्वात्।

अत्राह सौगतः—भवतु नाम सन्निकर्षादिव्यवच्छेदेन ज्ञानस्यैव प्रामाण्यम्', न तदस्माभिर्निषिध्यते। तत्तु व्यवसायात्मकमेवेत्यत्र न युक्तिमुत्पश्यामः। अनुमानस्यैव व्यवसायात्मनः प्रामाण्याभ्युपगमात्। प्रत्यक्षस्य तु निर्विकल्पकत्वेऽप्यविसंवादकत्वेन प्रामाण्योपपत्तेरिति तत्राह—

तन्निश्चयात्मकं समारोपविरुद्धत्वादनुमानवत् ॥३॥

है अतः वह प्रमाण के रूप में मानी गई वस्तु ज्ञान ही होने के योग्य है, अज्ञान रूप सन्निकर्षादि नहीं। अनुमान प्रयोग इस प्रकार होगा—प्रमाण ज्ञान ही है; क्योंकि वह हित की प्राप्ति और अहित का परिहार करने में समर्थ है। जो ज्ञान नहीं होता है, वह हित की प्राप्ति और अहित का परिहार करने में समर्थ नहीं होता है। जैसे घटादि। हित की प्राप्ति और अहित का परिहार करने में समर्थ प्रमाण है अतः वह ज्ञान ही हो सकता है। यह बात असिद्ध नहीं है। क्योंकि हित की प्राप्ति और अहित के परिहार के लिए विचारपूर्वक कार्य करने वाले प्रमाण का अन्वेषण करते हैं, व्यसन रूप से नहीं, यह बात समस्त प्रमाणवादियों को इष्ट है।

विशेष—कार्य के बिना प्रवृत्ति व्यसन है।

यहाँ पर बौद्ध कहते हैं—सन्निकर्षादि का निराकरण करने से ज्ञान का ही प्रामाण्य हो (क्योंकि वह उपादेयभूत अर्थक्रिया के प्रसाधक अर्थ का प्रदर्शक है), उसका हम निषेध नहीं करते हैं। किन्तु वह ज्ञान निश्चयात्मक ही हो। यहाँ पर हम कोई युक्ति नहीं देखते हैं। क्योंकि हम लोगों ने निश्चयात्मक अनुमान की ही प्रमाणता निश्चित की है। (कल्पनापोढ़ अभ्रान्त रूप) प्रत्यक्ष तो निर्विकल्पक है अतः (निश्चयात्मक न होने पर भी) अविसंवादक होने से उसका प्रामाण्य प्राप्त होता है, ऐसा कहने वाले बौद्धों के प्रति कहा है—

सूत्रार्थ—वह ज्ञान निश्चयात्मक है; क्योंकि वह समारोप का विरोधी है, जैसे अनुमान ॥ ३ ॥

---

१. कार्यं विना प्रवृत्तिर्व्यसनम्।

तत्प्रमाणत्वेनाभ्युपगतं वस्त्विति धर्मिनिर्देशः। व्यवसायात्मकमिति साध्यम्। समारोपविरुद्धत्वादिति हेतुः। अनुमानवदिति दृष्टान्तः इति। अयमभिप्रायः—संशयविपर्यासानध्यवसायस्वभावसमारोपविरोधिग्रहणलक्षणव्यवसायात्मकत्वे सत्येवाविसंवादित्वमुपपद्यते। अविसंवादित्वे च प्रमाणत्वमिति [1]चतुर्विधस्यापि समक्षस्य प्रमाणत्वमभ्युपगच्छता समारोपविरोधिग्रहणलक्षणं निश्चयात्मकमभ्युपगन्तव्यम्। ननु तथापि समारोपविरोधिव्यवसायात्मकत्वयोः समानार्थकत्वात्

वह प्रमाण के रूप में स्वीकारी हुई वस्तु, इस प्रकार धर्मी का निर्देश किया है। व्यवसायात्मक (निश्चयात्मक), यह साध्य है। (संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रूप) समारोप का विरोधी होने से, यह हेतु है। अनुमान के समान, यह दृष्टान्त है।

विशेष—बौद्धों के अनुसार प्रत्यक्ष की प्रमाणता अविसंवादी होने के कारण है। अविसंवादीपने की प्रमाणता अर्थक्रिया में स्थित होने से है, अर्थक्रिया में स्थित होने की प्रमाणता अर्थप्रापकत्व से है। अर्थप्रापकत्व की प्रमाणता प्रवर्तक होने से है। प्रवर्तक होने की प्रमाणता स्वविषय उपदर्शक होने से है, स्वविषय उपदर्शकत्व की प्रमाणता निश्चय के उत्पादकत्व से है, निश्चय के उत्पादकत्व की प्रमाणता गृहीत अर्थ के अव्यभिचारत्व से है।

विरोध तीन प्रकार का है—

१—सहानवस्थान विरोध, जैसे—अन्धकार और प्रकाश में।

२—वध्य घातक विरोध, जैसे—सर्प और नेवले में।

३—परस्परपरिहारस्थितिलक्षणविरोध, जैसे—रूप रस में।

समारोप का विरोधी होने से तात्पर्य सहानवस्थान लक्षण विरोध ग्रहण करना चाहिए।

इसका अभिप्राय यह है कि संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय के स्वभाव रूप समारोप के विरोधी पदार्थ को ग्रहण करना जिसका लक्षण है, इस प्रकार के निश्चयात्मकपने के होने पर ही अविसंवादीपना बन सकता है और अविसंवादीपने के होने पर ही ज्ञान की प्रमाणता हो सकती है, इसलिए स्वसंवेदन, इन्द्रिय, मानस और योगिप्रत्यक्ष की प्रमाणता स्वीकार करने वाले (बौद्धों) को समारोप के विरोधी को ग्रहण करने रूप लक्षण वाले निश्चयात्मक ज्ञान को ही मानना चाहिए।

फिर भी समारोप का विरोधी होना और निश्चयात्मक होना ये

---

१. स्वसंवेदनेन्द्रियमनोयोगिप्रत्यक्षस्य।

कथं साध्य-साधनभाव इति न मन्तव्यम् ज्ञानस्वभावतया तयोरभेदेऽपि व्याप्य-व्यापकत्व धर्माधारतया भेदोपपत्तेः शिंशपात्ववृक्षत्ववत् ।

अथेदानीं सविशेषणमर्थग्रहणं समर्थयमानस्तदेव स्पष्टीकुर्वन्नाह—

अनिश्चितोऽपूर्वार्थः ॥४॥

यः प्रमाणान्तरेण संशयादिव्यवच्छेदेनानध्यवसितः सोऽपूर्वार्थः । तेनेहादि-ज्ञानविषयस्यावग्रहादिगृहीतत्वेऽपि न पूर्वार्थत्वम् । अवग्रहादिनेहादिविषयभूतावा-न्तरविशेषनिश्चयाभावात् ।

दोनों समानार्थक होने के कारण इन दोनों में कैसे साधन-साध्य भाव है, यह नहीं मानना चाहिए । ज्ञान स्वभावी होने से समारोप का विरोधी होना और निश्चयात्मक होना, इन दोनों में अभेद होने पर भी व्याप्य-व्यापकत्व रूप धर्मों के आधार की अपेक्षा भेद बन जाता है, जैसे—शिंशपात्व और वृक्षत्व में ।

प्रत्यक्ष ज्ञान के निश्चयात्मकत्व के समर्थन के अनन्तर (विज्ञानवादी ऐसा मानते हैं कि व्यवसायात्मक विशेषण हो तो, अर्थ विशेषण न हो, इस प्रकार कहने वाले विज्ञानाद्वैतवादियों के प्रति अर्थ पद को जो अपूर्व विशेषण दिया है, उसका समर्थन करते हुए आचार्य उसके अर्थ का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं—

सूत्रार्थ—अनिश्चित पदार्थ को अपूर्वार्थ कहते हैं अर्थात् जिस पदार्थ का पहले किसी प्रमाण से निश्चय नहीं हुआ है उसे अपूर्वार्थ कहते हैं ॥४॥

जिस वस्तु का संशयादि का व्यवच्छेद करने वाले अन्य प्रमाण से पहले निश्चय नहीं हुआ है, उसे अपूर्वार्थ कहते हैं । इसलिए ईहादि ज्ञानों का विषयभूत पदार्थ अवग्रहादि के द्वारा गृहीत होने पर भी पूर्वार्थ नहीं है; क्योंकि अवग्रहादि के द्वारा ईहादि ज्ञान के विषयभूत अवान्तर विशेष का निश्चय नहीं होता है ।

विशेष—विषय और विषयी का सन्निपात होने पर दर्शन होता है । उसके पश्चात् जो पदार्थ का ग्रहण होता है, वह अवग्रह कहलाता है । जैसे चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा 'यह शुक्ल रूप है' ऐसा ग्रहण करना अवग्रह है । अवग्रह के द्वारा ग्रहण किए गए पदार्थों में उसके विशेष जानने की इच्छा ईहा कहलाती है । जैसे—जो शुक्ल रूप देखा है, वह क्या वकपंक्ति है, इस प्रकार विशेष जानने की इच्छा या 'वह क्या पताका है', इस प्रकार जानने की इच्छा ईहा है । विशेष निर्णय द्वारा जो यथार्थ ज्ञान होता है, उसे अवाय कहते हैं । जैसे उत्पतन, निपतन और पक्षविक्षेप आदि के द्वारा 'यह वकपंक्ति ही है, ध्वजा नहीं

अथोक्तप्रकार एवापूर्वार्थः, किमन्योऽप्यस्तीत्याह—

दृष्टोऽपि समारोपात्तादृक् ॥५॥

दृष्टोऽपि गृहीतोऽपि, न केवलमनिश्चित एवेत्यपि शब्दार्थः। तादृगपूर्वार्थो भवति। समारोपादिति हेतुः। एतदुक्तं भवति—गृहीतमपि श्यामलिताकारतया यन्निर्णेतुं न शक्यते, तदपि वस्त्वपूर्वमिति व्यपदिश्यते; प्रवृत्तसमारोपाव्यवच्छेदात्।

ननु भवतु नामापूर्वार्थव्यवसायात्मकत्वं विज्ञानस्य; स्वव्यवसायं तु न विद्म इत्यत्राह—

स्वोन्मुखतया प्रतिभासनं स्वस्य व्यवसायः ॥६॥

है, ऐसा निश्चय होना अवाय है। जानी हुई वस्तु का जिस कारण कालान्तर में विस्मरण नहीं होता, उसे धारणा कहते हैं। जैसे—यह वही वकपंक्ति है, जिसे प्रातःकाल मैंने देखा था, ऐसा जानना धारणा है (सर्वार्थसिद्धि १।१५)। शङ्काकार का कहना है कि ये चारों चूँकि गृहीत अर्थ को ग्रहण करते हैं अतः उत्तरोत्तर ज्ञान का विषयभूत पदार्थ अपूर्व नहीं माना जा सकता। इसका समाधान यह है कि ये ज्ञान यद्यपि गृहीत-ग्राही हैं, फिर भी उनके विषयभूत पदार्थ में अपूर्वता है; क्योंकि इन ज्ञानों का विषय उत्तरोत्तर नई-नई विशेषताओं को जानना है।

अपूर्वार्थ क्या उक्त प्रकार का ही है अथवा अन्य प्रकार का भी है। इसके विषय में कहते हैं—

सूत्रार्थ—दृष्ट होने पर भी समारोप के कारण पदार्थ वैसा ही अर्थात् अपूर्वार्थ हो जाता है।

दृष्टोऽपि = गृहीत होने पर भी या अन्य प्रमाण से ज्ञात होने पर भी, केवल अनिश्चित ही पदार्थ अपूर्वार्थ नहीं है, अपितु अन्य प्रमाण से निश्चित भी विस्मृत पदार्थ के समान संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय के कारण अपूर्वार्थ हो जाता है। समारोप होने से, यह हेतु है। अतः सूत्र का अर्थ इस प्रकार होता है—गृहीत होने पर भी अव्यक्त आकार-वाला होने से जिसका निर्णय करना सम्भव नहीं है, वह वस्तु भी अपूर्व कहलाती है, क्योंकि उसके विषय में जो समारोप प्रवृत्त हुआ है, उसका निराकरण नहीं हुआ है। यौग (न्याय-वैशेषिक) कहते हैं—ज्ञान अपूर्वार्थ का निश्चय करने वाला भले ही हो, किन्तु उसको हम स्वव्यवसायी नहीं मानते हैं। इसके विषय में जैनाचार्य कहते हैं—

सूत्रार्थ—स्वोन्मुख रूप से अपने आपको जानना स्वव्यवसाय है ॥६॥

स्वस्योन्मुखता स्वोन्मुखता, तया स्वोन्मुखतया स्वानुभवतया प्रतिभासनं[1] स्वस्य व्यवसायः ।

अत्र दृष्टान्तमाह—

अर्थस्येव तदुन्मुखतया ॥७॥

तच्छब्देनार्थोऽभिधीयते । यथाऽर्थोन्मुखतया प्रतिभासनमर्थव्यवसायस्तथा स्वोन्मुखतया प्रतिभासनं स्वस्य व्यवसायो भवति ।

अत्रोल्लेख माह—

घटमहमात्मना वेद्मि ॥८॥

ननु ज्ञानमर्थमेवाध्यवस्यति, न स्वात्मानम् । आत्मानं फलं वेति केचित् । कर्तृ कर्मणोरेव प्रतीतिरित्यपरे । कर्तृ-कर्म-क्रियाणामेव प्रतीतिरित्यन्ये । तेषां मतमखिलमपि प्रतीतिबाधितमिति दर्शयन्नाह—

अपने आपको जानने के अभिमुख होने को स्वोन्मुखता कहते हैं । उस स्वोन्मुखता से या स्वानुभवता से जो आत्माभिमुखतया प्रतीति होती है, वह स्वव्यवसाय है ।

यहाँ पर दृष्टान्त कहते हैं—

सूत्रार्थ—जैसे अर्थ के उन्मुख होकर उसे जानना अर्थ व्यवसाय है ॥ ७ ॥

तत् शब्द से अर्थ का कथन होता है । जिस प्रकार पदार्थ के अभिमुख होकर उसके जानने को अर्थव्यवसाय कहते हैं, उसी प्रकार अपने आपके अभिमुख होकर जो प्रतिभास होता है, वह स्वव्यवसाय होता है ।

यहाँ पर उल्लेख कहते हैं—

विशेष—दृष्टान्त और दार्ष्टान्त का उदाहरण उल्लेख है ।

सूत्रार्थ—मैं घट को अपने आपके द्वारा जानता हूँ ॥ ८ ॥

नैयायिकों का कहना है कि ज्ञान अर्थ का ही निश्चय करता है, अपने आपको नहीं जानता है । कुछ कहते हैं कि ज्ञान अपने आपको और फल को ही जानता है । भाट्ट कहते हैं कि कर्त्ता और कर्म को ही प्रतीति होती है, शेष की नहीं । जैमिनीय कहते हैं कि कर्त्ता, कर्म और क्रिया की ही प्रतीति होती है, करण का नहीं । उन सबके सब मत प्रतीति से बाधित हैं, इस बात को दिखलाने के लिए आचार्य कहते हैं ।

---

१. ज्ञानस्य आत्मानं स्वं जानातीति प्रतीतिः प्रतिभासनम् ।

कर्मवत् कर्तृकरणक्रियाप्रतीतेः ॥९॥

ज्ञानविषयभूतं वस्तु कर्माभिधीयते, तस्यैव ज्ञप्तिक्रियया व्याप्यत्वात्, तस्येव तद्वत् । कर्त्ता आत्मा । करणं प्रमाणम् । क्रिया प्रमितिः । कर्त्ता च करणं च क्रिया च तासां प्रतीतिः; तस्याः । इति हेतौ का[1] । प्रागुक्तानुभवोल्लेखे यथाक्रमं तत्प्रतीतिर्द्रष्टव्या ।

ननु शब्दपरामर्शसचिवेयं प्रतीतिर्न[2] वस्तुबलोपजातेत्यत्राह—

शब्दानुच्चारणेऽपि स्वस्यानुभवनमर्थवत् ॥१०॥

यथाः घटादिशब्दानुच्चारणेऽपि घटाद्यनुभवस्तथाऽहमहमिकया योऽयमन्तर्मुखाकारतयाऽवभासः स शब्दानुच्चारणेऽपि स्वयमनुभूयत इत्यर्थः ।

अमुमेवार्थमुपपत्तिपूर्वकं परं प्रति सोल्लुण्ठमाचष्टे—

को वा तत्प्रतिभासिनमर्थमध्यक्षमिच्छंस्तदेव तथा नेच्छेत् ॥११॥

सूत्रार्थ—कर्म के समान कर्त्ता, करण और क्रिया की भी प्रतीति होती है ॥९॥

ज्ञान की विषयभूत वस्तु कर्म कही जाती है; क्योंकि उसका ही ज्ञप्ति क्रिया के साथ व्याप्यपना पाया जाता है । जैसे कि ज्ञप्ति क्रिया का कर्म के साथ । कर्त्ता आत्मा है, करण प्रमाण है, क्रिया प्रमिति है । कर्त्ता, करण और क्रिया की प्रतीति, उसका फल ज्ञान है । जैनेन्द्र व्याकरण में पञ्चमी विभक्ति की संज्ञा 'का' है । पहले कहे गए अनुभव के उल्लेख में (कर्म-कर्त्तादि की) यथाक्रम से प्रतीति जाननी चाहिए ।

शङ्का—कर्त्ता-कर्मादिक की प्रतीति तो शब्द का उच्चारण मात्र ही है, वस्तु के बल से उत्पन्न नहीं हुई है अर्थात् यथार्थ नहीं है । इसके विषय में आचार्य कहते हैं—

सूत्रार्थ—शब्द का उच्चारण नहीं करने पर भी अपने आपका अनुभव पदार्थ के समान होता है ॥ १० ॥

जैसे घट आदि शब्द का उच्चारण नहीं करने पर भी घट आदि का अनुभव होता है, उसी प्रकार 'अहं', 'अहं' इस प्रकार से जो यह अन्तर्ज्ञान रूप अवभास है, वह शब्द का उच्चारण न करने पर भी स्वयं अनुभूत होता है ।

इसी अर्थ को युक्तिपूर्वक पर का उपहास करते हुए कहते हैं—

सूत्रार्थ—ऐसा कौन है जो ज्ञान से प्रतिभासित हुए पदार्थ को प्रत्यक्ष

---

१. पञ्चमी ।

२. शब्दविकल्पप्रधानो विचारः ।

को वा लौकिकः परीक्षको वा। तेन ज्ञानेन[1] प्रतिभासितुं शीलं यस्य स तथोक्तस्तं प्रत्यक्षविषयमिच्छन् विषयिधर्मस्य विषये उपचारात् तदेव ज्ञानमेव तथा प्रत्यक्षत्वेन नेच्छेत् ? अपि त्विच्छेदेव। अन्यथा अप्रामाणिकत्वप्रसङ्गः स्यादित्यर्थः।

अत्रोदाहरणमाह—

प्रदीपवत् ॥१२॥

इदमत्र तात्पर्यम्—ज्ञानं स्वावभासने स्वातिरिक्तसजातीयार्थान्तरानपेक्षं प्रत्यक्षार्थगुणत्वे सति अदृष्टानुयायिकरणत्वात्, प्रदीपभासुराकारवत्।

अथ भवतु नामोक्तलक्षणलक्षितं प्रमाणम्, तथापि तत्प्रामाण्यं स्वतः परतो वा ? न तावत्स्वतः, अविप्रतिपत्तिप्रसङ्गात्। नापि परतः, अनवस्थाप्रसङ्गात् इति

मानता हुआ भी ज्ञान के ही प्रत्यक्ष होने की इच्छा न करे ॥ ११ ॥

कौन लौकिक या परीक्षक है, जो उस ज्ञान से प्रतिभासन शील पदार्थ को प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय मानते हुए भी उसी ज्ञान को प्रत्यक्ष रूप से स्वीकार न करे ? अपितु वह स्वीकार करेगा ही। अन्यथा अप्रामाणिकपने का प्रसंग होगा।

इस विषय में उदाहरण कहते हैं—

सूत्रार्थ—दीपक के समान ॥ १२ ॥

विशेष—जिस प्रकार दीपक को स्वप्रकाशता या प्रत्यक्षता के बिना उससे प्रतिभासित हुए पदार्थ की प्रकाशता या प्रत्यक्षता नहीं बनती है। उसी प्रकार प्रमाण की प्रत्यक्षता के बिना भी उसके द्वारा प्रतिभासित पदार्थ की प्रत्यक्षता नहीं होगी।

यहाँ तात्पर्य यह है—ज्ञान अपने आपके प्रतिभास करने में अपने से अतिरिक्त सजातीय अन्य पदार्थों की अपेक्षा से रहित है; क्योंकि पदार्थ को प्रत्यक्ष करने के गुण से युक्त होकर अदृष्ट अनुयायी करण वाला है, जैसे कि दीपक का भासुराकार।

शङ्का—प्रमाण कहे हुए लक्षण से लक्षित होवे, तथापि वह प्रामाण्य स्वतः होता है या परतः ? स्वतः तो हो ही नहीं सकता; क्योंकि फिर तो किसी को विवाद ही नहीं रहेगा। प्रमाण का प्रामाण्य परतः भी नहीं हो सकता। परतः मानने पर अनवस्था का प्रसङ्ग आयगा। इस प्रकार

---

१. ज्ञानस्य ग्राहकशक्तिशीलत्वमर्थस्य ज्ञेयशक्तिशीलत्वम्।

मतद्वयमाशङ्क्य तन्निराकरणेन स्वमतमवस्थापयन्नाह—

तत्प्रामाण्यं स्वतः परतश्च ॥१३॥

सोपस्काराणि[1] हि वाक्यानि भवन्ति। तत इदं प्रतिपत्तव्यम्—अभ्यासदशायां स्वतोऽनभ्यासदशायां च परत इति। तेन प्रागुक्तैकान्तद्वयनिरासः। न चानभ्यासदशायां परतः प्रामाण्येऽप्यनवस्था समाना, ज्ञानान्तरस्याभ्यस्तविषयस्य स्वतः प्रमाणभूतस्याङ्गीकरणात्। अथवा प्रामाण्यमुत्पत्तौ परत एव, विशिष्टकारणप्रभवत्वाद्विशिष्टकार्यस्येति। विषयपरिच्छित्तिलक्षणे प्रवृत्तिलक्षणे वा स्वकार्ये अभ्यासेतरदशापेक्षया क्वचित्स्वतः परतश्चेति निश्चीयते। ननूत्पत्तौ विज्ञानकारणातिरिक्तकारणान्तरमव्यपेक्षत्वमसिद्धम् प्रामाण्यस्य तदितरस्यैवाभावात्। गुणाख्यमस्तीति वाङ्मात्रम्, विधिमुखेन कार्यमुखेन वा गुणानामप्रतीतेः। नाप्यप्रामाण्यं स्वत एव, प्रामाण्यं तु परत एवेति विपर्ययः शक्यते कल्पयितुम्;

दोनों मतों की आशङ्का कर उनके निराकरण पूर्वक अपने मत की स्थापना करते हुए कहते हैं।

सूत्रार्थ—ज्ञान का प्रामाण्य स्वतः और परतः होता है। ॥ १३ ॥

वाक्य उपस्कार (शब्द से दूसरे शब्द का मिलाना) सहित होते हैं। अतः यह अर्थ जानना चाहिए। ज्ञान की प्रमाणता अभ्यास दशा में स्वतः और अनभ्यास दशा में परतः होती है। इस कारक से पहले कहे गए दोनों एकान्तवादों का निराकरण हो जाता है। अनभ्यास दशा में परतः प्रामाण्य मानने पर जैनों के लिए भी समान रूप से अनवस्था दोष हो जायगा, ऐसा नहीं है; क्योंकि अभ्यस्त विषय स्वरूप अन्य ज्ञान को हमने प्रमाणतः स्वतः स्वीकार की है। अथवा ज्ञान की प्रमाणता उत्पत्ति अवस्था में परतः ही होती है; क्योंकि विशिष्ट कार्य की उत्पत्ति विशिष्ट कारण से होती है। विषय के जानने रूप अथवा प्रवृत्ति लक्षण रूप ज्ञान के कार्य में प्रामाण्य अभ्यास से भिन्न दशा की अपेक्षा कहीं स्वतः और कहीं (अनभ्यास दशा में) परतः निश्चय किया जाता है।

शङ्का—प्रमाण की उत्पत्ति में विज्ञान के कारण से भिन्न अन्य कारणों की अपेक्षा असिद्ध है, अतः प्रमाण की प्रमाणता स्वतः ही होती है; क्योंकि ज्ञानातिरिक्त कारण का अभाव है। यदि कहा जाय कि अन्य कारण नेत्रादिक की निर्मलता आदि गुण पाए जाते हैं, सो यह कहना वचनमात्र ही है; क्योंकि विधिमुख रूप प्रत्यक्ष से तथा कार्यमुख रूप अनुमान से गुणों की प्रतीति नहीं होती है। प्रमाण की अप्रमाणता स्वतः

---

१. शब्देन शब्दान्तरमेलनमुपस्कारः, तेन सहितानि सोपस्काराणि।

अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां हि त्रि[1]रूपाल्लिङ्गा[2]देव केवलात् प्रामाण्यमुत्पद्यमानं दृष्टम्। प्रत्यक्षादिष्वपि तथैव प्रतिपत्तव्यम्[3], नान्यथेति। ततः[4] एवाऽऽप्तोक्तत्व-गुणसद्भावेऽपि न तत्कृतमागमस्य प्रामाण्यम्। तत्र हि गुणेभ्यो दोषाणामभाव-स्तदभावाच्च संशय-विपर्यासलक्षणाप्रामाण्यद्वयासत्त्वेऽपि प्रामाण्यमौत्सर्गिक-मनपोदितमास्त एवेति। ततः स्थितम्—प्रामाण्यमुत्पत्तौ न सामग्र्यन्तर सापेक्ष-मिति। [5]नापि विषयपरिच्छित्तिलक्षणे[6] स्वकार्ये स्वग्रहणसापेक्षम्, अगृहीतप्रामा-ण्यादेव ज्ञानाद्विषयपरिच्छित्तिलक्षणकार्यदर्शनात्।

ननु न परिच्छित्तिमात्रं प्रमाणकार्यम्, तस्य मिथ्याज्ञानेऽपि सद्भावात्।

होती है, प्रामाण्य तो परतः ही होता है। इस विपर्यय की कल्पना सम्भव नहीं है। अन्वय-व्यतिरेक से केवल (पक्ष सत्व, सपक्ष सत्व और विपक्ष व्यावृत्तरूप) त्रिरूपलिंग से प्रामाण्य उत्पन्न हुआ देखा गया है। (यह जल है, इस प्रकार) प्रत्यक्ष ज्ञान में भी उसके स्वकारण से ही प्रमाणता उत्पन्न होती है, ऐसा मानना चाहिए, अन्यथा नहीं। प्रत्यक्ष, अनुमान आदि में स्वतः प्रामाण्य के प्रतिपादन से ही आप्त के द्वारा कहे हुए गुण का सद्भाव होने पर भी आगम में प्रमाणता उस गुण के कारण नहीं है। आगम में गुणों से दोषों का अभाव है तथा दोषों के अभाव से संशय-विपर्यय रूप जो दो अप्रमाण ज्ञान उनका अभाव है, अतः आगम का प्रामाण्य स्वाभाविक रूप से अबाधित-अनिराकृत सिद्ध हो जाता है। चूँकि विज्ञान कारण से ही प्रामाण्य उत्पन्न हुआ प्रतिभासित होता है, अतः यह बात स्थित हुई कि प्रमाण का प्रामाण्य उत्पत्ति में विज्ञान रूप कारण से भिन्न अन्य कारण की अपेक्षा नहीं रखता है। और न अज्ञान की निवृत्तिलक्षण रूप ज्ञान कार्य में अपने ग्रहण की अपेक्षा रखती है। जिसका प्रामाण्य गृहीत नहीं है, ऐसे ज्ञान से विषय की परिच्छित्ति रूप कार्य देखा जाता है।

नैयायिकों ने जो यह कहा है कि प्रमाण का कार्य जाननामात्र नहीं है; क्योंकि उसका मिथ्याज्ञान में भी सद्भाव है, ज्ञानविशेष तो जिसका

---

१. पक्षधर्मत्वसपक्ष सत्त्वपक्षव्यावृत्तिरूपात्।

२. नयने गुणाः सन्ति, यथार्थोपलब्धेः।

३. इदं जलमिति प्रत्यक्षज्ञाने तत्कारणादेव प्रामाण्यमुत्पद्यते, इति प्रतिपत्तव्यम्; न भिन्नकारणेन।

४. प्रत्यक्षानुमानादौ स्वतः प्रामाण्यप्रतिपादनादेव।

५. ज्ञप्तिपक्षोऽयम्।

६. अज्ञानस्य निवृत्तिलक्षणे।

परिच्छित्तिविशेषं तु नागृहीतप्रामाण्यं विज्ञानं जनयतीति ? तदपि बालविलसितम्; न हि प्रामाण्यग्रहणोत्तरकालमुत्पत्त्यवस्थातः आरभ्य परिच्छित्तिविशेषोऽवभासते, अगृहीतप्रामाण्यादपि विज्ञानान्निर्विशेषविषयपरिच्छेदोपलब्धेः। ननु परिच्छित्तिमात्रस्य शुक्तिकायां रजतज्ञानेऽपि सद्भावात्तस्यापि प्रमाणकार्यत्वप्रसङ्ग इति चेत्—भवेदेवम्, यद्यर्थान्यथात्वप्रत्ययस्वहेतूत्थदोष[1]ज्ञानाभ्यां तन्नापोद्येत[2]। तस्माद्यत्र कारणदोषज्ञानं बाधकप्रत्ययो वा नोदेति, तत्र स्वत एव प्रामाण्यमिति। न चैवमप्रामाण्येऽप्याशङ्कनीयम्, तस्य विज्ञानकारणातिरिक्तदोषस्वभावसामग्रीसव्यपेक्षतयोत्पत्तेः; निवृत्तिलक्षणे च स्वकार्ये [3]स्वग्रहणापेक्षत्वात्। तद्धि यावन्न ज्ञातं न तावत् स्वविषयात्पुरुषं निवर्तयतीति।

प्रामाण्य गृहीत नहीं है, ऐसे विज्ञान को उत्पन्न नहीं करता है। नैयायिक का यह कहना मीमांसकों के अनुसार बालकों की चेष्टा के समान है; क्योंकि प्रामाण्य के ग्रहण के उत्तरकाल में उत्पत्ति अवस्था से लेकर जानने रूप क्रिया की विशेषता प्रतिभासित नहीं होती है, अपितु अगृहीत प्रामाण्य वाले भी विज्ञान से विशेषता रहित सामान्य विषय की जानकारी पायी जाती है।

नैयायिक—जानना मात्र सामान्य ज्ञान तो सीप में चाँदी के ज्ञान में भी पाया जाता है, उसे भी प्रमाण का कार्य मानने का प्रसंग उपस्थित होगा।

मीमांसक—ऐसा तब हो सकता है, यदि पदार्थ के अन्यथापने की प्रतीति (अर्थात् यह रजत नहीं है यह सीप है, इस प्रकार नीले पृष्ठ पर त्रिकोण दिखने रूप ज्ञान से) और अपने कारणों से उत्पन्न हुए दोष का ज्ञान (चक्षु आदि में विद्यमान काच, कामला आदि दोष का ज्ञान) इन दोनों के द्वारा उसका निराकरण न किया जाय। अतः जहाँ (वस्तु में) कारण के दोष का ज्ञान अथवा (यह सीप है इत्यादि) बाधक ज्ञान का उदय नहीं होता, वहाँ पर स्वतः ही प्रामाण्य होता है। उत्पत्ति अवस्था में इस प्रकार अप्रामाण्य की शङ्का नहीं करनी चाहिए; क्योंकि विज्ञान के कारणों से अतिरिक्त दोष स्वभावरूप सामग्री की अपेक्षा से अप्रमाणता उत्पन्न होती है। अप्रमाणता-निवृत्ति रूप स्वकार्य में अपने अप्रामाण्य रूप स्वरूप के ग्रहण की अपेक्षा है। अतः वह जब तक ज्ञात नहीं है, तब तक

---

१. चक्षुरादिगतकाचकामलादिदोषज्ञानेन।

२. न निराक्रियेत।

३. आत्मग्रहणमिति।

तदेतत्सर्वमनल्पतमोविलसितम् । तथाहि—न तावत्प्रामाण्यस्योत्पत्तौ सामग्र-यन्तरापेक्षत्वमसिद्धम्, आप्तप्रणीतत्वलक्षणगुणसन्निधाने सत्येवाऽऽप्तप्रणीतवच-नेषु प्रामाण्यदर्शनात् । यद्भावाभावाभ्यां यस्योत्पत्त्यनुत्पत्ती तत् तत्कारणकमिति लोकेऽपि सुप्रसिद्धत्वात् । यदुक्तं—'विधिमुखेन वा गुणानामप्रतीतिरिति' तत्र तावदाप्तप्रणीतशब्देन प्रतीतिर्गुणानामित्ययुक्तम्, आप्तप्रणीतत्वहानिप्रसङ्गात् । अथ चक्षुरादौ गुणानामप्रतीतिरित्युच्यते, तदप्ययुक्तम्, नैर्मल्यादिगुणानामबलाबाला-दिभिरप्युपलब्धेः । अथ नैर्मल्यं स्वरूपमेव[1], न गुणः; तर्हि हेतोरविनाभावैक-ल्यमपि स्वरूपविकलतैव, न दोष इति समानम् । अथ तद्वैकल्यमेव दोषः; तर्हि

वह अपने अन्यथा प्रतीति रूप विषय (रजत) से पुरुष को निवृत्त नहीं करती है । तात्पर्य यह है कि जब सीप में चाँदी का ज्ञान होता है, तब उसकी निवृत्तिलक्षण रूप कार्य में यह रजत नहीं है, अपितु सीप है, इस प्रकार ज्ञप्ति पक्ष में अप्रामाण्य परतः ही होता है, यह प्रदर्शित किया गया है ।

जैन—यह सब अत्यधिक अज्ञान रूप अन्धकार के विलास के समान है । इसी को स्पष्ट करते हैं—प्रामाण्य की उत्पत्ति में (नैर्मल्यादि गुण रूप) अन्य सामग्री की अपेक्षा होना असिद्ध कहा, वह ठीक नहीं है; क्योंकि आप्त के द्वारा प्रणीत होना लक्षण रूप गुण के सन्निधान होने पर ही आप्त प्रणीत वचनों में प्रामाण्य देखा जाता है । जिसके होने पर जिसकी उत्पत्ति हो और जिसके न होने पर जिसकी उत्पत्ति न हो । वह कारण होता है । यह बात लोक में भी सुप्रसिद्ध है । जो कहा गया है—गुणों की अप्रतीति विधिमुख से या कार्यमुख से होती है । उनमें आप्त प्रणीत शब्द में गुणों की प्रतीति नहीं होती है, यह बात ठीक नहीं है; क्योंकि इससे तो आप्त प्रणीतत्व की हानि का प्रसंग उपस्थित हो जायगा । मीमांसकों ने जो यह कहा है कि चक्षुरादि में गुणों की प्रतीति नहीं होती है, वह भी अयुक्त है; क्योंकि नेत्रादि में निर्मलता आदि गुणों की उपलब्धि स्त्रियों और बालकों को भी होती है ।

मीमांसक—निर्मलता (गुण और गुणी में अभेद के कारण) स्वरूप ही है, गुण नहीं है ?

जैन—तो हेतु के अविनाभाव की विकलता भी स्वरूप की विकलता ही है, दोष नहीं है, यह भी समान है । अर्थात् जैन नैर्मल्यादि गुणों का अभाव होने पर स्वतः प्रामाण्य जैनों के आता है उसी प्रकार दोषों का अभाव होने पर स्वतः अप्रामाण्य मीमांसकों के भी होगा ।

---

१. गुण-गुणिनोरभेदात् ।

लिङ्गस्य[1] चक्षुरादेर्वा तत्स्वरूपसाकल्यमेव गुणः कथं न भवेत् ? आप्तोक्तेऽपि शब्दे मोहादिल[2]क्षणस्य दोषस्याभावमेव यथार्थज्ञानादिलक्षणगुणसद्भावमभ्युपगच्छन्नन्यत्र तथा नेच्छतीतो कथमनुन्मत्तः ? अथोक्तमेव—शब्दे गुणा सन्तोऽपि[3] न प्रामाण्योत्पत्तौ व्याप्रियन्ते, किन्तु दोषाभाव एवेति। सत्यमुक्तम्, किन्तु न युक्तमेतत्; प्रतिज्ञामात्रेण साध्यसिद्धेरयोगात्। न हि गुणेभ्यो दोषाणामभाव इत्यत्र किञ्चिन्निबन्धनमुत्पश्यामोऽन्यत्र महामोहात्। अथानुमानेऽपि त्रिरूपलिङ्गमात्रजनितप्रामाण्योपलब्धिरेव तत्र[4] हेतुरिति चेन्न, उक्तोत्तर[5]त्वात्। तत्र हि त्रैरूप्यमेव गुणो यथा तद्वैकल्यं दोष इति नासम्मतो हेतुः। अपि चाप्रामाण्येऽ-

---

मीमांसक—स्वरूप की विकलता ही दोष है।

जैन—तो कारण के और नेत्रादि के अपने स्वरूप की सकलता को ही गुण क्यों नहीं माना जाय। आप्त के कहे हुए आगम में भी मोह, राग, द्वेषादि लक्षण वाले दोष के अभाव को ही यथार्थ ज्ञान, वैराग्य क्षमा आदि लक्षण वाले गुण के सद्भाव को स्वीकार करते हुए भी अन्यत्र (प्रत्यक्षादि की उत्पत्ति की विशेष सामग्री चक्षु आदि की निर्मलता आदि में) गुण के सद्भाव को नहीं मानते हैं। इस प्रकार वे मीमांसक उन्मत्त कैसे न हों ?

आपने जो कहा है कि आगम में (पूर्वापरविरोधरहितत्वादि) गुणों का सद्भाव होने पर भी वे प्रामाण्य की उत्पत्ति में व्यापार नहीं करते हैं, किन्तु दोष का अभाव ही प्रामाण्य की उत्पत्ति में व्यापृत होता है। यह बात सही है, किन्तु यह युक्त नहीं है। वचन मात्र से साध्य की सिद्धि का योग नहीं होता है। गुणों से दोषों का अभाव होता है। इत्यादि वचन में आपके महामोह को छोड़कर कुछ भी कारण नहीं देखते हैं।

मीमांसक—अनुमान में भी त्रिरूप लिङ्गमात्र से जनित प्रामाण्य की उपलब्धि ही दोष के अभाव में कारण है।

जैन—यह बात ठीक नहीं है। उसका उत्तर (कारण के और नेत्रादि के अपने स्वरूप की सकलता को ही गुण क्यों नहीं माना जाय, इस रूप में) उत्तर दिया जा चुका है। हेतु में त्रिरूपता का होना ही गुण है, जैसे

---

१. कारणस्य।
२. आदिशब्देन रागद्वेषौ गृह्येते।
३. अनुमानादपि गुणाः प्रतीयन्ते, न केवलं प्रत्यक्षादित्यपि शब्दार्थः।
४. दोषाभावे।
५. तर्हि लिङ्गस्य चक्षुरादेर्वा तत्स्वरूपसाकल्यमेव गुण इत्यादिप्रकारेण।

प्येवं वक्तुं शक्यत एव। तत्र हि दोषेभ्यो गुणानामभावस्तदभावाच्च प्रामाण्यासत्त्वेऽप्रामाण्यमौत्सर्गिकमास्त इत्यप्रामाण्यं स्वत एवेति तस्य भिन्नकारणप्रभवत्ववर्णनमुन्मत्तभाषितमेव स्यात्। किञ्च गुणेभ्यो दोषाणामभाव इत्यभिदधता गुणेभ्यो गुणा एवेत्यभिहितं स्यात्; भावान्तरस्वभावत्वादभावस्य। ततोऽप्रामाण्यासत्त्वं प्रामाण्यमेवेति नैतावता परपक्षप्रतिक्षेपः; अविरोधकत्वात्[1]। तथा अनुमानतोऽपि गुणाः प्रतीयन्त[2] एव। तथा हि—प्रामाण्यं विज्ञानकारणातिरिक्तकारणप्रभवम्, विज्ञानान्यत्वे सति कार्यत्वादप्रामाण्यवत्। तथा प्रमाणप्रामाण्ये भिन्नकारणजन्ये, भिन्नकार्यत्वात्; घटवस्त्रवदिति च। ततः स्थितं प्रामाण्यमुत्पत्तौ परापेक्षमिति। तथा विषयपरिच्छित्तिलक्षणे प्रवृत्तिलक्षणे वा स्वकार्ये स्वग्रहणं[3] नापेक्षत इति नैकान्तः, क्वचिदभ्यस्तविषय एव परानपेक्षत्वव्यवस्था-

---

कि उसकी विकलता (त्रैरूप्य का न होना) दोष है, इस प्रकार हेतु असम्मत नहीं है। दूसरी बात यह है कि अप्रामाण्य के विषय मे भी ऐसा कहना सम्भव है कि दोषों से गुणों का अभाव होता है और गुणों के अभाव से प्रामाण्य न होने पर अप्रामाण्य स्वभावतः होता है, इस प्रकार अप्रामाण्य के स्वतः सिद्ध होने पर उसकी भिन्न कारणों से उत्पत्ति का वर्णन उन्मत्त भाषित ही सिद्ध होता है। दूसरी बात यह भी है कि 'गुणों से दोषों का अभाव होता है,' ऐसा कहने पर मीमांसक के द्वारा 'गुणों से गुण होते हैं' यह कथन हो जाता है, क्योंकि अभाव भी भावान्तर स्वभाव वाला होता है। अतः अप्रामाण्य का अभाव प्रामाण्य ही होता है, इतने से ही परपक्ष का निराकरण नहीं होता है, क्योंकि इससे पर पक्ष का प्रतिषेध नहीं होता है। तथा अनुमान से भी गुण प्रतीत होते ही हैं। इसी बात को स्पष्ट करते हैं—प्रामाण्य विज्ञान के कारणों से अतिरिक्त कारणों से उत्पन्न होता है, क्योंकि वह विज्ञान से भिन्न होकर कार्य है। जैसे कि अप्रामाण्य। तथा प्रमाण और प्रामाण्य दोनों भिन्न-भिन्न कारणों से उत्पन्न होते हैं; क्योंकि दोनों भिन्न-भिन्न कार्य हैं, जैसे घट और वस्त्र। इसलिए यह स्थित हुआ कि प्रामाण्य उत्पत्ति में पर की अपेक्षा रखता है तथा विषय के ज्ञान रूप स्वकार्य में अपने ग्रहण (प्रमाण ग्रहण) की अपेक्षा नहीं रखता है, यह एकान्त नहीं है। क्वचित् किसी अभ्यस्त

---

१. अप्रतिषेधकत्वात्।

२. प्रामाण्योत्पत्तौ गुणाः व्याप्रियन्ते, अनुमानात् प्रतीतिविषयाः क्रियन्ते।

३. प्रमाणग्रहणम्।

नात्। अनभ्यस्ते तु जलमरीचिकासाधारणप्रदेशे जलज्ञानं परापेक्षमेव। सत्यमिदं जलम्, विशिष्टाकारधारित्वात्, घटचेटिकापेटक-दुर्दरारव-सरोजगन्धवत्त्वाच्च; परिदृष्टजलवदित्यनुमानज्ञानादर्थक्रियाज्ञानाच्च स्वतः [1]सिद्धप्रामाण्यात् प्राचीन-ज्ञानस्य यथार्थत्वमाकल्पमवकल्प्यत एव। यदप्यभिमतम्—**प्रामाण्यग्रहणोत्तर-कालमुत्पत्त्यवस्थातः परिच्छित्तेर्विशेषो**[2] **नावभासत इति**'। तत्र यद्यभ्यस्तविषये नावभासत इत्युच्यते, तदा तदिष्यत एवं। तत्र प्रथममेव निःसंशयं विषयपरिच्छि-त्तिविशेषाभ्युपगमात्। अनभ्यस्तविषये तु तद्ग्रहणोत्तरकालमस्त्येव विषयाव-धारणस्वभावपरिच्छित्तिविशेषः, पूर्वं प्रमाणाप्रमाणसाधारण्या एव परिच्छित्ते-रुत्पत्तेः। ननु प्रामाण्य-परिच्छित्त्योरभेदात्कथं पौर्वापर्यमिति? नैवम्, न हि

प्रदेश में ही पर की अपेक्षा नहीं होती, ऐसी व्यवस्था है। अनभ्यस्त जल और मरीचिका वाले साधारण प्रदेश में जलज्ञान (अनुमानादि) पर की अपेक्षा से ही उत्पन्न होता है। यह जल सत्य है; क्योंकि वह विशिष्ट आकार का धारक है। यहाँ पनिहारिनों का समूह है, मेढकों की ध्वनि हो रही है, कमलों की सुगन्धि आ रही है। इन सब कारणों से भी जल की सत्यता स्पष्ट है। जैसे कि प्रत्यक्ष देखे हुए जल का ज्ञान सत्य होता है। इस प्रकार के अनुमान ज्ञान से और जल की स्नान पानादि रूप अर्थ-क्रिया के ज्ञान से स्वतः सिद्ध प्रामाण्य (प्रत्यक्षानुमानलक्षणज्ञान) से पूर्व में उत्पन्न हुए (जल) ज्ञान को परमार्थता कल्पकाल पर्यन्त निश्चित होती है।

जो यह कहा था कि प्रामाण्य के ग्रहण के उत्तरकाल में उत्पत्ति अवस्था से लेकर अनुमान सापेक्ष परिच्छित्ति विशेष का अवभासन नहीं होता है सो यदि अभ्यस्त विषय में प्रतिभासित नहीं होता, ऐसा कहा जाता है तो यह हमें इष्ट ही है। वहाँ पर प्रथम ही निःसन्देह रूप से विषय की परिच्छित्ति विशेष स्वीकार की गई है। अनभ्यस्त विषय में तो प्रमाण के ग्रहण के उत्तरकाल में विषय के निश्चय करने रूप स्वभाव वाली परिच्छित्ति की विशेषता प्रतिभासित होती ही है; क्योंकि (अनभ्यस्त विषय में) पहले प्रमाण और अप्रमाण में समान रूप से रहने वाली ही परिच्छित्ति उत्पन्न होती है।

मीमांसक—प्रामाण्य और परिच्छित्ति में अभेद होने से पौर्वापर्य कैसे है?

---

१. प्रत्यक्षानुमानलक्षणज्ञानात्।

२. अनुमानसापेक्षं परिच्छित्तिविशेषः।

सर्वाऽपि परिच्छित्तिः प्रामाण्यात्मिका; प्रामाण्यं तु परिच्छित्त्यात्मकमेवेति न दोषः। यदप्युक्तम्—'बाधककारणदोषज्ञानाभ्यां प्रामाण्यमपोद्यत इति' तदपि फल्गु-भाषितमेव; अप्रामाण्येऽपि तथा वक्तुं शक्यत्वात्। तथा हि—प्रथम मप्रमाणमेव ज्ञानमुत्पद्यते, पश्चादबाधबोधगुणज्ञानोत्तरकालं तदपोद्यत इति। तस्मात्प्रामाण्यमप्रामाण्यं वा [1]स्वकार्ये क्वचिदभ्यासानभ्यासापेक्षया स्वतः परतश्चेति निर्णेतव्यमिति।

देवस्य सम्मतमपास्तसमस्तदोषं
वीक्ष्य प्रपञ्चरुचिरं रचितं समस्य।
माणिक्यनन्दिविभुना शिशुबोधहेतो-
र्मानस्वरूपममुना[2] स्फुटमभ्यधायि॥ ६॥

इति परीक्षामुखलघुवृत्तौ प्रमाणस्य स्वरूपोद्देशः॥ १॥

जैन—ऐसा नहीं कहना चाहिए। समस्त परिच्छित्तियाँ प्रामाण्यात्मक नहीं होती हैं, किन्तु प्रामाण्य परिच्छित्त्यात्मक ही होता है, अतः कोई दोष (विरोध) नहीं है।

जो कहा गया है कि ज्ञानावरणादि बाधक कारण और (काचकामलादि) दोष के ज्ञान से (परिच्छित्त्यात्मक) प्रामाण्य का निराकरण कर दिया जाता है, वह भी सार रहित है; क्योंकि अप्रामाण्य के विषय में भी वैसा कहना सम्भव है, क्योंकि प्रथम अप्रमाण ही ज्ञान उत्पन्न होता है, पश्चात् बाधा रहित ज्ञान और गुण का ज्ञान उत्पन्न होता है। बाद में उसके उत्तरकाल में उस अप्रमाण रूप ज्ञान का निराकरण होता है। अतः प्रमाणता और अप्रमाणता अर्थ की परिच्छित्ति लक्षण स्वकार्य में क्वचित् अभ्यास दशा की अपेक्षा स्वतः और अनभ्यास दशा की अपेक्षा परतः उत्पन्न होती है, ऐसा निर्णय करना चाहिए।

भट्टाकलंकदेव के द्वारा जो सम्मत है, जिसमें समस्त दोषों का निराकरण कर दिया है, जो विस्तृत और सुन्दर है, ऐसे प्रमाण के स्वरूप को माणिक्यनन्दी स्वामी ने देखकर शिशुओं के बोध के लिए (परीक्षामुख नामक ग्रन्थ में) संक्षेप से रचा। उसी को मुझ अनन्तवीर्य ने स्पष्ट रूप से कहा है॥ ६॥

इस प्रकार परीक्षामुख की लघुवृत्ति में प्रमाण के स्वरूप का कथन करने वाला प्रथम उद्देश समाप्त हुआ।

●

---

१. अर्थपरिच्छित्तिलक्षणे। २. अदस्तु विप्रकृष्टं दूरतरं तेन, अनन्तवीर्येण मया।

द्वितीयः समुद्देशः

अथ प्रमाणस्वरूपविप्रतिपत्तिं निरस्येदानीं सङ्ख्याविप्रतिपत्तिं प्रतिक्षिपन् सकलप्रमाणभेदसन्दर्भसङ्ग्रहपरं प्रमाणसङ्ख्या प्रतिपादकं वाक्यं[1] आह—

तद् द्वेधा ॥१॥

तच्छब्देन प्रमाणं परामृश्यते । तत्प्रमाणं स्वरूपेणावगतं द्वेधा द्विप्रकारमेव, सकलप्रमाणभेदानामत्रैवान्तर्भावात् ।

तद्द्वित्वमप्यक्षानुमानप्रकारेणापि सम्भवतीति तदाशङ्कानिराकरणार्थं सकल-प्रमाणभेदसङ्ग्रहशालिनीं सङ्ख्यां प्रव्यक्तीकरोति—

प्रत्यक्षेतरभेदात् ॥२॥

प्रत्यक्षं वक्ष्यमाणलक्षणम्, इतरत्परोक्षम्, ताभ्यां भेदात् प्रमाणस्येति शेषः । न हि परपरिकल्पितैकद्वित्रिचतुःपञ्चषट्प्रमाणसङ्ख्यानियमे निखिलप्रमाणभेदाना-

---

(द्वितीय समुद्देश)

प्रमाण के स्वरूप की विप्रतिपत्ति का निराकरण करके इस समय संख्या विप्रतिपत्ति का निराकरण करते हुए प्रमाण के समान भेदों के सन्दर्भ का संग्रह करने वाले और प्रमाण की संख्या का प्रतिपादन करने वाले वाक्य को कहते हैं—

वह प्रमाण दो प्रकार का होता है ॥ १ ॥

'तत्' शब्द से प्रमाण का परामर्श किया गया है। जिसका स्वरूप जान लिया गया है, वह प्रमाण दो प्रकार का ही है, क्योंकि प्रमाण के समस्त भेदों का यहीं अन्तर्भाव होता है ।

ये दो भेद प्रत्यक्ष और अनुमान प्रकार से भी संभव हैं, इस प्रकार की आशंका के निराकरण के लिए प्रमाण के समस्त भेदों का संग्रह करने वाली संख्या को प्रकृष्ट रूप से व्यक्त करते हैं—

प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से प्रमाण दो प्रकार का होता है ॥२॥

प्रत्यक्ष का लक्षण हम आगे कहेंगे । प्रत्यक्ष से भिन्न परोक्ष है । उनके भेद से प्रमाण के दो भेद हैं । चार्वाक्, सौगत, सांख्य, न्याय-वैशेषिक-प्राभाकर-भाट्ट के द्वारा परिकल्पित एक, दो, तीन, चार, पाँच और छह

---

१. परस्परापेक्षाणां पदानां निरपेक्षसमुदायो वाक्यम् ।

मन्तर्भावविभावना शक्या कर्तुम् । तथा हि—प्रत्यक्षैकप्रमाणवादिनश्चार्वाकस्य नाध्यक्षे लैङ्गिकस्यान्तर्भावो युक्तः; तस्य तद्विलक्षणत्वात्, सामग्री-स्वरूपभेदात्[1] ।

अथ नाप्रत्यक्षं प्रमाणमस्ति, विसंवादसम्भवात् । निश्चितावितथाभावालिङ्गाल्लिङ्गिनि ज्ञानमनुमानमित्यानुमानिकशासनम्, तत्र च स्वभावलिङ्गस्य बहुलमन्यथापि भावो दृश्यते । तथाहि—कषायरसोपेतानामामलकानामेतद्देशकालसम्बन्धिनां दर्शनेऽपि देशान्तरे कालान्तरे द्रव्यान्तरसम्बन्धे चान्यथापि दर्शनात्स्वभावहेतुर्व्यभिचार्येव, लताचूतवल्लतारिंशिंशपादिसम्भावनाच्च । तथा कार्यलिङ्गमपि गोपाल-

---

प्रकार की प्रमाण संख्या के नियम में प्रमाण के समस्त भेदों का अन्तर्भाव करना सम्भव नहीं है । इसी बात का खुलासा करते हैं—एक प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानने वाले चार्वाक् के प्रत्यक्ष में अनुमान का अन्तर्भाव करना युक्त नहीं है, क्योंकि अनुमान प्रत्यक्ष ज्ञान से विलक्षण है, दोनों की सामग्री और स्वरूप में भी भेद है । प्रत्यक्ष ज्ञान की सामग्री इन्द्रियाँ हैं और उसका स्वरूप वैशद्य है । अनुमान ज्ञान की सामग्री लिङ्ग (हेतु) है और उसका स्वरूप अवैशद्य है ।

चार्वाक्—अप्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है; क्योंकि उसमें विसंवाद सम्भव है । निश्चित अविनाभावी लिङ्ग से (बौद्धमत में लिङ्ग तीन प्रकार का होता है—१. स्वभाव लिङ्ग २. कार्य लिङ्ग ३. अनुपलब्धि लिङ्ग) लिङ्गी (साध्य) का जो ज्ञान होता है, वह अनुमान कहलाता है, ऐसा अनुमानवादियों का कहना है । बौद्धों के मत में स्वभावलिङ्ग के प्रायः अन्यथाभाव (साध्य के बिना भी सद्भाव) दिखाई देता है । इसी बात को स्पष्ट करते हैं—इस देश और काल सम्बन्धी आँवलों के कसैले रस से युक्त दिखाई देने पर भी देशान्तर और कालान्तर में अन्य द्रव्य का सम्बन्ध मिलने पर अन्यथा स्वभाव भी देखा जाता है, अतः स्वभाव हेतु व्यभिचारी है । तात्पर्य यह कि दुग्धादि द्रव्य का सिंचन करने पर किसी देश और काल में आँवले मधुर रस रूप भी परिणमित हो जाते हैं, अतः स्वभाव हेतु व्यभिचारी है । 'यह वृक्ष है, आम्रपना पाए जाने से,' यहाँ आम्र धर्मी है, वृक्ष है, यह साध्य है, आम्रपना हेतु है । जो जो आम होता है, वह वृक्ष होता है, यह नियम नहीं है; क्योंकि आम्रलता से व्यभिचार पाया जाता है, क्योंकि आम्र लताकार भी होता है । यह वृक्ष है, शिंशपात्व के कारण, यहाँ देशान्तर में सम्भव शिंशपा लता से व्यभिचार है;

---

१. उत्पादकारणं प्रत्यक्षस्य इन्द्रियं सामग्री, वैशद्यं स्वरूपम् । अनुमानस्य लिङ्गं सामग्री, अवैशद्यञ्च स्वरूपम् ।

घटिकादौ धूमस्य शक्रमूर्ध्नि चान्यथापि भावात्पावकव्यभिचार्येव। ततः प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमस्यैवाविसंवादकत्वादिति।

तदेतद् बालविलसितमिवाभाति; उपपत्तिशून्यत्वात्। तथाहि—किमप्रत्यक्षस्योत्पादककारणाभावादालम्बनाभावाद्वा प्रामाण्यं निषिध्यते? तत्र न तावत्प्राक्तनः पक्षः; तदुत्पादकस्य सुनिश्चितान्यथानुपपत्ति[1]-नियतनिश्चयलक्षणस्य साधनस्य सद्भावात्। नो खल्वप्युदीचीनः पक्षः; तदालम्बनस्य पावकादेः सकलविचारचतुरचेतसि सर्वदा प्रतीयमानत्वात्। यदपि स्वभावहेतोर्व्यभिचारसम्भावनमुक्तम्, तदप्यनुचितमेव; स्वभावमात्रस्याहेतुत्वात्। व्याप्यरूपस्यैव स्वभावस्य व्यापकम्प्रति गमकत्वाभ्युपगमात्। न च व्याप्यस्य व्यापकव्यभिचारित्वम्; व्याप्यत्वविरोधप्रसङ्गात्।

क्योंकि देशान्तर में लता रूप शिंशपा (शीशम) होता है। बेत का बीज जलाए जाने पर कदलीकाण्ड को उत्पन्न करता है। कटहल का बीज कदलीकाण्ड को उत्पन्न नहीं करता है। अतः स्वभाव हेतु व्यभिचारी है। तथा कार्यलिंग भी व्यभिचारी है। इन्द्रजालिया के घट आदि में तथा बाँबी में आग के बिना भी धुआँ दिखाई देता है अतः धुयें को अग्नि का कार्य मानना व्यभिचार है। (स्वभाव हेतु और कार्य हेतु में अविनाभाव के अभाव से, इनके द्वारा उद्भूत अनुमान की प्रमाणता चूँकि घटित नहीं होती है) अतः प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है, क्योंकि उसमें अविसंवादकता पायी जाती है।

यह कथन बाल विलास के समान प्रतिभासित होता है; क्योंकि यह युक्ति से शून्य है। इसी बात को स्पष्ट करते हैं—क्या उत्पादक कारण के अभाव से अथवा आलम्बन के अभाव से अप्रत्यक्ष की प्रमाणता का निषेध किया जा रहा है? इनमें से पहला पक्ष ठीक नहीं है; क्योंकि जिसकी अन्यथानुपपत्ति सुनिश्चित है, ऐसे लक्षण वाले अनुमान के उत्पादक साधन का सद्भाव पाया जाता है। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है; क्योंकि अप्रत्यक्ष रूप अनुमान के विषय रूप आलम्बन अग्नि आदिक समस्त विचार चतुर लोगों के चित्त में सदा प्रतीत होते हैं। जो स्वभाव हेतु में व्यभिचार की सम्भावना के विषय में कहा है, वह भी अनुचित ही है; क्योंकि स्वभावमात्र हेतु नहीं है। व्याप्य (शिंशपात्व) रूप स्वभाव को ही व्यापक (वृक्षत्व) के प्रति गमकपना माना गया है। व्याप्य के व्यापक से व्यभिचारपना भी नहीं है। व्याप्यत्व के साथ विरोध का प्रसङ्ग

---

१. साध्यमन्तरेण साधनानुपपत्तिः।

किञ्चैवंवादिनो नाध्यक्षं प्रमाणं व्यवतिष्ठते; तत्राप्यसंवादस्यागौणत्वस्य च स्वभावहेोः प्रामाण्याविनाभावित्वेन निश्चेतुमशक्यत्वात् । यच्च कार्यहेतोरप्यन्यथापि सम्भावनम्; तदप्यशिक्षितलक्षितम्, सुनिश्चितस्य कार्यस्य कारणाव्यभिचारित्वात् । यादृशो हि धूमो ज्वलनकार्यं भूधरनितम्बादावतिबहलधवलतया प्रसर्पन्नुपलभ्यते, न तादृशो गोपाल-घटिकादाविति । यदप्युक्तम्—'शक्रमूर्ध्नि धूमस्यान्यथापि भाव इति तत्र किमयं शक्रमूर्द्धा अग्निस्वभावोऽन्यथा वा ? यद्यग्निस्वभावस्तदाऽग्निरेवेति कथं तदुद्भूत धूमस्यान्यथाभावः शक्यते कल्पयितुम् । अथानग्निस्वभावस्तदा तदुद्भवो धूम एव न भवतीति कथं तत्र तस्य तद्व्यभिचारित्वमिति । तथा चोक्तम्—

अग्निस्वभावः शक्रस्य मूर्द्धा चेदग्निरेव सः ।
अथानग्निस्वभावोऽसौ धूमस्तत्र कथं भवेत् ॥ १ ॥ इति ।

किञ्च—प्रत्यक्षं प्रमाणमिति कथमयं परं प्रतिपादयेत् ? परस्य प्रत्यक्षेण

उपस्थित होगा । अर्थात् यदि व्यभिचार हो तो व्याप्य नहीं कहा जा सकता है ।

दूसरी बात यह है कि अनुमान को प्रमाण नहीं मानने वाले तथा स्वभावहेतु को व्यभिचारी कहने वाले चार्वाक के मत में प्रत्यक्ष भी प्रमाण नहीं ठहरता है; क्योंकि प्रत्यक्ष में भी अविसंवादकता और अगौणता ये दोनों अनुमान के माने बिना निश्चित नहीं की जा सकतीं । और जो कार्यहेतु के अन्यथा अर्थात् अग्नि के बिना भी होने की सम्भावना की है, वह भी अशिक्षित जैसा प्रतीत होता है; क्योंकि सुनिश्चित कार्य का कारण के साथ व्यभिचार नहीं पाया जाता है । जैसा अग्नि का कार्य धुआँ पर्वत के तटभाग आदि में अति सघन और धवल आकार रूप से फैलता हुआ प्राप्त होता है, वैसा धुआँ ऐन्द्रजालिक के घड़े आदि मे नहीं प्राप्त होता है । जो कहा गया है—बाँबी में धुयें का अन्यथा भी सद्भाव देखा जाता है, तो उस विषय में हमारा कहना है कि यह बाँबी अग्निस्वभाव है या अग्नि स्वभाव नहीं है ? यदि अग्नि स्वभाव है तो अग्नि ही है, तो कैसे उससे निकले हुए धुयें का अन्यथाभाव (अग्निव्यभिचारित्व) कल्पित किया जा सकता है । यदि बाँबी अग्निस्वभाव नहीं है तो उससे उत्पन्न धुआँ ही नहीं है, कैसे वहाँ पर धुयें का व्यभिचारपना है ? कहा भी है—

यदि बाँबी अग्निस्वभाव है तो वह अग्नि ही है और यदि वह अग्निस्वभाव नहीं है तो वहाँ धुआँ कैसे हो सकता है ?

दूसरी बात यह कि प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानने वाला चार्वाक्

ग्रहीतुमशक्यत्वात् । व्यवहारादिकार्यप्रदर्शनात्तं प्रतिपद्येतेति चेदायातं तर्हि कार्यात्कारणानुमानम् । अथ लोकव्यवहारापेक्षयेष्यत एवानुमानमपि, परलोकादावेवानभ्युपगमात्तदभावादिति कथं तदभावोऽनुपलब्धेरिति चेत् तदाऽनुपलब्धिलिङ्गजनितमनुमानमपरमापतितमिति । प्रत्यक्षप्रामाण्यमपि स्वभावहेतुजातानुमितिमन्तरेण नोपपत्तिमियर्तीति प्रागेवोक्तमित्युपरम्यते । यदप्युक्तं[1] धर्मकीर्तिना—

प्रमाणेतरसामान्यस्थितेरन्यधियो गतेः ।
प्रमाणान्तरसद्भावः प्रतिषेधाच्च कस्यचित् ॥ २ ॥ इति ।

शिष्यादि को प्रत्यक्ष प्रमाण का प्रतिपादन करेगा ? क्योंकि पर पुरुष का आत्मा प्रत्यक्ष से ग्रहण करना शक्य नहीं है । व्यवहार (वचन चातुर्य) आदि कार्य के देखने से पर की बुद्धि आदि को जान लेगा, यदि ऐसा कहो तो कार्य से कारण का अनुमान आ गया । यदि कहो कि लोक व्यवहार की अपेक्षा अनुमान इष्ट होने पर भी परलोक आदि में उसे हम नहीं मानते हैं; क्योंकि परलोकादि का अभाव है । तो उस पर हमारा कहना है कि परलोकादि का अभाव कैसे है ? यदि कहो कि परलोकादि का अभाव अनुपलब्धि से है तो अनुपलब्धि रूप लिंग से जनित एक अन्य अनुमान आ गया । प्रत्यक्ष प्रामाण्य भी स्वभाव हेतु जनित अनुमान के बिना युक्ति संगतता को प्राप्त नहीं होता, यह बात हम कह चुके हैं, अतः विराम लेते हैं । जैसा कि (प्रमाण विनिश्चय में) धर्मकीर्ति ने कहा है—

प्रमाण सामान्य और अप्रमाण सामान्य की स्थिति होने से, शिष्यादि की बुद्धि के ज्ञान से और (अनुपलब्धि हेतु से) परलोकादि के प्रतिषेध से प्रमाणान्तर अर्थात् अन्य प्रमाणरूप अनुमान का सद्भाव सिद्ध होता है ॥ २ ॥

विशेष—अविसंवादित्व-विसंवादित्व स्वभाव रूप दो लिङ्ग के बिना प्रमाण सामान्य और अप्रमाण सामान्य की स्थिति नहीं बनती है । तथा व्यवहारादि कार्यलिंग के बिना दूसरे की बुद्धि का निश्चय सम्भव नहीं है तथा अनुपलब्धि रूप लिंग के बिना परलोकादि का निषेध घटित नहीं होता है, इस प्रकार प्रमाण सामान्य और अप्रमाण सामान्य की स्थिति, शिष्यादि की बुद्धि का ज्ञान और परलोकादि के प्रतिषेध से प्रमाणान्तर अनुमान की समीचीनता सिद्ध होती है ।

---

१. प्रमाणविनिश्चये (?) ।

ततः प्रत्यक्षमनुमानमिति प्रमाणद्वयमेवेति सौगतः। सोऽपि न युक्तवादी; स्मृतेरविसंवादिन्यास्तृतीयायाः प्रमाणभूतायाः सद्भावात्। न च तस्या विसंवादादप्रामाण्यम्; दत्तग्रहादिविलोपापत्तेः।

अथानुभूयमानस्य विषयस्याभावात् स्मृतेरप्रामाण्यम्? न, तथापि अनुभूतेनार्थेन सावलम्बनत्वोपपत्तेः। अन्यथा प्रत्यक्षस्याप्यनुभूतार्थविषयत्वादप्रामाण्यमनिवार्यं स्यात्। स्वविषयावभासनं स्मरणेऽप्यवशिष्टमिति। किञ्च—स्मृतेरप्रामाण्येऽनुमानवार्तापि दुर्लभा; तया व्याप्तेरविषयीकरणे तदुत्थानायोगादिति। तत इदं वक्तव्यम्—'स्मृतिः प्रमाणम्, अनुमानप्रामाण्यान्यथानुपपत्तेरिति सैव प्रत्यक्षानुमानस्वरूपतया प्रमाणस्य द्वित्वसङ्ख्यानियमं विघटयतीति किं नश्चिन्तया।

चूंकि चार्वाक के प्रति अन्य प्रमाण की प्राप्ति का प्रतिपादन किया अतः प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण होते हैं, ऐसा बौद्ध कहता है। वह बौद्ध भी युक्त बात कहने वाला नहीं है; क्योंकि अविसंवादिनी स्मृति के रूप में तृतीय प्रमाण का सद्भाव सिद्ध होता है। विसंवाद होने के कारण स्मृति प्रमाण नहीं है, ऐसा भी नहीं है। यदि स्मृति प्रमाण नहीं मानी जायगी तो देने और ग्रहण करने के विलोप की आपत्ति आती है।

बौद्ध—अनुभूयमान विषय का अभाव होने से स्मृति प्रमाण नहीं है।

जैन—यह बात उचित नहीं है। अनुभूयमान विषय का अभाव मानने पर भी (स्वग्राम तडाग आदि) अनुभूत पदार्थ के सावलम्बनता बन जाती है, अन्यथा प्रत्यक्ष के अनुभूत अर्थ का विषय होने से अप्रमाणता अनिवार्य हो जायगी। अपने विषय का जानना स्मरण में भी समान है। दूसरी बात यह है कि स्मृति को प्रमाण न मानने पर अनुमान की प्रमाणता की बात करना भी दुर्लभ हो जायगी। स्मृति से साध्य साधन सम्बन्ध रूप व्याप्ति के अविषय करने पर अर्थात् स्मरण न करने पर अनुमान के प्रामाण्य का उत्थान भी नहीं होगा? तो यह कहना चाहिए—स्मृति प्रमाण है, अन्यथा अनुमान को प्रमाणता नहीं बन सकती। वह स्मृति ही प्रत्यक्ष और अनुमान रूप से दो प्रमाण होने के नियम का विघटन कर देती है। अतः हमें चिन्ता करने से क्या लाभ है?

स्मृति के समान प्रत्यभिज्ञान भी बौद्धों की प्रमाण संख्या का विघटन करती ही है। प्रत्यभिज्ञान का बौद्धों के द्वारा माने गये प्रत्यक्ष और अनुमान में अन्तर्भाव नहीं होता है।

बौद्ध—'तत्' यह स्मरण है, 'इदम्' यह प्रत्यक्ष है, इस प्रकार दो ज्ञान ही हैं। स्मरण और प्रत्यक्ष से भिन्न प्रत्यभिज्ञान नामक अन्य प्रमाण

तथा प्रत्यभिज्ञानमपि सौगतीयप्रमाणसङ्ख्यां विघटयत्येव; तस्यापि प्रत्यक्षानुमानयोरनन्तर्भावात्। ननु तदिति स्मरणमिदमिति प्रत्यक्षमिति ज्ञानद्वयमेव, न ताभ्यां विभिन्नं प्रत्यभिज्ञानाख्यं वयं प्रतिपद्यमानं प्रमाणान्तरमुपलभामहे। कथं तेन प्रमाणसङ्ख्याविघटनमिति ? तदप्यघटितमेव, यतः स्मरणप्रत्यक्षाभ्यां प्रत्यभिज्ञानविषयस्यार्थस्य ग्रहीतुमशक्यत्वात्। पूर्वोत्तरविवर्तवर्त्येकद्रव्यं हि प्रत्यभिज्ञानविषयः, न च तत्स्मरणेनोपलभ्यते, तस्यानुभूतविषयत्वात। नापि प्रत्यक्षेण, तस्य वर्त्तमानविवर्तवर्तित्वात्। यदप्युक्तम्—'ताभ्यां भिन्नमन्यद् ज्ञानं नास्तीति' तदप्ययुक्तम्, अभेदपरामर्शरूपतया भिन्नस्यैवावभासनात्। न तयोरन्यतरस्य वाऽभेदपरामर्शकत्वमस्ति; विभिन्नविषयत्वात्। न चैतत् [1]प्रत्यक्षेऽन्तर्भवति, अनुमाने वा; तयोः पुरोऽवस्थितार्थविषयत्वेनाविनाभूतलिङ्गसम्भावितार्थविषयत्वेन च पूर्वापरविकारव्याप्येकत्वाविषयत्वात्। नापि स्मरणे, तेनापि तदेकत्वस्याविषयीकरणात्।

हम प्राप्त नहीं करते हैं अतः प्रत्यभिज्ञान से प्रमाण की संख्या का विघटन कैसे होता है ?

जैन—यह कथन भी घटित नहीं होता; क्योंकि स्मरण और प्रत्यक्ष से प्रत्यभिज्ञान के विषय रूप पदार्थ का ग्रहण सम्भव नहीं है। पूर्वोत्तर पर्यायवर्ती एक द्रव्य प्रत्यभिज्ञान का विषय है। वह स्मरण से प्राप्त नहीं होता है; क्योंकि स्मरण का विषय अनुभूत पदार्थ है। प्रत्यभिज्ञान प्रत्यक्ष से भी प्राप्त नहीं होता है; क्योंकि वह वर्तमान पर्याय को विषय करता है। जो यह कहा है कि स्मरण और प्रत्यक्ष से भिन्न अन्य ज्ञान नहीं है, यह कहना भी ठीक नहीं है। (पूर्वोत्तर विवर्तवर्ती एक द्रव्य परामर्शरूप) अभेद को परामर्श करने (जानने) के कारण प्रत्यभिज्ञान में भिन्न का ही अवभासन होता है। स्मरण और प्रत्यक्ष इन दोनों में से एक में भी अभेद परामर्शकत्व नहीं है; क्योंकि उनका विषय भिन्न-भिन्न है। प्रत्यभिज्ञान का न तो प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव होता है, न अनुमान में। प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों सामने अवस्थित पदार्थ को विषय करने और अविनाभाव रूप लिंग से सम्भावित पदार्थ को विषय करने से पूर्वापर विकार (पर्याय) व्यापी एकत्व को विषय नहीं करते हैं। स्मरण में भी प्रत्यभिज्ञान का अन्तर्भाव नहीं हो सकता; क्योंकि स्मरण भी एकत्व को विषय नहीं करता है।

---

१. प्रत्यभिज्ञानम्।

अथ संस्कार[1] स्मरणसहकृतमिन्द्रियमेव प्रत्यभिज्ञानं जनयति, इन्द्रियजं चाक्ष्यक्षमेवेति न प्रमाणान्तरमित्यपरः। सोऽप्यतिबालिश एव, स्वविषयाभिमुख्येन प्रवर्तमानस्येन्द्रियस्य सहकारिशतसमवधानेऽपि विषयान्तरप्रवृत्तिलक्षणातिशयायोगात्। विषयान्तरं चातीत साम्प्रतिकावस्थाव्याप्येकद्रव्यमिन्द्रियाणां रूपादिगोचरचारित्वेन चरितार्थत्वाच्च। नाप्यदृष्ट-सहकारिसव्यपेक्षमिन्द्रियमेकत्वविषयम्, उक्तदोषादेव। किञ्च—अदृष्टसंस्कारादिसव्यपेक्षादेवाऽऽत्मनस्तद्विज्ञानमिति किन्न कल्प्यते? दृश्यते हि स्वप्न[2]-[3]सारस्वत-[4]चाण्डालिकादिविद्यासंस्कृतादात्मनो विशिष्टज्ञानोत्पत्तिरिति।

यौग—संस्कार (धारण ज्ञान रूप एक प्रत्यक्ष विशेष) तथा स्मरण से सहकृत इन्द्रिय ही प्रत्यभिज्ञान को उत्पन्न करती है और इन्द्रियों से उत्पन्न हुआ ज्ञान प्रत्यक्ष ही है, अन्य प्रमाण (प्रत्यभिज्ञान) नहीं है।

जैन—ऐसा कहने वाला भी अत्यन्त मूर्ख है। अपने विषय की ओर अभिमुख होकर प्रवर्तमान इन्द्रिय के सैकड़ों सहकारी कारणों के सन्निधान होने पर भी विषयान्तर में प्रवृत्ति करने रूप अतिशय का होना असम्भव है। विषयान्तर अतीत और वर्तमान कालवर्ती अवस्थाओं में रहने वाला द्रव्य है; क्योंकि इन्द्रियाँ अपने रूपादि विषयों में प्रवृत्ति करके चरितार्थ होती हैं। (पुण्य पाप लक्षण) 'अदृष्ट के सहकारीपने की अपेक्षा इन्द्रिय एकत्व को विषय कर लेगी, यदि ऐसा कहो तो ठीक नहीं है; क्योंकि ऐसा स्वीकार करने पर उक्त दोष ही आता है। दूसरी बात यह है कि अदृष्ट और संस्कारादि सहकारी कारणों की अपेक्षा से आत्मा के ही एकत्व को ग्रहण करने वाला वह विज्ञान (प्रत्यभिज्ञान रूप विशिष्टज्ञान) ही क्यों नहीं मान लेते। ऐसा दिखाई देता है कि (अतीत, अनागत, वर्तमान, लाभ, अलाभादि की सूचना देने वाली) स्वप्नविद्या, (असाधारण वादित्व, कवित्व आदि प्रदान करने वाली) सारस्वत विद्या (नष्ट मुष्टि आदि की सूचना देने वाली) चाण्डालिका आदि विद्याओं से संस्कृत आत्मा के विशिष्ट ज्ञान की उत्पत्ति होती है।

---

१. प्रत्यक्षविशेषो धारणाज्ञानं संस्कारः। स्वाश्रयस्य प्रागुद्भूतावस्थासमानावस्थान्तरापादकोऽतीन्द्रियो धर्मो वा संस्कारः।

२. अतीतानागतवर्तमानलाभालाभादिसूचनी या सा स्वप्नविद्या।

३. असाधारणवादित्व कवित्वादिविधायिनी सारस्वतविद्या।

४. नष्टमुष्ट्यादिसूचिका चाण्डालिका विद्या, मन्त्रविशेषः।

ननु अञ्जनादिसंस्कृतमपि चक्षुः सातिशयमुपलभ्यत इति चेन्न, तस्य स्वार्थानतिक्रमेणैवातिशयोपलब्धेर्न विषयान्तरग्रहणलक्षणातिशयस्य। तथा चोक्तम्—

यत्राप्यतिशयो दृष्टः स स्वार्थानतिलङ्घनात्।
दूर-सूक्ष्मादिदृष्टौ स्यान्न रूपे श्रोत्रवृत्तितः॥ ३॥

नन्वस्य वार्तिकस्य सर्वज्ञ-प्रतिषेधपरत्वाद्विषमो दृष्टान्त इति चेन्न; इन्द्रियाणां विषयान्तरप्रवृत्तावतिशयाभावमात्रे सादृश्याद् दृष्टान्तत्वोपपत्तेः। न हि सर्वो दृष्टान्तधर्मो दार्ष्टान्तिके भवितुमर्हति, अन्यथा दृष्टान्त एव न स्यादिति।

ततः स्थितम्—प्रत्यक्षानुमानाभ्यामर्थान्तरं प्रत्यभिज्ञानं सामग्री-स्वरूप-भेदादिति। न चैतदप्रमाणम्, ततोऽर्थं परिच्छिद्य प्रवर्तमानस्यार्थक्रियायाम-

---

यौग—अञ्जनादि से संस्कृत नेत्र के भी सातिशयपना प्राप्त होता है।

जैन—ऐसा कहना ठीक नहीं है। वह चक्षु अपने सन्निहित, वर्तमान रूपादि विषय का अतिक्रमण न करके ही अतिशयपने को प्राप्त होती है, विषयान्तर को ग्रहण करने रूप लक्षण वाला अतिशय उसमें नहीं दिखाई देता है। मीमांसा श्लोकवार्तिक में कहा है—

(गृद्ध, वराहादि के नेत्रादि में; क्योंकि गृद्ध के चक्षु प्रबल होते हैं, वराह के कान प्रबल होते हैं) जहाँ भी अतिशय दिखाई देता है, वह अपने विषय का उल्लंघन न करके ही दिखाई देता है (अविषय में नहीं)। दूर-सूक्ष्मादि पदार्थों के देखने में जो विशेषता होती है, वह मर्यादा के भीतर ही है। रूप के विषय में श्रोत्र इन्द्रिय का अतिशय दिखाई नहीं देता है।

यौग—यह वार्तिक सर्वज्ञ के निषेध के प्रसंग में कहा गया है। अतः यह दृष्टान्त विषम है।

जैन—यह बात ठीक नहीं है। हम जैसे लोगों की इन्द्रियों की विषयान्तर में प्रवृत्ति करने रूप अतिशय के अभाव मात्र में सादृश्य होने से, यह दृष्टान्त युक्तियुक्त है। दृष्टान्त के सभी धर्म दार्ष्टान्त में हों, ऐसा नहीं है, अन्यथा दृष्टान्त ही नहीं रहेगा।

चूँकि पूर्वोत्तर विवर्तवर्ती एकत्व प्रत्यक्ष और अनुमान का विषय नहीं है अतः यह बात सिद्ध हुई कि प्रत्यक्ष और अनुमान से भिन्न प्रत्यभिज्ञान है; क्योंकि प्रत्यभिज्ञान की सामग्री दर्शन और स्मरण है तथा स्वरूप 'स एव' इस रूप सङ्कलन है। प्रत्यभिज्ञान को (सीप में रजत ज्ञान के

विसंवादात् प्रत्यक्षवदिति। न चैकत्वापलापे बन्ध-मोक्षादिव्यवस्था, अनुमान-व्यवस्था वा। एकत्वाभावे बद्धस्यैव मोक्षादेर्गृहीत-सम्बन्धस्यैव लिंगस्या-दर्शनात्, अनुमानस्य च व्यवस्थायोगादिति। न चास्य विषये बाधक-प्रमाणसद्भावादप्रामाण्यम्, तद्विषये प्रत्यक्षस्य लैंगिकस्य चाप्रवृत्तेः प्रवृत्तौ वा प्रत्युत [1]साधकत्वमेव, न बाधकत्वमित्यलमतिप्रसंगेन।

तथा सौगतस्य प्रमाणसङ्ख्याविरोधिविध्वस्तबाधं [2]तर्काख्यमुपढौकत एव। न चैतत्प्रत्यक्षेऽन्तर्भवति; साध्य-साधनयोर्व्याप्य-व्यापकभावस्य साकल्येन प्रत्यक्षा-विषयत्वात्। न हि तदियतो व्यापारान् कर्तुं शक्नोति; अविचारकत्वात् सन्नि-हितविषयत्वाच्च। नाप्यनुमाने; तस्यापि देशादिविषयविशिष्टत्वेन [3]व्याप्त्य-

---

समान) अप्रमाण भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि उससे पदार्थ को जानकर प्रवृत्त हुए पुरुष की अर्थक्रिया में प्रत्यक्ष के समान विसंवाद नहीं पाया जाता है। एकत्व का अपलाप करने वाले बौद्धमत में बन्ध, मोक्षादि की व्यवस्था अथवा अनुमान व्यवस्था नहीं बनती है। एकत्व का अभाव मानने पर जो बँधा था, वही छूटा इस प्रकार साधन रूप लिंग का साध्य के साथ जो अविनाभाव है, उसका ग्रहण नहीं होगा। ऐसा न होने पर अनुमान की भी व्यवस्था नहीं बनेगी। प्रत्यभिज्ञान के एकत्व के विषय में बाधक प्रमाण के सद्भाव में अप्रमाणता भी नहीं है। प्रत्यभिज्ञान के विषय में प्रत्यक्ष और अनुमान ज्ञान की प्रवृत्ति नहीं होती है। यदि इन दोनों की प्रवृत्ति हो भी तो यह साधक ही है अर्थात् प्रत्यभिज्ञान ने जिसे विषय बनाया है उसे प्रत्यक्ष साधता है या अनुमान साधता है तो ये दोनों साधक ही हैं, बाधक नहीं हैं। अतः इस प्रसंग में अधिक कहने से बस।

तथा बौद्धों की प्रमाण संख्या का विरोध, बाधा रहित तर्क नामक प्रमाण आकर उपस्थित है। इसका प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव नहीं होता है; क्योंकि साध्य-साधन का व्याप्य-व्यापक भाव रूप सम्बन्ध (देशान्तर और कालान्तर के) साकल्य से प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता। और न प्रत्यक्ष (जितने भी धूम हैं, वे सब अग्नि से जन्य हैं, अग्नि से भिन्न से उत्पन्न नहीं हैं) इतने व्यापारों को करने में समर्थ है; क्योंकि वह वह अविचारक (बौद्ध मत में निर्विकल्पक) है और उसका विषय सन्नि-

---

१. प्रत्यभिज्ञानेन विषयीकृतं प्रत्यक्षं साधयति, अनुमानं साधयति, तदा साधकत्वम्।

२. तीर्यते संशय-विपर्ययावनेनेति तर्कः।

३. अनियतदिग्देशकालादिविषया व्याप्तिः।

विषयत्वात्। तद्विषयत्वे वा प्रकृतानुमानानुमानान्तरविकल्पद्वयानतिक्रमात्। तत्र प्रकृतानुमानेन व्याप्तिप्रतिपत्तावितरेतराश्रयत्वप्रसंगः—व्याप्तौ हि प्रतिपन्नायामनुमानमात्मानमासादयति, तदात्मलाभे च व्याप्तिप्रतिपत्तिरिति। अनुमानान्तरेणाविनाभावप्रतिपत्तावनवस्थाचमूरी परपक्षचमूं चञ्चमीतीति नानुमानगम्या व्याप्तिः।

नापि साङ्ख्यादिपरिकल्पितैरागमोपमानार्थापत्त्यभावैः[1] साकल्येनाविनाभावावगतिः तेषां समय सङ्गृहीतसादृश्यानन्यथाभूताभावविषयत्वेन व्याप्त्यविषयत्वात् परैस्तथाऽनभ्युपगमाच्च।

अथ प्रत्यक्षपृष्ठभाविविकल्पात् साकल्येन साध्य-साधनभावप्रतिपत्तेर्न प्रमाणान्तरं तदर्थं मृग्यमित्यपरः। सोऽपि न युक्तवादी; विकल्पस्याध्यक्षगृहीतविषयस्य

हित पदार्थ है। अनुमान में भी तर्क प्रमाण का अन्तर्भाव नहीं होता है; क्योंकि अनुमान देशादि के विषय से विशिष्ट व्याप्ति को विषय नहीं करता है। (अनियत दिग्देश कालादि विषय वाली व्याप्ति होती है)। व्याप्ति को अनुमान का विषय मानने पर प्रकृत अनुमान व्याप्ति को विषय करेगा या दूसरा अनुमान ? प्रकृत अनुमान के द्वारा व्याप्ति का ग्रहण करने पर इतरेतराश्रय दोष का प्रसंग आता है। व्याप्ति को स्वीकार कर लेने पर अनुमान स्वरूपलाभ करने और अनुमान के स्वरूप लाभ करने पर व्याप्ति का ग्रहण हो। अन्य अनुमान से अविनाभाव मानने पर अनवस्था नामक व्याघ्री परपक्ष रूपी सेना को चबा डालेगी, अतः व्याप्ति अनुमानगम्य नहीं है।

सांख्य, नैयायिक, अक्षपाद, प्राभाकर और जैमिनीय के द्वारा परिकल्पित आगम, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव प्रमाणों के द्वारा सामस्त्य रूप से अविनाभावरूप व्याप्ति का ज्ञान नहीं हो सकता है; क्योंकि उन आगमादि के संकेत द्वारा वस्तु को ग्रहण करना, सादृश्य को ग्रहण करना, अनन्यथाभूत अर्थ को ग्रहण करना तथा अभाव को विषय करना (पाया जाता) है। ये सब व्याप्ति को विषय नहीं करते हैं तथा इन सब मत वालों ने उन्हें व्याप्ति को विषय करने वाला माना भी नहीं है।

बौद्ध—प्रत्यक्ष के पीछे होने वाले विकल्प से (देशान्तर कालान्तर रूप) सामस्त्य से साध्य-साधन भाव की जानकारी होने से व्याप्ति ग्रहण के लिए अन्य प्रमाण की खोज नहीं करना चाहिए।

---

१. प्रसिद्धसाधर्म्यादप्रसिद्धस्य साधनमुपमानम्। उक्तञ्च—उपमानं प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात्साध्यसाधनमिति।

तदगृहीतविषयस्य वा तद्व्यवस्थापकत्वम् ? आद्ये पक्षे दर्शनस्येव तदनन्तरभावि-निर्णयस्यापि नियतविषयत्वेन व्याप्त्यगोचरत्वात् । द्वितीयपक्षेऽपि विकल्पद्वयमुपतिष्ठतेकत एव—तद्विकल्पज्ञानं प्रमाणमन्यथा वेति ? प्रथमपक्षे प्रमाणान्तरमनुमन्तव्यम्; प्रमाणद्वयेऽन्तर्भावात् । उत्तरपक्षे तु न 'ततोऽनुमानव्यवस्था; न हि व्याप्तिज्ञानस्याप्रामाण्ये तत्पूर्वकमनुमानं प्रामाण्यमास्कन्दति, सन्दिग्धादिलिङ्गादप्युत्पद्यमानस्य प्रामाण्यप्रसङ्गात् । ततो व्याप्तिज्ञानं सविकल्पमविसंवादकं च प्रमाणं प्रमाणद्वयान्यदभ्युपगमम्यमिति न सौगताभिमतप्रमाणसङ्ख्यानियमः ।

एतेनानुपलम्भात् कारण व्यापकानुपलम्भाच्च कार्यकारण-व्याप्यव्यापकभाव-संवित्तिरिति वदन्नपि प्रत्युक्तः; अनुपलम्भस्य प्रत्यक्षविषयत्वेन कारणाद्यनुपलम्भस्य च लिंगत्वेन तज्जनितस्यानुमानत्वात् प्रत्यक्षानुमानाभ्यां व्याप्तिग्रहणपक्षोपक्षिप्तदोषानुषंगात् ।

जैन—वह बौद्ध युक्तिवादी नहीं है । प्रत्यक्ष से गृहीत विषय वाले विकल्प को आप व्याप्ति का व्यवस्थापक मानते हैं या प्रत्यक्ष से जिसका विषय गृहीत नहीं है, ऐसे विकल्प को व्याप्ति का व्यवस्थापक मानते हैं ? आदि पक्ष में दर्शन के समान उसके पीछे होने वाले विकल्प रूप निर्णय के भी विशिष्ट देश-काल के आधार से नियत विषयपने के कारण व्याप्ति का ज्ञान ही नहीं होता है । दूसरे पक्ष में दो विकल्प प्राप्त होते हैं—वह विकल्पज्ञान प्रमाण स्वरूप है या अप्रमाण ? प्रथम पक्ष में अन्य प्रमाण मानना चाहिए; क्योंकि उसका दो प्रमाणों में अन्तर्भाव नहीं होता है । उत्तर पक्ष मानने पर अर्थात् अप्रमाण सविकल्प मानने पर उससे अनुमान की व्यवस्था नहीं होती है । व्याप्ति ज्ञान के अप्रामाण्य होने पर व्याप्ति ज्ञानपूर्वक होने वाला अनुमान प्रमाणता को प्राप्त नहीं करता है । सन्दिग्ध, विपर्यस्त आदि लिंग से उत्पन्न होने वाले अनुमान को भी प्रमाण मानने का प्रसंग आता है । अतः तर्क नामक व्याप्ति ज्ञान को सविकल्पक, अविसंवादक और प्रत्यक्ष तथा अनुमान इन दोनों से भिन्न अन्य ही प्रमाण मानना चाहिए । इस प्रकार बौद्धाभिमत प्रमाण संख्या का नियम नहीं ठहरता है ।

प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा व्याप्ति के ग्रहण के निराकरण के रूप स्वभावानुपलम्भ से, कारणानुपलम्भ से और व्यापकानुपलम्भ से कार्य-कारणभाव और व्याप्य-व्यापकभाव का ज्ञान होता है, ऐसा कहने वाले बौद्धों का भी निराकरण हो जाता है; क्योंकि स्वभावानुपलम्भ तो प्रत्यक्ष का ही विषय है और कारणानुपलम्भ तथा व्यापकानुपलम्भ लिंग रूप हैं

एतेन प्रत्यक्षफलेनोहापोहविकल्पज्ञानेन व्याप्तिप्रतिपत्तिरित्यप्यपास्तम्। प्रत्यक्षफलस्यापि प्रत्यक्षानुमानयोरन्यतरत्वे व्याप्तेरविषयीकरणात् तदन्यत्वे च प्रमाणान्तरत्वमनिवार्यमिति।

अथ व्याप्तिविकल्पस्य फलत्वान्न प्रामाण्यमिति न युक्तम्; फलस्याप्यनुमानलक्षणफलहेतुतया प्रमाणत्वाविरोधात्। तथा [1]सन्निकर्षफलस्यापि विशेषणज्ञानस्य विशेषज्ञानलक्षणफलापेक्षया प्रमाणत्वमिति न वैशेषिकाभ्युपगतोहापोहविकल्पः प्रमाणान्तरत्वमतिवर्तते।

एतेन त्रि-चतुः-पञ्च षट्प्रमाणवादिनोऽपि साङ्ख्याक्षपाद-प्रभाकर-जैमिनीयाः स्वप्रमाणसङ्ख्यां न व्यवस्थापयितुं क्षमा इति प्रतिपादितमवगन्तव्यम्।

तथा उनसे उत्पन्न होने वाला ज्ञान अनुमान नहीं है, अतः प्रत्यक्ष और अनुमान से व्याप्ति के ग्रहण करने के पक्ष में जो दोष प्राप्त होते थे, उनकी प्राप्ति का प्रसंग उपस्थित होता है।

अनुपलम्भ आदि के द्वारा व्याप्ति के ग्रहण में प्रत्यक्ष और अनुमान पक्ष में उपक्षिप्त दोष के दर्शन से प्रत्यक्ष के फल (पूर्व पूर्व प्रमाण होने पर उत्तर उत्तर फल होता है) रूप ऊहापोह विकल्प ज्ञान के द्वारा व्याप्ति की जानकारी होती है, इस प्रकार कहने वाले वैशेषिकों के मत का भी खण्डन हो जाता है। प्रत्यक्ष के फल को प्रत्यक्ष और अनुमान में से किसी एक रूप मानने पर उनके द्वारा व्याप्ति विषय नहीं की जा सकती। प्रत्यक्ष और अनुमान से भिन्न मानने पर भिन्न प्रमाण मानना अनिवार्य है।

नैयायिक—व्याप्ति का ग्राहक तर्क फल होने के कारण प्रामाण्य नहीं है।

जैन—यह ठीक नहीं है। फल रूप होते हुए भी वह अनुमान का हेतु है और अनुमान उसका फल है, अतः उसे प्रमाण मानने में विरोध नहीं है तथा (इन्द्रिय और पदार्थ के सम्बन्ध रूप) सन्निकर्ष के फल रूप भी विशेषण के ज्ञान को विशेष्य ज्ञान के लक्षणरूप फल की अपेक्षा प्रमाण मानने पर वैशेषिकों के द्वारा माना गया ऊहापोह विकल्प रूप ज्ञान भी तर्क ज्ञान रूप अन्य प्रमाण का उल्लंघन नहीं करता है (निराकरण नहीं करता है)।

बौद्ध की प्रमाणसंख्याप्रतिपादन की असामर्थ्य के समर्थन द्वारा तीन, चार, पाँच, छह प्रमाण कहने वाले सांख्य, अक्षपाद, प्रभाकर और जैमिनीय अपनी प्रमाण की संख्या को व्यवस्थापित करने में समर्थ नहीं हैं,

---

१. इन्द्रियार्थयोः सम्बन्धः सन्निकर्षः।

उक्तन्यायेन स्मृति-प्रत्यभिज्ञान-तर्काणां तदभ्युपगतप्रमाणसङ्ख्यापरिपन्थित्वादितः प्रत्यक्षेतरभेदाद् द्वे एव प्रमाणे इति स्थितम् ।

अथेदानीं प्रथमप्रमाणभेदस्य स्वरूपं निरूपयितुमाह—

विशदं प्रत्यक्षम् ॥ ३ ॥

ज्ञानमित्यनुवर्तते । प्रत्यक्षमिति धर्मिनिर्देशः । विशदज्ञानात्मकं साध्यम् । प्रत्यक्षत्वादिति हेतुः । तथाहि—प्रत्यक्षं विशदज्ञानात्मकमेव, प्रत्यक्षत्वात् । यन्न विशदज्ञानात्मकं तन्न प्रत्यक्षम्, यथा परोक्षम् । प्रत्यक्षं च विवादापन्नम् । तस्माद्विशदज्ञानात्मकमिति । प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्धो हेतुरिति चेत् का पुनः प्रतिज्ञा तदेकदेशो वा ? धर्मि धर्मसमुदायः प्रतिज्ञा । तदेकदेशो धर्मो धर्मी वा ? हेतुः प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्ध इति चेन्न, धर्मिणो हेतुत्वे असिद्धत्वायोगात् । तस्य पक्षप्रयोगकालवद्धेतुप्रयोगेऽप्यसिद्धत्वायोगात् ।

ऐसा प्रतिपादित समझना चाहिए । उक्त न्याय से स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्कप्रमाण सांख्यादि के द्वारा मानी गई प्रमाण संख्या के विरोधी हैं । इस प्रकार यह बात सिद्ध हुई कि प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो ही प्रमाण हैं ।

अब इस समय प्रमाण के प्रथम भेद प्रत्यक्ष का स्वरूप निरूपण करने के लिए कहते हैं ।

सूत्रार्थ—विशद ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं ॥ ३ ॥

इस सूत्र में ज्ञान पद की अनुवृत्ति होती है । प्रत्यक्ष यह धर्मी का निर्देश है (साध्य धर्म का आधार रूप धर्मी पक्ष है) । विशद ज्ञानात्मकता साध्य है, प्रत्यक्षत्वात् यह हेतु है । इसी बात को स्पष्ट करते हैं—प्रत्यक्ष विशदज्ञानात्मक ही होता है; क्योंकि वह प्रत्यक्ष है । जो विशदज्ञानात्मक नहीं होता है, वह प्रत्यक्ष नहीं होता है, जैसे परोक्ष । और प्रत्यक्ष विवादापन्न है, इसलिए वह विशद ज्ञानात्मक है ।

शङ्का—यहाँ हेतु प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्ध है ।

प्रतिशङ्का—प्रतिज्ञा क्या है और उसका एकदेश क्या है ?

समाधान—धर्म (साध्य) और धर्मी (पक्ष) का समुदाय प्रतिज्ञा है । उसका एकदेश धर्म अथवा धर्मी है । उनमें से एक को हेतु बनाने पर वह प्रतिज्ञार्थैकदेशसिद्ध हेत्वाभास हो जाता है ।

प्रतिसमाधान—यह बात ठीक नहीं है । धर्मी को हेतु बनाने पर असिद्धपना नहीं प्राप्त होता है । पक्षप्रयोग काल में धर्मी के जैसे

धर्मिणो हेतुत्वे अनन्वय दोष इति चेन्न; विशेषस्य धर्मित्वात्, सामान्यस्य च हेतुत्वात्। तस्य च विशेषेऽनुगमो विशेषनिष्ठत्वात्सामान्यस्य।

अथ साध्यधर्मस्य[1] हेतुत्वे प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्धत्वमिति। तदप्यसम्मतम्, साध्यस्य स्वरूपेणैवासिद्धत्वान्न प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वेन तस्यासिद्धत्वम्, धर्मिणा व्यभिचारात्।

सपक्षे वृत्त्यभावाद्धेतोरनन्वय इत्यप्यसत्, सर्वभावानां क्षणभङ्गसङ्गममेवाङ्गशृङ्गारमङ्गीकुर्वतां ताथागतानां सत्त्वादिहेतूनामनुदयप्रसङ्गात्। न विपक्षे बाधकप्रमाणभावात् पक्षव्यापकत्वाच्चानन्वयत्वं प्रकृतेऽपि समानम्।

इदानीं स्वोक्तमेव विशदत्वं व्याचष्टे—

प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन विशेषवत्तया वा प्रतिभासनं वैशद्यम् ॥४॥

असिद्धपना नहीं है, उसी प्रकार हेतु प्रयोगकाल में भी उसके असिद्धपना नहीं आ सकता।

शङ्का—धर्मी को हेतु बनाने पर (यह पर्वत अग्निवाला है; क्योंकि यह पर्वत है, इत्यादि के समान) अनन्वय दोष प्राप्त होता है।

समाधान—यह बात ठीक नहीं है। प्रत्यक्ष विशेष यहाँ धर्मी है और प्रत्यक्ष सामान्य हेतु है। सामान्य का अपने विशेषों में अन्वय रहता है; क्योंकि सामान्य अपने सभी विशेषों में रहता है (ऐसा यौग ने माना है)।

शङ्का—साध्य रूप धर्म को हेतु बनाने पर प्रतिज्ञार्थैकदेशसिद्ध हेत्वाभास हो जायगा।

समाधान—यह बात भी असम्मत है। साध्य के स्वरूप से ही असिद्ध होने से प्रतिज्ञार्थ के एक देश होने से असिद्धता नहीं है, अन्यथा धर्मी के द्वारा व्यभिचार आता है।

शङ्का—(साध्य-साधन धर्मा-धर्मी सपक्ष है, उस) सपक्ष में हेतु के न रहने से और अन्वय दृष्टान्त के न पाए जाने से आपके अनन्वय दोष प्राप्त होता है।

समाधान—यह कथन भी ठीक नहीं है; क्योंकि समस्त पदार्थों के क्षणभंग संगमरूप शृङ्गार को अङ्गीकार करने वाले बौद्धों के सत्त्वादि हेतुओं के अनुदय का प्रसंग प्राप्त होता है। विपक्ष में बाधक प्रमाण का सद्भाव होने से तथा पक्ष में व्यापक होने से सत्त्व हेतु के अनन्वय-दूषण नहीं प्राप्त होता है, यह बात प्रकृत में भी समान है।

प्रत्यक्ष के विशदज्ञानात्मकत्व का समर्थन करने के अनन्तर अपने द्वारा कहे गए विशदत्व के विषय में कहते हैं—

---

१. साध्यमेव धर्मः साध्यधर्मः।

एकस्याः प्रतीतेरन्या प्रतीतिः प्रतीत्यन्तरम् । तेनाव्यवधानं तेन प्रतिभासनं वैशद्यम् । यद्यप्यवायस्यावग्रहेहाप्रतीतिभ्यां व्यवधानम्, तथापि न परोक्षत्वम्; विषयविषयिणोर्भेदेना प्रतिपत्तेः । यत्र विषय-विषयिणोर्भेदे सति व्यवधानं तत्र परोक्षत्वम् ।

तर्ह्यनुमानाव्यक्षविषयस्यैकात्मग्राह्यस्यानेर्भिन्नस्योपलम्भादध्यक्षस्य परोक्षतेति । तदप्ययुक्तम्, भिन्नविषयत्वाभावात् । विसदृशसामग्रीजन्यभिन्नविषया प्रतीतिः प्रतीत्यन्तरमुच्यते, नान्यदिति न दोषः । न केवलमेतदेव, विशेषवत्तया वा प्रतिभासनं सविशेषवर्णसंस्थानादिग्रहणं वैशद्यम् ।

सूत्रार्थ—दूसरे ज्ञान के व्यवधान से और विशेषता से होने वाले प्रतिभास को वैशद्य कहते हैं।

एक प्रतीति से भिन्न दूसरी प्रतीति को प्रतीत्यन्तर कहते हैं। उससे व्यवधान का न होना, उससे प्रतिभासन होना वैशद्य है। यद्यपि अवाय का अवग्रह और ईहा रूप दो प्रतीतियों से व्यवधान है, फिर भी परोक्षपना नहीं है; क्योंकि यहाँ पर विषय (पदार्थ) और विषयी (ज्ञान) को भेद रूप से प्रतीति नहीं है। जहाँ विषय और विषयी में भेद होने पर व्यवधान होता है, वहाँ पर परोक्षपना माना जाता है।

विशेष—जो पदार्थ अवग्रह का विषय है, वही ईहा और अवाय का विषय है। एक ही विषयभूत पदार्थ को जानने से ये सभी ज्ञान एक विषय रूप हैं।

शङ्का—जैसे अवग्रह ज्ञान प्रत्यक्ष है उसी प्रकार अवग्रह और ईहा से व्यवधान होने पर भी अवायज्ञान की भी प्रत्यक्षता उसी क्रम से ही है। यदि ऐसा है तो प्रथम अग्नि ज्ञान परोक्ष है; क्योंकि धूमज्ञान से व्यवधान है। बाद में समीप में जाकर देखता है, उसका प्रत्यक्षपना भी परोक्ष होता है; क्योंकि उसमें प्रतीत्यन्तर रूप अनुमान ज्ञान से व्यवधान है तथा प्रथम धूम दर्शन अन्य विषय है, पश्चात् अग्निज्ञान भिन्न है। अतः भिन्न विषयों की उपलब्धि के कारण इस प्रकार उत्पन्न हुए प्रत्यक्ष ज्ञान के भी परोक्षपना प्राप्त होता है।

समाधान—यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि यहाँ पर भिन्न विषयपने का अभाव है। विलक्षण सामग्री से जन्य भिन्न विषय वाली प्रतीति प्रतीत्यन्तर कहलाती है, अन्य नहीं, अतः दोष नहीं है। दूसरे ज्ञान के व्यवधान से रहितपना ही वैशद्य नहीं है, अपितु विशेषता से

'तच्च प्रत्यक्षं द्वेधा, मुख्य-संव्यवहारभेदादिति मनसि कृत्य प्रथमं सांव्यवहारिक प्रत्यक्षोत्पादिकां सामग्रीं तद्भेदं च प्राह—

[1]इन्द्रियानिन्द्रिय[2]निमित्तं देशतः सांव्यवहारिकम् ॥५॥

विशदं ज्ञानमिति चानुवर्तते। देशतो विशदं ज्ञानं सांव्यवहारिकमित्यर्थः। समीचीनः प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपो व्यवहारः, तत्र भवं सांव्यवहारिकं। पुनः किम्भूतम् ? इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्। इन्द्रियं चक्षुरादि, अनिन्द्रियं मनः ते निमित्तं कारणं यस्य। समस्तं व्यस्तं च कारणमभ्युपगन्तव्यम्। इन्द्रियप्राधान्यादनिन्द्रियबलाधानादुपजातमिन्द्रियप्रत्यक्षम्। अनिन्द्रियादेव [3]विशुद्धिसव्यपेक्षादुपजायमानमनिन्द्रियप्रत्यक्षम्।

तत्रेन्द्रियप्रत्यक्षमवग्रहादिधारणापर्यन्ततया चतुर्विधमपि बह्वादिद्वादशभेदमष्ट-

---

होने वाला प्रतिभास, विशेषता से युक्त वर्ण संस्थानादि का ग्रहण वैशद्य है।

वह प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है, मुख्य प्रत्यक्ष और सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष, इस प्रकार मन में रखकर प्रथम सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष की उत्पादक सामग्री और उसके भेद को कहते हैं।

सूत्रार्थ—इन्द्रिय और मन के निमित्त से होने वाले एकदेश विशद ज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं॥ ५॥

सूत्र में विशद और ज्ञान की अनुवृत्ति आती है। एकदेश विशद ज्ञान सांव्यवहारिक है। समीचीन प्रवृत्ति निवृत्ति रूप व्यवहार को संव्यवहार कहते हैं, उसमें होने वाले ज्ञान को सांव्यवहारिक कहते हैं। पुनः सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कैसा है ? इन्द्रिय और मन जिसके कारण हैं। इन्द्रियाँ चक्षुरादि हैं और अनिन्द्रिय मन है, वे जिसके निमित्त = कारण हैं। इन्द्रिय और मन ये समस्त भी सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के कारण हैं और पृथक्-पृथक् भी कारण हैं, ऐसा मानना चाहिए। इन्द्रिय की प्रधानता से और मन की सहायता से उत्पन्न ज्ञान इन्द्रिय प्रत्यक्ष है। ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय के क्षयोपशम लक्षण वाली विशुद्धि की अपेक्षा सहित केवल मन से ही उत्पन्न होने वाले ज्ञान को अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष कहते हैं।

इन्द्रिय प्रत्यक्ष और अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष इन दोनों के मध्य इन्द्रिय प्रत्यक्ष अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के भेद से चार प्रकार का होने

---

१. इन्दति परमैश्वर्यमनुभवतीति इन्द्र आत्मा, इन्द्रस्य लिङ्गमिन्द्रियम्।

२. ईषदिन्द्रियमनिन्द्रियम्।

३. ज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमलक्षणा विशुद्धिः।

चत्वारिंशत्सङ्ख्यं प्रतीन्द्रियं प्रतिपत्तव्यम्। अनिन्द्रियप्रत्यक्षस्य चोक्तप्रकारेणाष्टचत्वारिंशद्भेदेन मनोनयनरहितानां चतुर्णामपीन्द्रियाणां व्यञ्जनावग्रहस्याष्टचत्वारिंशद्भेदेन च समुदितस्येन्द्रियप्रत्यक्षस्य षट्त्रिंशदुत्तरा त्रिशती सङ्ख्या प्रतिपत्तव्या।

ननु स्वसंवेदनभेदमन्यदपि प्रत्यक्षमस्ति, तत्कथं नोक्तमिति न वाच्यम्; तस्य सुखादिज्ञानस्वरूपसंवेदनस्य मानसप्रत्यक्षत्वात्, इन्द्रियज्ञानस्वरूपसंवेदनस्य चेन्द्रियसमक्षत्वात्। अन्यथा तस्य स्वव्यवसायायोगात्। स्मृत्यादिस्वरूपसंवेदनं मानसमेवेति नापरं स्वसंवेदनं नामाध्यक्षमस्ति।

ननु प्रत्यक्षस्योत्पादकं कारणं वदता ग्रन्थकारेणेन्द्रियवदर्थालोकावपि किं न कारणत्वेनोक्तौ? तदवचने कारणानां साकल्यस्यासङ्ग्रहाद्विनेयव्यामोह एव स्यात्,

---

पर भी बहु आदि बारह विषयों के भेद से अड़तालीस भेद रूप प्रत्येक इन्द्रिय के प्रति जानना चाहिए। अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष के उक्त प्रकार अड़तालीस भेद के साथ (अप्राप्यकारी होने से) मन और नयन से रहित श्रोत्र, त्वक्, जिह्वा और घ्राणेन्द्रियों के व्यञ्जनावग्रह के ४८ भेद के साथ एकत्रित इन्द्रियानिन्द्रिय प्रत्यक्ष की ३३६ संख्या जाननी चाहिए।

विशेष—सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष रूप मति ज्ञान के ३३६ भेद होते हैं। पाँच इन्द्रियाँ और मन छहों के अर्थावग्रह आदि चार चार के हिसाब से चौबीस भेद हुए तथा उनमें चार प्राप्यकारी इन्द्रियों के चार व्यञ्जनावग्रह जोड़ने से अट्ठाईस हुए। इन सबको बहु, अल्प, बहुविध, अल्पविध आदि बारह-बारह भेदों से गुणा करने पर ३३६ भेद होते हैं। भेदों की यह गणना स्थूल दृष्टि से है। वास्तव में तो प्रकाश आदि की स्फुटता, अस्फुटता, विषयों की विविधता और क्षयोपशम की विचित्रता के आधार पर तरतम भाव वाले असंख्य होते हैं।

बौद्ध—स्वसंवेदन नामक एक अन्य भेद भी है, वह क्यों नहीं कहा?

जैन—ऐसा नहीं कहना चाहिए। सुखादि ज्ञानस्वरूप उस संवेदन का मानस प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव होता है। इन्द्रिय ज्ञान स्वरूप संवेदन का इन्द्रिय प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव होता है, अन्यथा स्वसंवेदन ज्ञान के स्वव्यवसायकता नहीं बन सकती है। स्मृति आदि स्वरूप संवेदन मानस प्रत्यक्ष ही है, इससे भिन्न स्वसंवेदन नाम का कोई प्रत्यक्ष नहीं है।

नैयायिक—प्रत्यक्ष के उत्पादक कारण बतलाते हुए ग्रन्थकार ने इन्द्रिय के समान अर्थ और आलोक को कारण के रूप में क्यों नहीं कहा?

तदियत्ताऽनवधारणात्। न च भगवतः परमकारुणिकस्य चेष्टा तद्-व्यामोहाय प्रभवतीत्याशङ्क्यायामुच्यते—

नार्थालोकौ कारणं परिच्छेद्यत्वात्तमोवत् ॥६॥

सुगममेतत्। ननु बाह्यालोकाभावं विहाय तमसोऽन्यस्याभावात् साधनविकलो दृष्टान्त इति ? नैवम्, एवं सति बाह्यालोकस्यापि तमोऽभावादन्यस्यासम्भवात्तेजोद्रव्यस्यासम्भव इति विस्तरेणैतदलङ्कारे प्रतिपादितं बोद्धव्यम्।

अत्रैव साध्ये हेत्वन्तरमाह—

तदन्वय-व्यतिरेकानुविधानाभावाच्च केशोण्डुकज्ञानवन्नक्तञ्चर-ज्ञानवच्च ॥७॥

अत्र व्याप्तिः—यद्यस्यान्वयव्यतिरेकौ नानुविदधाति, न तत्तत्कारणकम्, यथा

इनके नहीं कहने से कारणों के साकल्य का संग्रह नहीं होने से व्यामोह ही होगा; क्योंकि ज्ञानोत्पत्ति के कारणों की संख्या का अवधारण नहीं होगा। भगवान् परम कारुणिक ग्रन्थकर्ता आचार्य की प्रवृत्ति शिष्यों के व्यामोह के लिए नहीं हो सकती, ऐसी आशङ्का होने पर कहते हैं।

सूत्रार्थ—अर्थ और आलोक सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के कारण नहीं हैं; क्योंकि वे ज्ञेय हैं, जैसे—अन्धकार ॥ ६ ॥

यह सूत्र सुगम है।

शङ्का—बाह्य आलोक के अभाव को छोड़कर अन्य कोई अन्धकार नहीं है, अतः आपका दृष्टान्त साधनविकल है।

समाधान—यह बात ठीक नहीं है। ऐसा होने पर बाह्य प्रकाश को भी अन्धकार का अभाव कह सकते हैं। इस प्रकार प्रकाश के असम्भव हो जाने से तेजोद्रव्य का मानना भी असम्भव हो जायगा। यह बात विस्तार से प्रमेयकमलमार्त्तण्ड में प्रतिपादित जाननी चाहिए।

इसी साध्य के विषय में दूसरा हेतु करते हैं—

सूत्रार्थ—धर्मी ज्ञान का कारण अर्थ और आलोक नहीं हैं; क्योंकि ज्ञान का अर्थ और आलोक के साथ अन्वय-व्यतिरेक रूप सम्बन्ध का अभाव है। जैसे केश में होने वाले उण्डुक (मच्छर) ज्ञान के साथ तथा नक्तंचर उलूक आदि को रात्रि में होने वाले ज्ञान के साथ ॥ ७ ॥

अर्थ और आलोक ज्ञान के कारण नहीं हैं, इस विषय में व्याप्ति है—जो कार्य जिस कारण के साथ अन्वय और व्यतिरेक को धारण नहीं

केशोण्डुकज्ञानम् । नानुविधत्ते च ज्ञानमर्थान्वयव्यतिरेकाविति । तथाऽऽलोकेऽपि । एतावान् विशेषस्तत्र नक्तञ्चरदृष्टान्त इति । नक्तञ्चरा मार्जारादयः ।

ननु विज्ञानमर्थजनितमर्थाकारं चार्थस्य ग्राहकम्; तदुत्पत्तिमन्तरेण विषयं प्रति नियमायोगात् । तदुत्पत्तेरालोकादावविशिष्टत्वात्ताद्रूप्यसहिताया एव तस्यास्तं प्रति नियमहेतुत्वात्, भिन्नकालत्वेऽपि ज्ञान-ज्ञेययोर्ग्राह्यग्राहकभावाविरोधात् । तथा चोक्तम्—

भिन्नकालं कथं ग्राह्यमिति चेद् ग्राह्यतां विदुः ।
हेतुत्वमेव युक्तिज्ञास्तदाकारार्पणक्षमम् ॥४॥

इत्याशङ्कायामिदमाह—

अतज्जन्यमपि तत्प्रकाशकं प्रदीपवत् ॥८॥

अर्थाजन्यमप्यर्थप्रकाशकमित्यर्थः । अतज्जन्यत्वमुपलक्षणम् । तेनातदाकारमपी-

---

करता है, वह तत्कारणक नहीं है । जैसे केश में होने वाला उण्डुक का ज्ञान अर्थ के साथ अन्वय व्यतिरेक को धारण नहीं करता । आलोक में भी ज्ञान के साथ अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध नहीं है । इतना विशेष है कि यहाँ नक्तञ्चर दृष्टान्त है । मार्जार आदि नक्तञ्चर हैं । आदि शब्द से अंजन से संस्कृत चक्षु भी ग्रहण करना चाहिए ।

योगाचार बौद्ध का कहना है कि अर्थ से जनित और अर्थाकार विज्ञान अर्थ का ग्राहक है; क्योंकि तदुत्पत्ति के बिना विषय के प्रति कोई नियम नहीं बन सकता । तदुत्पत्ति को ही नियामक मानने पर तदुत्पत्ति आलोक आदि में भी समान है । अतः तादूप्य सहित तदुत्पत्ति को ही विषय के प्रति नियामक माना गया है । यदि माना जाय कि ज्ञान और ज्ञेय भिन्न क्षणवर्ती हैं तो भी ज्ञान और ज्ञेय में ग्राह्य और ग्राहक भाव का विरोध नहीं होगा । जैसा कि कहा गया है—

श्लोकार्थ—यदि कोई पूछे कि भिन्नकालवर्ती पदार्थ ग्राह्य कैसे हो सकता है तो युक्ति के जानने वाले आचार्य ज्ञान में तदाकार के अर्पण करने की क्षमता वाले हेतुत्व को ही ग्राह्यता कहते हैं ॥ ४ ॥

इस प्रकार शङ्का होने पर यह कहते हैं—

सूत्रार्थ—अर्थ से नहीं उत्पन्न होने पर भी (अर्थ प्रकाशन स्वभाव होने के कारण) ज्ञान अर्थ का प्रकाशक होता है, दीपक के समान ॥ ८ ॥

ज्ञान अर्थ से जन्य न होने पर भी अर्थ का प्रकाशक होता है । अतज्जन्यता उपलक्षण है, उससे अतदाकारधारित्व रूप अर्थ का ग्रहण होता

त्यर्थः । उभयत्रापि प्रदीपो दृष्टान्तः । यथा प्रदीपस्यातज्जन्यस्यातदाकारधारिणोऽपि तत्प्रकाशकत्वम्, तथा ज्ञानस्यापीत्यर्थः ।

ननु यद्यर्थादजातस्यार्थरूपानुकारिणो ज्ञानस्यार्थसाक्षात्कारित्वं तदा नियतदिग्देशकालवर्तिपदार्थप्रकाशप्रतिनियमे हेतोरभावात्सर्वं विज्ञानमप्रतिनियतविषयं स्यादिति शंकायामाह—

स्वावरणक्षयोपशमलक्षणयोग्यतया हि प्रतिनियतमर्थं व्यवस्थापयति ॥ ९ ॥

स्वानि च तान्यावरणानि च स्वावरणानि । तेषां क्षय[1] उदयाभावः । तेषामेव सदवस्था उपशमः,[2] तावेव लक्षणं यस्या योग्यतायास्तया हेतुभूतया प्रति-

---

है । जैसे—कौओं से दही की रक्षा करो, ऐसा कहने पर गृद्धों से भी रक्षा करो, केवल कौओं से नहीं । इसी अतदाकारधारित्व उपलक्षण योग्य है । अतज्जन्यता और अतदाकारता दोनों में दीपक का दृष्टान्त है । जैसे दीपक पदार्थ से नहीं उत्पन्न होने पर भी पदार्थ का आकार न धारण करने पर भी पदार्थ का प्रकाशक होता है, उसी प्रकार ज्ञान भी पदार्थ से उत्पन्न न होने पर भी और पदार्थ का आकार धारण न करके भी पदार्थों को जानता है ।

बौद्ध—यदि अर्थ से नहीं उत्पन्न हुए और अर्थ के आकार को भी नहीं धारण करने वाले ज्ञान के अर्थसाक्षात्कारित्व है तो नियतदिशावर्ती, नियतदेशवर्ती और नियतकालवर्ती पदार्थों को जानने के प्रतिनियम में तदुत्पत्ति और तादूप्य हेतु के अभाव से सभी ज्ञान अप्रतिनियत विषय वाले हो जायँगे ? (तब प्रत्येक ज्ञान, अतीत, अनागत, व्यवहित, दूरवर्ती तथा अन्तरित पदार्थों को जानने लगेगा) । इस प्रकार की शङ्का होने पर कहते हैं ।

सूत्रार्थ—अपने आवरण के क्षयोपशम लक्षण वाली (अर्थग्रहण शक्ति रूप) योग्यता से प्रत्यक्ष प्रमाण प्रतिनियत पदार्थों के जानने को व्यवस्था करता है ॥ ९ ॥

अपने आवरण स्वावरण हैं । उनके उदय के अभाव को क्षय कहते हैं । अनुदय प्राप्त उन्हीं कर्मों की सद् अवस्था उपशम है । वही लक्षण जिस

---

१. मतिज्ञानावरणवीर्यान्तरायकर्मद्रव्याणां अनुभागस्य सर्वघातिस्पर्धकानामुदयाभावः क्षयः ।

२. तेषामेवानुदयप्राप्तानां सदवस्था उपशमः ।

नियतमर्थं व्यवस्थापयति प्रत्यक्षमिति शेषः । हि यस्मादर्थे । यस्मादेवं ततो नोक्तदोष इत्यर्थः ।

इदमत्र तात्पर्यम्—कल्पयित्वापि तादूप्यं तदुत्पत्तिं तदध्यवसायं च योग्यताऽवश्याऽभ्युपगन्तव्या । तादूप्यस्य समानार्थैस्तदुत्पत्तेरिन्द्रियादिभिस्तद्द्वयस्यापि समानार्थसमनन्तरप्रत्ययैस्तत्त्रितयस्यापि शुक्ले शङ्खे पीताकारज्ञानेन व्यभिचाराद् योग्यताश्रयणमेव श्रेय इति ।

एतेन यदुक्तं परेण—

अर्थेन घटयत्येनां न हि मुक्त्वार्थरूपताम् ।
तस्मात्प्रमेयाधिगतेः प्रमाणं मेयरूपता ॥ ५ ॥

इति तन्निरस्तम्; समानार्थाकारनानाज्ञानेषु मेयरूपतायाः सद्भावात् । न च परेषां सारूप्यं नामास्ति वस्तुभूतमिति योग्यतयैवार्थप्रतिनियम इति स्थितम् ।

इदानीं कारणत्वात्परिच्छेद्योऽर्थ इति मतं निराकरोति—

योग्यता का है, हेतुभूत उससे प्रत्यक्ष ज्ञान प्रतिनियत अर्थ की व्यवस्था करता है। 'हि' यस्मात् के अर्थ में है। चूँकि ऐसा है, अतः उक्त दोष नहीं है।

यहाँ तात्पर्य यह है—तादूप्य, तदुत्पत्ति और तदध्यवसाय की कल्पना करके भी यहाँ योग्यता अवश्य माननी चाहिए। तादूप्य का समानार्थों के साथ, तदुत्पत्ति का इन्द्रियादिकों के साथ, इन दोनों का समानार्थ समनन्तर प्रत्यय के साथ और तादूप्य, तदुत्पत्ति और तदध्यवसाय इन तीनों का शुक्ल शंख में पीताकर ज्ञान के साथ व्यभिचार आता है, अतः योग्यता का आश्रय लेना ही श्रेयस्कर है।

तादूप्य आदि के व्यभिचार प्रतिपादन करने से बौद्ध द्वारा जो यह कहा गया है—

श्लोकार्थ—अर्थ रूपता को छोड़कर अन्य कोई निर्विकल्पक प्रत्यक्ष बुद्धि अर्थ के साथ सम्बन्ध स्थापित नहीं करती है। अतः प्रमाण के विषयभूत पदार्थ को जानने के लिए मेयरूपता (पदार्थ के आकार वाली तदाकारता) ही प्रमाण है ॥ ५ ॥

यह कथन निरस्त हो जाता है; क्योंकि समान अर्थाकार वाले नाना ज्ञानों में मेयरूपता (तदाकारता) पायी जाती है। बौद्धों के यहाँ सदृश परिणाम लक्षण वाला सामान्य पदार्थ जैसा सारूप्य नहीं है अतः योग्यता ही विषयके प्रतिनियम का कारण है।

इस समय पदार्थ को ज्ञान का कारण होनेसे परिच्छेद्य (ज्ञेय) कहते हैं। इस मत का निराकरण करते हैं—

कारणस्य च परिच्छेद्यत्वे करणादिना व्यभिचारः ॥ १० ॥

करणादिकारणं परिच्छेद्यमिति तेन व्यभिचारः। न ब्रूमः कारणत्वात्परिच्छेद्यत्वम्, अपि तु परिच्छेद्यत्वात्कारणत्वमिति चेन्न; तथापि केशोण्डुकादिना व्यभिचारात्।

इदानीमतीन्द्रियप्रत्यक्षं व्याचष्टे—

सामग्रीविशेषविश्लेषिताखिलावरणमतीन्द्रियमशेषतोमुख्यम् ॥ ११

सामग्री[1] द्रव्यक्षेत्रकालभावलक्षणा, तस्या विशेषः समग्रतालक्षणः। तेन विश्लेषितान्यखिलान्यावरणानि येन तत्तथोक्तम्। किंविशिष्टम्? अतीन्द्रियमिन्द्रियाण्यतिक्रान्तम्। पुनरपि कीदृशम्? अशेषतः सामस्त्येन विशदम्। अशेषतो वैशद्ये किं कारणमिति चेत् प्रतिबन्धाभावः इति ब्रूमः। तत्रापि किं कारणमिति

सूत्रार्थ—कारण को परिच्छेद्य (ज्ञेय) मानने पर करण आदि से व्यभिचार आता है॥ १०॥

करणादि ज्ञान के कारण हैं, अतः परिच्छेद्य (ज्ञेय) हैं, इसलिए इन्द्रियादि से व्यभिचार सिद्ध है।

बौद्ध—हम लोग अर्थ को ज्ञान का कारण होने से ज्ञेय नहीं कहते हैं, बल्कि परिच्छेद्य होने से उसे ज्ञान का कारण कहते हैं।

जैन—फिर भी केशोण्डुक आदि से व्यभिचार आता है। तात्पर्य यह कि जिस व्यक्ति को सिर पर मच्छर उड़ते देखकर केशों के उड़ने का ज्ञान हो रहा है, उसके वे मच्छर ज्ञान के कारण नहीं होते हैं।

इस समय अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष के विषय में कहते हैं—

सूत्रार्थ—सामग्री की विशेषता से दूर हो गये हैं समस्त आवरण जिसके, ऐसे अतीन्द्रिय और पूर्णतया विशद ज्ञान को मुख्य प्रत्यक्ष कहते हैं॥ ११॥

योग द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की प्राप्ति को सामग्री कहते हैं। उसका विशेष समग्रता लक्षण वाला है। उस सामग्री विशेष से विघटित कर दिये हैं, समस्त आवरण जिसने, ऐसा वह ज्ञान है। पुनः कैसा है? इन्द्रियों का उल्लंघन करके प्रवृत्त हुआ है। पुनः कैसा है? सम्पूर्ण रूप से विशद है। सम्पूर्ण रूप से विशद होने में क्या कारण है? ऐसा पूछो तो हम कहते हैं कि विशद होने में प्रतिबन्ध का अभाव कारण है। प्रति-

---

१. कर्मक्षययोग्योत्तमसंहननोत्तमप्रदेशोत्तमकालोत्तमसम्यग्दर्शनादिपरिणतिस्वरूपा सामग्री।

चेदतीन्द्रियत्वमनावरणत्वं चेति ब्रूमः । एतदपि कुतः ? इत्याह—

सावरणत्वे करणजन्यत्वे च प्रतिबन्धसम्भवात् ॥ १२ ॥

नन्ववधि-मनःपर्ययोरनेनासङ्ग्रहादव्यापकमेतल्लक्षणमिति न वाच्यम्; तयोरपि स्वविषयेऽशेषतो विशदत्वादिधर्मसम्भवात् । न चैवं मति-श्रुतयोरितिव्याप्ति-परिहारः । तदेतदतीन्द्रियमवधि-मनःपर्यय-केवलप्रभेदात् त्रिविधमपि मुख्यं प्रत्यक्ष-मात्मसन्निधिमात्रापेक्षत्वादिति ।

नन्वशेषविषयविशदावभासिज्ञानस्य तद्वतो वा प्रत्यक्षादिप्रमाणपञ्चकाविषय-त्वेनाभावप्रमाणविषमविषधरविध्वस्तसत्ताकत्वात् कस्य मुख्यत्वम् ? तथाहि—नाध्यक्षमशेषज्ञविषयम्, तस्य रूपादिनियतगोचरचारित्वात् सम्बद्धवर्तमानविषय-त्वाच्च । न चाशेषवेदी सम्बद्धो वर्तमानश्चेति । नाप्यनुमानात्तत्सिद्धिः । अनुमानं

बन्ध के अभाव में भी क्या कारण है ? अतीन्द्रियता और निवारणता कारण है, ऐसा हम कहते है । यह भी क्यों ? इसके विषय में कहते हैं—

सूत्रार्थ—आवरण सहित और इन्द्रिय जनित मानने पर ज्ञान का प्रतिबन्ध सम्भव है ॥ १२ ॥

शङ्का—इस सूत्र से अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान का संग्रह नहीं होता, अतः यह लक्षण अव्यापक है ।

समाधान—ऐसा नहीं कहना चाहिए । अवधिज्ञान और मनःपर्यय-ज्ञान के भी अपने विषय में सम्पूर्ण रूप से विशदत्वादि धर्म सम्भव हैं । चूँकि मति और श्रुत में ऐसा नहीं है अतः अतिव्याप्ति दोष का निरा-करण हो जाता है । इस प्रकार यह अतीन्द्रिय मुख्य प्रत्यक्ष अवधि, मनः-पर्यय और केवल के भेद से तीन प्रकार का होने पर भी मुख्य प्रत्यक्ष आत्मा की सन्निधि मात्र की अपेक्षा से होता है ।

शङ्का—सम्पूर्ण विषयों को विशद रूप से अवभासित कराने वाला ज्ञान अथवा उस प्रकार का ज्ञानवान् पुरुष चूँकि प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणों का विषय नहीं है और अभाव प्रमाण विषम विषधर सर्प के समान उसकी सत्ता को विध्वस्त करता है, अतः किसके मुख्यपना है ? इसी बात को स्पष्ट करते हैं—प्रत्यक्ष प्रमाण तो अशेषज्ञ (सर्वज्ञ) को विषय नहीं करता है, क्योंकि प्रत्यक्ष तो रूपादि नियत विषयों को ही विषय करता है तथा उसका विषय सम्बद्ध और वर्तमान है । सर्वज्ञ सम्बद्ध और वर्तमान नहीं है । अनुमान से भी सर्वज्ञ की सिद्धि नहीं होती है । साध्य-साधन के सम्बन्ध को जिसने ग्रहण किया है ऐसे पुरुष के ही एकदेश धुयें के देखने से

हि गृहीतसम्बन्धस्यैकदेशदर्शनादसन्निकृष्टे बुद्धिः । न च सर्वज्ञसद्भावाविनाभाविकार्यलिङ्गं स्वभावलिङ्गं वा सम्पश्यामः; तज्ज्ञप्तेः पूर्वं तत्स्वभावस्य तत्कार्यस्य वा तत्सद्भावाविनाभाविनो निश्चेतुमशक्तेः । नाप्यागमात्तत्सद्भावः, । स हि नित्योऽनित्यो तत्सद्भावं भावयेत् ? न तावन्नित्यः, तस्यार्थवादरूपस्य कर्मविशेषसंस्तवनपरत्वेन पुरुषविशेषावबोधकत्वायोगात् । अनादेरागमस्यादिमत्पुरुषवाचकत्वाघटनाच्च । नाप्यनित्य आगमः सर्वज्ञं साधयति, तस्यापि तत्प्रणीतस्य तन्निश्चयमन्तरेण प्रामाण्यानिश्चयादितरेतराश्रयत्वाच्च । इतरप्रणीतस्य[1] त्वनासादित[2]प्रमाणभावस्याशेषज्ञप्ररूपणपरत्वं नितरामसम्भाव्यमिति । सर्वज्ञसदृशस्यापरस्य ग्रहणासम्भ-

---

असन्निकृष्ट (दूरवर्ती) पदार्थ में जो बुद्धि होती है, उसे अनुमान कहते हैं। सर्वज्ञ के सद्भाव का अविनाभावी कार्यलिङ्ग अथवा (अक्षादि) स्वभावलिङ्ग भी नहीं देखते हैं, क्योंकि सर्वज्ञ के ज्ञान के पूर्व उसके सद्भाव का अविनाभावी सर्वज्ञ का और उसके कार्य का निश्चय नहीं किया जा सकता। आगम से भी सर्वज्ञ का सद्भाव नहीं सिद्ध किया जा सकता है। वह (वेदरूप) नित्य आगम सर्वज्ञ को बतलाता है या (स्मृति आदि) अनित्य आगम सर्वज्ञ को बतलाता है ? नित्य आगम तो बतला नहीं सकता; क्योंकि वह (याग प्रशंसावादस्तुतिनिन्दा रूप) अर्थवाद युक्त है, (यज्ञादि) कर्म विशेषों का संस्तवन करने वाला है, अतः उसके द्वारा सर्वज्ञ रूप किसी पुरुषविशेष के सद्भाव का ज्ञान होने का योग नहीं है। अनादि आगमका आदिमान् पुरुष का वाचक होना घटित नहीं होता है। अनित्य आगम भी सर्वज्ञ की सिद्धि नहीं करता है। (अनित्य आगम सर्वज्ञ को यदि सिद्ध करता है तो वह सर्वज्ञ के द्वारा प्रणीत है या किसी अन्य के द्वारा, इस प्रकार दो विकल्प मन में रखकर दोष उपस्थित करते हैं)। अनित्य आगम का निश्चय उसके प्रणेता के निश्चय के बिना नहीं हो सकता, इस प्रकार इतरेतराश्रय दोष आता है। तात्पर्य यह कि सर्वज्ञ के द्वारा प्रणीत होना सिद्ध होने पर आगम प्रामाण्य की सिद्धि हो और प्रामाण्य का निश्चय होने पर सर्वज्ञ की सिद्धि हो, इस प्रकार इतरेतराश्रय दोष आता है। यदि असर्वज्ञ के द्वारा प्रणीत आगम सर्वज्ञ को सिद्ध करे तो जिसे प्रमाणता प्राप्त नहीं है, ऐसे आगम को सर्वज्ञ का निरूपण करने वाला मानना असम्भव है। सर्वज्ञ के सदृश अन्य किसी व्यक्ति

---

१. असर्वज्ञप्रणीतस्य ।

२. अप्राप्त ।

वाच्च नोपमानम् । अनन्यथाभूतस्यार्थस्याभावान्नार्थापत्तिरपि सर्वज्ञाववोधिकेति धर्मादिपदेशस्य व्यामोहादपि सम्भवात् । द्विविधो ह्युपदेशः—सम्यङ्मिथ्योपदेशभेदात् । तत्र मन्वादीनां सम्यगुपदेशो यथार्थज्ञानोदयवेदमूलत्वात् । बुद्धादीनां तु व्यामोहपूर्वकः, तदमूलत्वात् तेषामवेदार्थज्ञत्वात् । ततः प्रमाणपञ्चकाविषयत्वादभावप्रमाणस्यैव प्रवृत्तिस्तेन चाभाव एव ज्ञायते; भावांशे प्रत्यक्षादिप्रमाणपञ्चकस्य व्यापारादिति ।

का ग्रहण असम्भव होने से उपमान से भी सर्वज्ञ की सिद्धि नहीं होती। तात्पर्य है कि सर्वज्ञ के समान यदि कोई वर्तमान समय में दिखाई दे तो हम उपमान से सर्वज्ञ को जानें। अनन्यथाभूत अर्थ के अभाव से अर्थापत्ति भी सर्वज्ञ की बोधिका नहीं है; क्योंकि धर्मादि का उपदेश व्यामोह से भी संभव है। अर्थात् अनुपपद्यमान अर्थ को देखकर उसके उपपादक अर्थ की कल्पना करना अर्थापत्ति कहलाती है। जैसे कि देवदत्त दिन में नहीं खाता है, परन्तु मोटा है, ऐसा देखने या सुनने पर (उसके) रात्रिभोजन की कल्पना कर ली जाती है (क्योंकि) दिन में न खाने वाले का मोटा होना रात्रिभोजन के बिना नहीं बन सकता है। इसलिए अन्यथा (अर्थात् रात्रिभोजन के बिना) पीनत्व की अनुपपत्ति ही (उसके) रात्रिभोजन में प्रमाण होती है और वह (अर्थापत्ति) प्रमाण रात्रिभोजन के प्रत्यक्षादि का विषय न होने से प्रत्यक्षादि से भिन्न अलग ही प्रमाण है, ऐसा अर्थापत्ति प्रमाण मानने वाले कहते हैं)।

उपदेश दो प्रकार का है। १—सम्यक् उपदेश और २—मिथ्या उपदेश। उनमें से मन्वादि का उपदेश सम्यक् उपदेश है; क्योंकि उनके वेदमूलक यथार्थ ज्ञान का उदय पाया जाता है। बुद्ध आदि का उपदेश व्यामोहपूर्वक है; क्योंकि वह वेदमूलक नहीं है। बुद्ध आदि वेद के अर्थ का ज्ञाता नहीं है। अतः पाँच प्रमाणों का विषय न होने से अभाव प्रमाण की ही प्रवृत्ति होती है, उससे अभाव ही जाना जाता है। (वस्तु के सद्भाव को ग्रहण करके और प्रतियोगी का भी स्मरण करके मानस नास्तिता ज्ञान होता है, जिसमें इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं होती है। जहाँ पर पाँच प्रमाणों के द्वारा वस्तुरूप का ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है, वहाँ पर वस्तु की असत्ता के बोध के लिए अभाव प्रमाणता होती है। इन्द्रिय के द्वारा 'नहीं है', इस प्रकार की बुद्धि उत्पन्न नहीं होती है, इन्द्रिय में भावांश को जानने की ही योग्यता है। अभाव प्रमाण की प्रत्यक्षादि से उत्पत्ति नहीं होती है।) भावांश में ही पाँच प्रमाणों का व्यापार होता है।

अत्र प्रतिविधीयते—यत्तावदुक्तम्—'प्रत्यक्षादिप्रमाणाविषयत्वमशेषज्ञस्येति' तदयुक्तम्; तद्-ग्राहकस्यानुमानस्य सम्भवात्। तथाहि—कश्चित्पुरुषः सकल-पदार्थसाक्षात्कारी, तद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययत्वात्। यथाऽप-गततिमिरं लोचनं रूपसाक्षात्कारि। तद्-ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्ध-

---

यहाँ पर भाट्टमत का जैन आचार्य प्रतिवाद करते हैं—जो आपने कहा है कि सर्वज्ञ प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विषय नहीं है, यह बात ठीक नहीं है; क्योंकि सर्वज्ञ का ग्राहक अनुमान सम्भव है। इसी बात को स्पष्ट करते हैं—

कोई पुरुष समस्त पदार्थों का साक्षात्कार करनेवाला है अर्थात् रूपादि से युक्त प्रतिनियत वर्तमान, सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती समस्त पदार्थों का कोई पुरुष प्रत्यक्षद्रष्टा है; क्योंकि उन पदार्थों का ग्रहण स्वभावी होकर प्रक्षीण प्रतिबन्ध प्रत्यय (कारण) वाला है। अर्थात् उसके ज्ञान के द्वारा सभी प्रतिबन्ध क्षीण हो गए हैं। जैसे तिमिर से रहित लोचन रूप का साक्षात्कार करने वाला है। तद्ग्रहण स्वभावी होकर प्रक्षीण प्रतिबन्ध प्रत्यय वाला विवाद ग्रस्त कोई पुरुष विशेष है।

विशेष—'प्रक्षीण प्रतिबन्ध ज्ञान वाला होने से' यह कहने पर यौग के द्वारा परिकल्पिक मुक्त जीव से व्यभिचार आता है, अतः कहा गया है—उन पदार्थों का ग्रहण स्वभावी होकर। यौग (न्यायवैशेषिक) के द्वारा परिकल्पित मुक्त जीव के प्रक्षीण प्रतिबन्ध प्रत्ययत्व है, पदार्थ ग्रहण स्वभाव नहीं है, अतः उसके निराकरण के लिए 'उन पदार्थों का ग्रहण स्वभावी होकर, ऐसा कहा है। 'उन पदार्थों का ग्रहण करना स्वभाव होने से' ऐसा कहे जाने पर काच कामलादि से युक्त नेत्र से व्यभिचार आता है, अतः 'प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययत्वात्' ऐसा कहा है। 'यतस्तद्-ग्रहणस्वभावत्वात्' इतने मात्र कहे जाने पर काच कामलादि दोष से युक्त चक्षु में तद्ग्रहण स्वभाव है, ग्रहण नहीं है, इस प्रकार भाट्ट के प्रति कहा गया।

विग्रह इस प्रकार होगा—प्रक्षीणश्चासौ प्रतिबन्धश्च स एव प्रत्ययः कारणं यस्य स, तस्य भावस्तत्त्वम्। प्रक्षीण प्रतिबन्ध प्रत्ययत्वात् ऐसा कहने पर प्रतिबन्ध से रहित अग्नि में व्यभिचार आता है, अतः उसके निराकरण के लिए 'तद्ग्रहणस्वभावत्वे सति, ऐसा कहा गया है। अतः सब ठीक कहा गया है।

पाँच अवयव में से यौग चार, मीमांसक तीन, सांख्य दो तथा जैन

प्रत्ययश्च विवादापन्नः कश्चिदिति । सकलपदार्थग्रहणस्वभावत्वं नात्मनोऽसिद्धम्; चोदनातः सकलपदार्थपरिज्ञानस्यान्यथाऽयोगात्, अन्धस्येवाऽऽदर्शाद्रूपप्रतिपत्तेरिति । व्याप्तिज्ञानोत्पत्तिबलाच्चाशेषविषयज्ञानसम्भवः । केवलं वैशद्ये विवादः, तत्र चावरणापगम एव कारणं रजोनीहाराद्यावृतार्थज्ञानस्येव तदपगम इति ।

प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययत्वं कथमिति चेदुच्यते—दोषावरणे[1] क्वचिन्निर्मूलं प्रलयमुपव्रजत; प्रकृष्यमाणहानिकत्वात् । यस्य प्रकृष्यमाणहानिः स क्वचिन्नि-

---

और बौद्ध एक ही हेतु का प्रयोग करते हैं। मीमांसक के प्रति यहाँ चार ही अवयवों का प्रयोग किया गया है।

आत्मा का समस्त पदार्थों का ग्रहण स्वभाव होना असिद्ध नहीं है; अन्यथा वेद वाक्य से समस्त पदार्थों का परिज्ञान नहीं हो सकेगा। जैसे कि अन्धे का दर्पण से भी अपने रूप का ज्ञान नहीं होता है। तात्पर्य यह कि मीमांसक ऐसा मानते हैं कि वेदवाक्य (पुरुष विशेष को) भूत, भविष्यत्, वर्तमान, सूक्ष्म, दूरवर्ती आदि सभी पदार्थों की जानकारी कराने में समर्थ है, ऐसा कहता हुआ मीमांसक समस्त पदार्थ को जानने का स्वभाव रखने वाला आत्मा नहीं मानता है तो वह स्वस्थ कैसे है? मीमांसक मत में ज्ञान आत्मा से भिन्न नहीं है। कथञ्चित् भेद मानने पर दूसरा मत स्वीकार करने का प्रसङ्ग आयेगा। अतः आत्मा का ज्ञान स्वभावी होना सिद्ध है। आत्मा को समस्त पदार्थों का ज्ञानस्वभावी न मानों तो समस्त पदार्थों की जानकारी सम्भव नहीं है। वेद से समस्त पदार्थों का ज्ञातापन युक्त नहीं है।

जो सत्स्वरूप है, वह सब अनेकान्तात्मक है, इत्यादि व्याप्ति के ज्ञान से समस्त विषयों (अग्नि आदि) का ज्ञान सम्भव है, अन्यथा अनियत दिशा तथा स्थान में स्थित अग्नि का परिज्ञान कैसे उत्पन्न हो सकता है। केवल वैशद्य में हम दोनों का विवाद है, उसमें आवरण का अभाव ही कारण है। जैसे रज और नीहार (बर्फ) आदि से आवृत्त पदार्थ का स्पष्ट ज्ञान उसके आवरण दूर होने पर होता है।

शङ्का—ज्ञान के प्रतिबन्धक समस्त कारण कैसे क्षीण हो सकते हैं?

समाधान—दोष और आवरण रूप भाव तथा द्रव्य कर्म कहीं पर निर्मूल रूप से विनाश को प्राप्त होते हैं; क्योंकि इनकी बढ़ती हुई चरम सीमा को प्राप्त हानि देखी जाती है। जिसकी प्रकृष्यमाण हानि होती है,

---

१. भावद्रव्यकर्मणी ।

मूलं प्रलयमुपव्रजति । यथाऽग्निपुटपाकापसारितकिट्टकालिकाद्यन्तरङ्गबहिरङ्गमलद्वयात्मानि हेम्नि मलमिति । निर्हासातिशयवती च दोषावरणे इति ।

कथं पुनर्विवादाध्यासितस्य ज्ञानस्यावरणं सिद्धम्, प्रतिषेधस्य विधिपूर्वकत्वादिति । अत्रोच्यते—विवादापन्नं ज्ञानं सावरणम्, विशदतया स्वविषयानवबोधकत्वाद् रजोनीहाराद्यन्तरितार्थज्ञानवदिति । न चात्मनोऽमूर्त्तत्वादावारकावृत्ययोगः; अमूर्तायां अपि चेतनाशक्तेर्मदिरामदनकोद्रवादिभिरावरणोपपत्तेः । न चेन्द्रियस्यतैरावरणम्, इन्द्रियाणामचेतनानामप्यनावृतप्रख्यत्वात् स्मृत्यादिप्रतिबन्धायोगात् । नापि मनसस्तैरावरणम्; आत्मव्यतिरेकेणापरस्य मनसो निषेत्स्यमानत्वात् । ततो नामूर्तस्याऽऽवरणाभावः । अतो नासिद्धं तद्-ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्ध-

---

वह कहीं पर निर्मूल प्रलय को प्राप्त होता है। जैसे अग्नि-पुट के पाक से दूर कीट और कालिमा आदि अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग ये दोनों मल जिसके भीतर से ऐसा सुवर्ण मल रहित हो जाता है। इसी प्रकार अत्यन्त निर्मूल विनाश रूप अतिशय वाले दोष और आवरण हैं।

बौद्ध—विवादापन्न ज्ञान का आवरण कैसे सिद्ध है ? क्योंकि प्रतिषेध विधिपूर्वक ही होता है।

जैन—इस विषय में कहा जाता है—विवाद को प्राप्त ज्ञान आवरण सहित है; क्योंकि वह विशद रूप से अपने विषय को नहीं जानता है। जैसे कि रज और नीहार आदि से आच्छादित पदार्थ का ज्ञान विशद रूप से अपने विषय को नहीं जानता है।

भाट्ट—आत्मा अमूर्त होने से उसके आवरण करने वालों (ज्ञानावरणादि) का अयोग है।

जैन—अमूर्त भी चेतन शक्ति का मदिरा, मदनकोद्रव (वह कोदों, जिसके खाने से मतवाले हो जाते हैं) आदि से आवरण होना पाया जाता है।

भाट्ट—मदिरा, मदनकोद्रव आदि से इन्द्रियों का आवरण होता है।

जैन—अचेतन इन्द्रियों का आवरण अनावरण के तुल्य है। आत्मा के आवरण का अभाव मानने पर मदोन्मत्त के स्मरण हो, चूँकि स्मरण नहीं होता है अतः मदिरादि से आत्मा का ही आवरण सिद्ध है।

भाट्ट—मदिरा आदि से मन का आवरण होता है।

जैन—आत्मा के अतिरिक्त रूप मन का हम आगे निषेध करेंगे। अतः अमूर्त के आवरण नहीं होता है, ऐसा नहीं है। अतः तद् ग्रहण

प्रत्ययत्वम् । नापि विरुद्धम्; विपरीतनिश्चिताविनाभावाभावात् । नाप्यनैकान्तिकम्; देशतः सामस्त्येन वा विपक्षे वृत्त्यभावात् । विपरीतार्थोपस्थापकप्रत्यक्षागमासम्भवान्न कालात्ययापदिष्टत्वम् । नापि सत्प्रतिपक्षम्; प्रतिपक्षसाधनस्य हेतोरभावात् ।

अथेदमस्त्येव—विवादापन्नः पुरुषो नाशेषज्ञो वक्तृत्वात्पुरुषत्वात्पाण्यादिमत्त्वाच्च; रथ्यापुरुषवदिति । नैतच्चारु; वक्तृत्वादेरसम्यग्धेतुत्वात् । वक्तृत्वं हि दृष्टेष्टविरुद्धार्थवक्तृत्वं तदविरुद्धवक्तृत्वं वक्तृत्वसामान्यं वा; गत्यन्तराभावात् । न तावत् प्रथमः पक्षः, सिद्धसाध्यतानुषङ्गात् । नापि द्वितीयः पक्षः; विरुद्धत्वात् । तदविरुद्धवक्तृत्वं हि ज्ञानातिशयमन्तरेण नोपपद्यत इति । वक्तृत्वसामान्यमपि विपक्षाविरुद्धत्वान्न प्रकृतसाध्यसाधनायालम्, ज्ञानाप्रकर्षे वक्तृत्वापकर्षादर्शनात् ।

स्वभावत्व होकर प्रक्षीण प्रतिबन्ध प्रत्ययत्व असिद्ध नहीं है, न विरुद्ध है; क्योंकि विपरीत के साथ निश्चित अविनाभाव का अभाव है । यह हेतु अनैकान्तिक भी नहीं है, क्योंकि एकदेश से अथवा सर्वदेश से उसके विपक्ष में रहने का अभाव है । (अग्नि उष्ण नहीं है इत्यादि के समान) विपरीत अर्थ की स्थापना करने वाले प्रत्यक्ष और आगम प्रमाण का अभाव होने से उक्त हेतु कालापदिष्ट भी नहीं है । (प्रत्यक्ष और आगम से बाधित होने के काल के अनन्तर प्रयुक्त होने के कारण कालात्ययापदिष्ट कहलाता है) । सत्प्रतिपक्ष भी नहीं है; क्योंकि प्रतिपक्ष का साधन करने वाले हेतु का अभाव है ।

मीमांसक—प्रतिपक्ष का साधन करने वाला हेतु यहाँ पर ही है—विवाद को प्राप्त पुरुष सर्वज्ञ नहीं है; क्योंकि वह वक्ता है, पुरुष है और हाथ आदि अङ्गों का धारक है, जैसे—गली में घूमने वाला पुरुष ।

जैन—यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि वक्तृत्व आदि हेतु सम्यक् नहीं हैं । वक्तृत्व का अर्थ प्रत्यक्ष और अनुमान के विरुद्ध वक्तापन आपके अभीष्ट है या अविरुद्ध वक्तापन; क्योंकि अन्य विकल्प सम्भव नहीं है । प्रथम पक्ष तो ठीक नहीं है; क्योंकि सिद्धसाध्यता दोष का प्रसङ्ग आता है । दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है; क्योंकि वह विरुद्ध हेत्वाभास रूप है । प्रत्यक्ष और अनुमान से अविरुद्ध वक्तापन ज्ञानातिशय के बिना नहीं बन सकता । वक्तृत्व सामान्य भी विपक्ष (सर्वज्ञ) का विरोधी न होने से असर्वज्ञत्व रूप साध्य का साधन करने में समर्थ नहीं है; क्योंकि ज्ञानातिशय होने पर वचन की हानि नहीं देखी जाती है । प्रत्युत (ऐसा देखा

प्रत्युत ज्ञानातिशयवतो वचनातिशयस्यैव सम्भवात् ।

एतेन पुरुषत्वमपि निरस्तम् । पुरुषत्वं हि रागादिदोषदूषितम्, तदा सिद्धसाध्यता । तददूषितं तु विरुद्धम् वैराग्य-ज्ञानादिगुणयुक्तपुरुषत्वस्याशेषज्ञत्वमन्तरेणायोगात् । पुरुषत्वसामान्यं तु सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकमिति सिद्धं सकलपदार्थसाक्षात्कारित्वं कस्यचित्पुरुषस्यातोऽनुमानात् । इति न [1]प्रमाणपञ्चकाविषयत्वमशेषज्ञस्य ।

अथास्मिन्ननुमानेऽर्हतः सर्वविस्त्वमनर्हतो वा ? अनर्हतश्चेदर्हद्वाक्यमप्रमाणं स्यात् । अर्हतश्चेत्सोऽपि न श्रुत्या सामर्थ्येन वाऽवगन्तुं पार्यते । स्वशक्त्या दृष्टा-

---

जाता है कि) जो ज्ञानातिशय वाले पुरुष के वचनों का अतिशय सम्भव है।

वक्तृत्व असर्वज्ञपने का साधन है, इसके निराकरण द्वारा पुरुषत्व हेतु का भी निराकरण हो गया। पुरुषत्व से तात्पर्य आप रागादि दोष से दूषित पुरुष से है या रागादि दोष से रहित पुरुष से है या पुरुष सामान्य से है। यदि पुरुषत्व का अभिप्राय रागादि दोष से दूषित पुरुष से है तो सिद्ध साध्यता है। यदि पुरुषत्व से अभिप्राय रागादि दोष से अदूषित पुरुष से है तो यह हेतु विरुद्ध हेत्वाभास हो जाता है, क्योंकि राग का अभाव वीतरागता को, द्वेष का अभाव शान्त मनोवृत्ति को तथा मोह का अभाव सर्वज्ञता को सिद्ध करता है। वैराग्य, ज्ञानादिगुण युक्त पुरुषपने का सर्वज्ञत्व के बिना योग नहीं होता है। पुरुषत्व सामान्य संदिग्धविपक्षव्यावृत्ति है; क्योंकि असर्वज्ञता का विपक्ष सर्वज्ञता है, उसका किसी पुरुष में रहना सम्भव है। अतः विपक्ष से व्यावृत्ति सन्दिग्ध है। इस प्रकार कोई पुरुष समस्त पदार्थों का साक्षात्कारी है, क्योंकि उन पदार्थों का ग्रहण स्वभावो होकर प्रतिबन्ध प्रत्यय (ज्ञान) वाला है, इस अनुमान से किसी पुरुष का समस्त पदार्थ साक्षात्कारित्व सिद्ध है। अतः सर्वज्ञ प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति इन पाँच प्रमाणों का विषय नहीं है, ऐसा नहीं है।

शंका—इस अनुमान में सर्वज्ञत्व अर्हत् के है या अनर्हत (बुद्धादि) के है? यदि सर्वज्ञपना अनर्हत् के है तो अरहन्त भगवान् के वाक्य अप्रमाण हो जायँगे। यदि वह सर्वज्ञपना अरहन्त के है तो वह अरहन्त आगम अथवा अविनाभावित्व रूप सामर्थ्य से नहीं जाना जा सकता। स्वशक्ति (अविनाभावीलिङ्ग) से अथवा (तिमिर रोग रहित लोचन

---

१. प्रत्यक्षानुमानागमोपमानार्थापत्तिप्रमाणपञ्चकम् ।

न्तानुग्रहेण वा हेतोः पक्षान्तरेऽपि तुल्यवृत्तित्वादिति ।

तदेतत्परेषां स्ववधाय कृत्योत्थापनम्; एवंविधविशेषप्रश्नस्य सर्वज्ञसामान्याभ्युपगमपूर्वकत्वात् । अन्यथा न कस्याप्यशेषज्ञत्वमित्येवं वक्तव्यम् । प्रसिद्धानुमानेऽप्यस्य दोषस्य सम्भवेन जात्युत्तरत्वाच्च । तथाहि—नित्यः शब्दः, प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्; इत्युक्ते व्यापकः शब्दो नित्यः प्रसाध्यते, अव्यापको वा ? यद्यव्यापकः, तदा व्यापकत्वेनोपकल्प्यमानो न कञ्चिदर्थं पुष्णाति । अथ व्यापकः, सोऽपि न श्रुत्या सामर्थ्येन वाऽवगम्यते । स्वशक्त्या दृष्टान्तानुग्रहेण वा पक्षान्तरेऽपि तुल्यवृत्तित्वादिति सिद्धमतो निर्दोषात्साधनादशेषज्ञत्वमिति ।

यच्चाभावप्रमाणकवलितसत्ताकत्वमशेषज्ञत्वस्येति, तदयुक्तमेव; अनुमानस्य

रूप का साक्षात्कारी होता है, इस प्रकार के) दृष्टान्त के बल से कहें तो तद्ग्रहण स्वभावी होकर प्रक्षीणबन्ध प्रत्ययत्व हेतु (हरि हर हिरण्य गर्भ आदि) पक्षान्तर में भी समान रूप से रहता है ।

समाधान—भाट्ट नामक असर्वज्ञवादियों का यह कथन अपने वध के लिए कृत्या (मार) के उठाने के समान है; क्योंकि इस प्रकार के विशेष प्रश्न सर्वज्ञ सामान्य की स्वीकृतिपूर्वक ही पूछे जा सकते हैं । अन्यथा किसी के भी सर्वज्ञपना नहीं है ऐसा कहना चाहिए । आपके मत में उभयवादिप्रसिद्ध अनुमान में भी (अर्हंत् के सर्वज्ञपना है या अनर्हंत् के) यह दोष सम्भव होने से जाति नाम दूषण रूप उत्तर होता है (असत् उत्तर को जाति कहते हैं) ।

प्रसिद्ध अनुमान में भी यह दोष कैसे संभव है ? इसकी व्याख्या करते हैं । शब्द नित्य है; क्योंकि उसका प्रत्यभिज्ञान होता है, ऐसा कहे जाने पर व्यापक शब्द के नित्यता सिद्ध करते हैं या अव्यापक के ? यदि अव्यापक के नित्यता सिद्ध करते हैं तो व्यापक के रूप में कल्पना किया गया शब्द किसी अर्थ को पुष्ट नहीं करता है । यदि व्यापक शब्द के नित्यता है तो उसकी व्यापक रूप नित्यता श्रुति और सामर्थ्य से नहीं जानी जाती है । स्वशक्ति से या दृष्टान्त के अनुग्रह से कहने पर अव्यापक नित्य शब्द रूप पक्षान्तर में भी हेतु का रहना समान है । इस प्रकार (तद् ग्रहण स्वभावत्वे सति प्रक्षीण प्रतिबन्ध प्रत्ययत्वात् रूप) निर्दोष साधन से सर्वज्ञता सिद्ध है ।

आपने जो कहा कि सर्वज्ञता की सत्ता तो अभाव प्रमाण से कवलित

तद्ग्राहकस्य सद्भावे सति प्रमाणपञ्चकाभावमूलस्याभावप्रमाणस्योपस्थापनायोगात् ।

गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम् ।
मानसं नास्तिताज्ञानं जायतेऽक्षानपेक्षया ॥ ६ ॥

इति च भावत्कं दर्शनम् । तथा च कालत्रय-त्रिलोकलक्षणवस्तुसद्भावग्रहणेऽन्यत्रान्यदा गृहीतस्मरणे च सर्वज्ञनास्तिताज्ञानमभावप्रमाणं युक्तम्, नापरथा । न च कस्यचिदवीन्दशिनस्त्रिजगत्त्रिकालज्ञानमुपपद्यते, सर्वज्ञस्यातीन्द्रियस्य वा । सर्वज्ञत्वं हि चेतोधर्मतयाऽतीन्द्रियम्, तदपि न प्रकृतपुरुषविषयमिति कथमभावप्रमाणमुदयमासादयेत् ; असर्वज्ञस्य तदुत्पाद-सामग्र्या असम्भवात् । सम्भवे वा तथा ज्ञातुरेव सर्वज्ञत्वमिति । अत्राधुना तदभावसाधनमित्यपि न युक्तम्; सिद्धसाध्यतानुषङ्गात् । ततः सिद्धं मुख्यमतीन्द्रियज्ञानमशेषतो विशदम् ।

है, यह बात ठीक नहीं है; क्योंकि जब सर्वज्ञता के ग्राहक अनुमान का सद्भाव पाया जाता है, तब प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणों का अभाव जिसका मूल है, ऐसे अभाव प्रमाण के उपस्थापन का अयोग है अर्थात् अभाव प्रमाण की आवश्यकता नहीं है ।

श्लोकार्थ—वस्तु के सद्भाव को ग्रहण कर (घट रहित भूतल को ग्रहण कर) और प्रतियोगी (घट) का स्मरण कर (बाह्य) इन्द्रियों की अपेक्षा से रहित मानस ज्ञान होता है ॥ ६ ॥

ऐसा आप लोगों का मत है । ऐसा होने पर त्रिकाल, त्रिलोकवर्ती समस्त वस्तुओं के सद्भाव को ग्रहण करने पर अन्यत्र– क्षेत्रान्तर में और अन्यदा–कालान्तर में जाते हुए सर्वज्ञ का स्मरण होने पर सर्वज्ञ की नास्तिता को जो ज्ञात हो, उसे अभाव प्रमाण मानना युक्त है, अन्यथा नहीं । किंचित् जानने वाले के त्रिकाल का ज्ञान नहीं हो सकता । न वह सर्वज्ञ और अतीन्द्रिय ज्ञान का जानकार हो सकता है । सर्वज्ञता चित्त का धर्म होने के कारण अतीन्द्रिय है । वह भी साधारण पुरुष का विषय नहीं हो सकती । अतः अभाव प्रमाण की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? असर्वज्ञ के अभाव प्रमाण की उत्पन्न करने वाली सामग्री का मिलना असम्भव है । यदि असर्वज्ञ के सर्वदेश और सर्वकाल का ज्ञान मानकर सर्वज्ञ के अभाव की प्रतिपादक सामग्री का सद्भाव सम्भव माना जाय तो ज्ञाता पुरुष के ही सर्वज्ञता सिद्ध हो जाती है । यहाँ पर अब सर्वज्ञ नहीं है, यदि ऐसा कहते हो तो वह भी युक्त नहीं है; क्योंकि ऐसा मानने पर सिद्ध साध्यता

सर्वज्ञज्ञानस्यातीन्द्रियत्वादशुच्यादिदर्शनं तद्रसास्वादनदोषोऽपि परिहृत एव। कथमतीन्द्रियज्ञानस्य वैशद्यमिति चेत्—यथा सत्यस्वप्नज्ञानस्य भावनाज्ञानस्य चेति। दृश्यते हि भावनाबलादतद्देशवस्तुनोऽपि विशददर्शनमिति।

पिहिते कारागारे तमसि च सूचीमुखाग्रदुर्भेद्ये।
मयि च निमीलितनयने तथापि कान्तानन व्यक्तम् ॥ ७ ॥

इति बहुलमुपलम्भात्।

ननु च नावरणविश्लेषादशेषज्ञत्वम्; अपि तु तनुकरणभुवनादिनिमित्तत्वेन। न चात्र तन्वादीनां बुद्धिमद्धेतुकत्वमसिद्धम्; अनुमानादेस्तस्य सुप्रसिद्धत्वात्। तथाहि—विमत्यधिकरणभावापन्नं[1] उर्वीपर्वततरुतन्वादिकं बुद्धिमद्धेतुकम्, कार्यत्वादचेतनोपादानत्वात्सन्निवेश विशिष्टत्वाद्वा वस्त्रादिवदिति।

का प्रसङ्ग उपस्थित होता है। अतः सिद्ध हुआ कि अतीन्द्रिय और सम्पूर्ण रूप से विशद ज्ञान मुख्य प्रत्यक्ष है।

सर्वज्ञ ज्ञान के अतीन्द्रिय होने से अशुचि आदि दर्शन तथा अशुचि पदार्थों के रस के आस्वादनका दोष भी निराकृत हो गया। (इन्द्रिय ज्ञान के ही अशुच्यादि रसास्वादन का दोष है, अतीन्द्रिय ज्ञान के नहीं)। अतीन्द्रियज्ञान के वैशद्य कैसे है ? यदि ऐसा कोई प्रश्न करे तो उसका उत्तर यह है कि जैसे सत्य स्वप्नज्ञान के और भावनाज्ञान के सम्भव है। देखा जाता है कि भावना के बल से भिन्न देशवर्ती भी विशद दर्शन पाया जाता है।

श्लोकार्थ—कारागार का द्वार बन्द है और अन्धकार सुई के अग्रभाग से भी नहीं भेदा जा सकता है, मैंने अपने नेत्र बन्द किए हुए हैं, फिर भी कान्ता का मुख व्यक्त है ॥ ७ ॥

इस प्रकार इन्द्रिय और पदार्थ के सम्बन्ध का अभाव होने पर भी विशदता की प्राप्ति होती है।

यौग—आवरणों के अलग होने से सर्वज्ञता नहीं होती है, अपितु शरीर, इन्द्रिय, भुवन आदि के निमित्त से सर्वज्ञता होती है। यहाँ पर शरीर आदि का बुद्धिमान् पुरुष के निमित्त से होना असिद्ध नहीं है; क्योंकि अनुमानादि प्रमाणों से उसका होना सुप्रसिद्ध है। इसी बात को स्पष्ट करते हैं—विवाद के विषयभूत पृथ्वी, पर्वत, वृक्ष, शरीरादि बुद्धिमद्धेतुक हैं; क्योंकि वे कार्य हैं; क्योंकि उनका उपादान अचेतन है; क्योंकि वस्त्रादि के समान उनकी रचना विशेष है। आगम भी उस बुद्धिमान् पुरुष का

---

१. विविधा मतयो विमतयः, विमतीनामधिकरणं तस्य भावमापन्नं प्राप्तं विमत्यधिकरणभावापन्नम्, विवादापन्नमित्यर्थः।

आगमोऽपि तदावेदकः श्रूयते—

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतः पात्।
सम्बाहुभ्यां धमति सम्पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव[1] एकः॥ ८॥

तथा व्यासवचनञ्च—

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा॥ ९॥

न चाचेतनैरेव परमाण्वादिकारणैः पर्याप्तत्वाद् बुद्धिमतः कारणस्यानर्थक्यम्; अचेतनानां स्वयं कार्योत्पत्तौ व्यापारायोगात्तुर्यादिवत्। न चैवं चेतनस्यापि चेतनान्तरपूर्वकत्वादनवस्था; तस्य सकलपुरुषज्येष्ठत्वान्निरतिशयत्वात्सर्वज्ञबीजस्य क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टत्वादनादिभूतानश्वरज्ञानसम्भवाच्च।

यदाह पतञ्जलिः—

"क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः। तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्। स पूर्वेषामपि गुरुः, कालेनानविच्छेदादिति च॥"

कथन करने वाला सुना जाता है—

श्लोकार्थ—वह सब ओर नेत्र वाला है, सब ओर मुख वाला है, सब ओर भुजाओं वाला है, सब ओर पैर वाला है, वह पुण्य-पाप रूप सम्बाहुओं से संयोजन करता है, और जो परमाणुओं से द्युलोक और भूमि को उत्पन्न करता हुआ एकदेव (ईश्वर) है॥ ८॥

व्यास के वचन भी ईश्वर के पोषक हैं—

श्लोकार्थ—यह अज्ञ प्राणी अपने सुख-दुःख का स्वामी नहीं है। वह ईश्वर से प्रेरित होकर कभी स्वर्ग को जाता है, कभी नरक को॥ ९॥

अचेतन परमाणु आदि कारणों के पर्याप्त होने से बुद्धिमान् कारण की अनर्थकता है, ऐसा नहीं है। अचेतनों के स्वयं कार्योत्पत्ति में व्यापार का अयोग है—तुर्यादि के समान। इस प्रकार चेतन भी अन्य चेतन पूर्वक होने से अनवस्था दोष नहीं आत्मा है; क्योंकि सर्वज्ञता का बीज वह समस्त पुरुषों में ज्येष्ठ है और अतिशयों की परमप्रकर्षता से रहित है, तथा क्लेश, कर्म, विपाक और आशय से रहित है और उसके अनादिभूत अविनश्वर ज्ञान पाया जाता है।

जैसा कि पतञ्जलि ने योगसूत्र में कहा है—

क्लेश, कर्म, विपाक और आशय से सर्वथा रहित पुरुषविशेष ईश्वर है। वह निरतिशय सर्वज्ञ-बीज है। वह पूर्वों (हिरण्यगर्भादि) का भी गुरु है; क्योंकि उसका काल की अपेक्षा विच्छेद नहीं होता है।

---

१. ईश्वरः।

ऐश्वर्यमप्रतिहतं सहजो विरागस्तृप्तिर्निसर्गजनितावशितेन्द्रियेषु ।
आत्यन्तिकं सुखमनावरणा च शक्तिर्ज्ञानं च सर्वविषयं भगवंस्तवैव ॥१०॥

इत्यवधूतवचनाच्च ।

न चात्र कार्यत्वमसिद्धम् सावयवत्वेन कार्यत्वसिद्धेः । नापि विरुद्धम्, विपक्षे

विशेष—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश क्लेश हैं। इनमें से विपरीत ज्ञान अविद्या है। अनित्य, अशुचि और दुःखात्मक वस्तुओंमें नित्य, शुचि और सुखरूप ज्ञान अविद्या है, नित्यादि चार में अनित्यादि चतुष्टय बुद्धि, पापादि में पुण्यबुद्धि भी विवक्षित है; क्योंकि वे भी संसार की हेतु अविद्या स्वरूप हैं। अहो, मैं हूँ, इस प्रकार का अभिमान अस्मिता है, दृष्टि और दर्शन की शक्ति की एकात्मता अस्मिता है। राग और द्वेष, सुख और दुःख तथा उनके साधनों के रूप में प्रसिद्ध है। सुखानुशयी राग है। सुख और सुख के साधन मात्र विषयक क्लेश राग है। दुःखानुशयी द्वेष है। आप्त और ईश्वर के भङ्ग का भय और दुराग्रह का नाम अभिनिवेश है। स्वरसवाही विद्वान् का भी उस प्रकार आरूढ़ होना अभिनिवेश है। अपने संस्कार से ही जो ले जाता है उसे स्वरसवाही कहते हैं। भय अविद्वान् के समान विद्वान् के भी स्वरसवाही हेतु से प्रसिद्ध है। यही अभिनिवेश है। अश्वमेध ब्रह्महत्यादिक कर्म हैं। कर्म के फल विपाक हैं। कर्म के फल रूप जाति, आयु और भोग को विपाक कहते हैं। देवत्व, मनुष्यत्वादि जाति है। प्राण नामक वायु का काल की अपेक्षा परिमित सम्बन्ध आयु है। स्व से समवेत सुख दुःख का साक्षात्कार भोग है। ज्ञानादि की वासना आशय है। संसार से वासित चित्त का परिणाम आशय है। जब तक निवृत्ति नहीं हो जाती तब तक जो आत्मा में शयन करता है, उसे आशय कहते हैं।

अवधूत के वचन भी इस विषय में प्रमाण हैं—

श्लोकार्थ—हे भगवन् ! आपका ऐश्वर्य अप्रतिहत है, विराग स्वाभाविक है, तृप्ति स्वाभाविक है, इन्द्रियों में वशिता है, आपका सुख विनाश रहित है, शक्ति अनावरण है, तथा ज्ञान सर्वविषयक है ॥ १० ॥

तनु आदि में कार्यत्वपना असिद्ध नहीं है। सावयव होने से कार्यत्व की सिद्धि होती है।

विशेष—पृथिवी आदि समवायि, असमवायि और निमित्त तीन कारणों से उत्पन्न हैं; क्योंकि वे वस्त्रादि के समान कार्य हैं। चार प्रकार के परमाणु समवायिकारण हैं, परमाणुओं का संयोग असमवायिकारण है,

वृत्त्यभावात् । नाप्यनैकान्तिकम्; विपक्षे परमाण्वादावप्रवृत्तेः । प्रतिपक्षसिद्धिनिबन्धनस्य साधनान्तरस्याभावान्न प्रकरणसमम् । अथ 'तन्वादिकं बुद्धिमद्धेतुकं न भवति, दृष्टकर्तृकप्रासादादिविलक्षणत्वादाकाशवत्' इत्यस्त्येव प्रतिपक्षसाधनमिति । नैतद्युक्तम्; हेतोरसिद्धत्वात् [1]सन्निवेशविशिष्टत्वेन प्रासादादिसमानजातीयत्वेन तन्वादीनामुपलम्भात् । अथ यादृशः प्रासादादौ सन्निवेशविशेषो दृष्टो न तादृशस्तन्वादीविति चेन्न; सर्वात्मना सदृशस्य कस्यचिदप्यभावात् । सातिशयसन्निवेशो हि सातिशयं कर्त्तारं गमयति, प्रासादादिवत् । न च दृष्टकर्तृकत्वादृष्टकर्तृकत्वाभ्यां बुद्धिमन्निमित्तेतरत्वसिद्धिः, कृत्रिमैर्मणिमुक्ताफलादिभिर्व्यभिचारात् ।

ईश्वर, आकाश, काल निमित्त कारण हैं, क्योंकि ये अनादि निधन हैं और आदि तथा अन्त से रहित हैं, इत्यादि अनुमान में कार्यत्व असिद्ध नहीं होता है। पृथिवी आदि कार्य हैं; क्योंकि सावयव हैं। जो सावयव होता है, वह कार्य होता है, जैसे—महल आदि। चूँकि यह सावयव है। अतः कार्य है।

तनु आदि में कार्यत्व हेतु विरुद्ध भी नहीं है; क्योंकि बुद्धिमन्निमित्तकत्व रूप साध्य विपक्ष (अबुद्धिमन्निमित्तक नित्य परमाणु आदि में) नहीं रहता है। विपक्ष परमाणु आदि में प्रवृत्त नहीं होने से यह हेतु अनैकान्तिक भी नहीं है। प्रतिपक्ष की सिद्धि जिसमें कारण है, ऐसे अन्य साधन के अभाव के कारण यहाँ प्रकरणसम भी नहीं है।

शङ्का—शरीर आदि बुद्धिमन्निमित्तक नहीं होते हैं; क्योंकि जिनका कर्त्ता दिखाई देता है ऐसे प्रासादादि से वे विलक्षण हैं, जैसे—आकाश। इस प्रकार यहाँ प्रतिपक्ष का साधन है ही।

समाधान—यह ठीक नहीं है; क्योंकि यहाँ हेतु असिद्ध है; क्योंकि रचना विशेष के कारण प्रासादादि के समानजातीय शरीरादि की उपलब्धि होती है।

शङ्का—प्रासादादि की जैसी रचनाविशेष दिखाई देती है, वैसी तनु-आदि की नहीं होती है।

समाधान—ऐसा नहीं है। जो सब प्रकार से दूसरे के समान हो, ऐसी किसी भी वस्तु का अभाव है। सातिशय रचना सातिशय कर्त्ता का ज्ञान कराती है। जैसे—प्रासादादि। जिनका कर्त्ता दिखाई देता है और जिनका कर्त्ता दिखाई नहीं देता है, इन दोनों में बुद्धिमन्निमित्त और अबुद्धिमन्निमित्त की सिद्धि नहीं होती है, अन्यथा कृत्रिम मणि मुक्ताफलादि

---

१. रचनाविशेष।

एतेनाचेतनोपादानत्वादिकमपि समर्थितमिति सूक्तं बुद्धिमद्धेतुकत्वम्, ततश्च सर्व-वेदित्वमिति ।

तदेतत्सर्वमनुमानमुद्राद्रविणदरिद्रवचनमेव, कार्यत्वादेरसम्यग्धेतुत्वेन तज्जनित-ज्ञानस्य मिथ्यारूपत्वात् । तथाहि—कार्यत्वं स्वकारणसत्तासमवायः[1] स्यात्, अभूत्वाभावित्वम्, अक्रियादर्शिनोऽपि कृतबुद्ध्युत्पादकत्वम्, कारणव्यापारानुविधा-यित्वं वा स्यात्, गत्यन्तराभावात् ।

अथाद्यः पक्षस्तदा योगिनामशेषकर्मक्षये पक्षान्तःपातिनि हेतोः कार्यत्वलक्षण-स्याप्रवृत्तेर्भागासिद्धत्वम् । न च तत्र सत्तासमवायः स्वकारणसमवायो वा समस्ति; तत्प्रक्षयस्य प्रध्वंसरूपत्वेन सत्तासमवाययोरभावात्, सत्ताया द्रव्यगुणक्रियाऽऽधार-

---

से व्यभिचार आता है। इस प्रकार कार्यत्व हेतु के समर्थन से अचेतनो-पादानत्व आदि का समर्थन होता है। इस प्रकार बुद्धिमन्निमित्तत्व और उससे सर्वज्ञपना ठीक ही कहा है।

जैन—यह सब कथन अनुमान मुद्रा रूप धन से रहित दरिद्र पुरुष के वचन के समान है; क्योंकि कार्यत्व आदि असम्यक् हेतु हैं, अतः उनसे जनित ज्ञान भी मिथ्या रूप ही है। वह इस प्रकार है—(चार विकल्प कर पूछते हैं)? स्वकारण (निष्पाद्य वस्तु का कारण) सत्ता समवाय (सत्ता से मिलन) को कार्यत्व कहते हैं या अभूत्वाभावित्व को या अक्रियादर्शी के कृतबुद्ध्युत्पादकत्व (किसी के करने की बुद्धि उत्पन्न होना) को अथवा (परमाण्वादि) कारण व्यापारानुविधायित्व (व्यापार के अनुसार कार्य होना) को कार्यत्व कहते हैं ? क्योंकि इनसे भिन्न अन्य गति का अभाव है।

यदि आपको आद्य पक्ष स्वीकार है तो 'योगियों के समस्त कर्मों का क्षय' के पक्ष के अन्तर्गत आ जाने पर हेतु कार्यत्व लक्षण के प्रवृत्त न होने पर भागासिद्ध नामक दोष आता है। अर्थात् तनु करणभुवनादि पक्ष के अन्तर्वर्ती होने पर योगियों के समस्त कर्मों के प्रध्वंसाभावरूपता के कारण स्वकारण सत्ता समवाय लक्षण कार्य रूप हेतु की प्रवृत्ति युक्त नहीं है। पक्ष के अन्तर्गत आने वाले पर्वतादि में स्वकारण सत्ता समवाय के प्रवृत्त होने पर और समस्त कर्मों के क्षय के प्रवृत्त न होने पर स्वकारण सत्ता समवाय लक्षण हेतु पक्ष के एकदेश में असिद्ध है। कर्मक्षय कार्य में न तो सत्ता समवाय है और न स्वकारण समवाय है। योगियों

---

१. अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानामिहेदंप्रत्ययलिङ्गो यः सम्बन्धः स समवायः।

स्वाभ्यनुज्ञानात्[1], समवायस्य च परैर्द्रव्यादिपञ्चपदार्थवृत्तित्वाभ्युपगमात् ।

अथाभावपरित्यागेन भावस्यैव विवादाध्यासितस्य पक्षीकरणान्नायं दोषः प्रवेशभागिति चेत्तर्हि मुक्त्यर्थिनां तदर्थमीश्वराराधनमनर्थकमेव स्यात्, तत्र तस्याकिञ्चित्करत्वात् । सत्तासमवायस्य विचारमधिरोहतः शतधा विशीर्यमाणत्वात् स्वरूपासिद्धं च कार्यत्वम् । स हि समुत्पन्नानां भवेदुत्पद्यमानानां वा ? यद्युत्पन्नानाम्; सतामसतां [वा] ? न तावदसताम्, खरविषाणादेरपि तत्प्रसङ्गात् । सतां चेत् सत्तासमवायात् स्वतो वा ? न तावत्सत्तासमवायात्, अनवस्थाप्रसङ्गात्, प्रागुक्तविकल्पद्वयानतिवृत्तेः । स्वतः सतां तु सत्तासमवायानार्थक्यम् ।

अथोत्पद्यमानानां सत्तासम्बन्ध-निष्ठासम्बन्धयोरेककालत्वाभ्युपगमादिति मतम्,

---

का कर्मक्षय प्रध्वंसाभाव रूप है अतः उसके साथ सत्ता और समवाय का अभाव है। आप लोगों ने सत्ता को द्रव्य, गुण और क्रिया का आधार माना है तथा समवाय को द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और विशेष इन पाँच पदार्थों में रहने वाला माना है।

यौग—अभाव का परित्याग कर विवाद को प्राप्त भाव को ही पक्ष बताने से यह दोष नहीं है।

जैन—मोक्ष के चाहने वालों का ऐसी स्थिति में मोक्ष के लिए ईश्वर की आराधना करना निरर्थक होगा; क्योंकि मोक्ष को चाहने वाले के समस्त कर्मों का क्षय होने पर ईश्वर की आराधना निरर्थक होगी। सत्ता समवाय रूप हेतु को विचार श्रेणी पर चढ़ाने से वह सैकड़ों रूपों में छिन्न-भिन्न हो जाता है, अतः कार्यत्व हेतु स्वरूपासिद्ध है। सत्ता समवाय उत्पन्न हुए पदार्थों के है अथवा उत्पद्यमान पदार्थों के है? यदि उत्पन्न हेतु पदार्थों के है तो वे पदार्थ सत् हैं या असत्? यदि समुत्पन्न असत् पदार्थों के सत्ता समवाय है तो वह खरविषाणादि के भी होगा; क्योंकि दोनों में कोई विशेषता नहीं है। यदि सत् पदार्थों के सत्ता समवाय कहोगे तो वह सत्ता समवाय अन्य सत्ता समवाय से है या स्वतः? अन्य सत्ता समवाय से मानने पर अनवस्था दोष आता है। पहले कहे गये दोनों विकल्प यहाँ भी होंगे। स्वतः सतों के मानने पर सत्ता समवाय अनर्थक हो जाता है।

यौग—उत्पद्यमान पदार्थों का सत्ता सम्बन्ध और निष्ठा सम्बन्ध इन दोनों का एक ही काल स्वीकार किया गया है।

---

१. अङ्गीकरणात् ।

तदा सत्तासम्बन्ध उत्पादाद्भिन्नः किं वाऽभिन्न इति ? यदि भिन्नस्तदोत्पत्तेरसत्त्वाविशेषादुत्पत्त्यभावयोः किंकृतो भेदः ? अथोत्पत्तिसमाक्रान्तवस्तुसत्त्वेनोत्पत्तिरपि तथा व्यपदिश्यत इति मतम्, तदपि अतिजाड्यवल्गितमेव, उत्पत्तिसत्त्वप्रतिविवादे वस्तुसत्त्वस्यातिदुर्घटत्वात्, इतरेतराश्रयदोषश्चेति उत्पत्तिसत्त्वे वस्तुनि तदेककालीनसत्तासम्बन्धावगमः, तदवगमे च तत्रत्यसत्त्वेनोत्पत्तिसत्त्वनिश्चय इति। अथैतद्दोषपरिजिहीर्षया तयोरैक्यमभ्यनुज्ञायते, तर्हि तत्सम्बन्ध एव कार्यत्वमिति। ततो बुद्धिमद्धेतुकत्वे गगनादिभिरनेकान्तः।

एतेन स्वकारणसम्बन्धोऽपि चिन्तितः। अथोभयसम्बन्धः कार्यत्वमिति मतिः, सापि न युक्ता; तत्सम्बन्धस्यापि कादाचित्कत्वे समवायस्यानित्यत्वप्रसङ्गात् घटादिवत्। अकादाचित्कत्वे सर्वदोपलम्भप्रसंगः। अथ वस्तूत्पादककारणानां

जैन—तब सत्ता सम्बन्ध उत्पाद से भिन्न है या अभिन्न ? यदि भिन्न है तब उत्पत्ति से असत्त्व में कोई विशेषता नहीं रही। फिर उत्पत्ति और अभाव में क्या भेद रहा।

यौग—उत्पत्ति से युक्त वस्तु के सत्त्व से उत्पत्ति को भी सत् रूप व्यवहार कर दिया जाता है।

जैन—यह कहना अति जड़ पुरुष की बकवाद के समान है। उत्पत्ति के सत्त्व में विवाद होने पर वस्तु का सत्त्व मानना अत्यन्त दुर्घट है। ऐसा मानने पर इतरेतराश्रय नामक दोष भी आता है। उत्पत्ति के समय वस्तुओं में सत्ता सम्बन्ध की जानकारी हो और वस्तु सत्त्व की जानकारी होने पर तब वस्तुसत्त्व के द्वारा उत्पत्ति सत्त्व का निश्चय हो। यदि उपर्युक्त दोष का परिहार करने की इच्छा से आप उत्पत्ति और सत्ता सम्बन्ध में एकता मानते हो तो उस सत्ता का सम्बन्ध ही कार्यत्व सिद्ध हुआ। तब सत्ता सम्बन्ध रूप कार्य से बुद्धिमद्धेतुकत्व साध्य मानने पर आकाशादि के द्वारा अनैकान्तिक दोष प्राप्त होता है। सत्ता समवाय सम्बन्ध के निराकरण से स्वकारण सम्बन्ध का भी विचार किया गया समझना चाहिये। यदि स्वकारण समवाय और सत्ता समवाय, इस प्रकार उभय सम्बन्ध कार्यत्व है, ऐसा मानों तो भी ठीक नहीं है। तनुकरणादि के उभय सम्बन्ध को भी यदि कादाचित्क मानेंगे तो घटादि के समान समवाय के अनित्यता का प्रसंग आता है। यदि अकदाचित्क (सदा होने वाला) कहेंगे तो तनुकरणादि कार्यों के भी सर्वदा पाये जाने का प्रसंग आता है।

सन्निधानाभावान्न सर्वदोपलम्भप्रसंगः। ननु वस्तूत्पत्त्यर्थं कारणानां व्यापारः, उत्पादश्च स्वकारणसत्तासमवायः, स च सर्वदाप्यस्ति, इति तदर्थं कारणोपादानमनर्थकमेव स्यात्।

अभिव्यक्त्यर्थं तदुपादानमित्यपि वार्त्तम्; वस्तूत्पादापेक्षया अभिव्यक्तेरघटनात्। वस्त्वपेक्षयाऽभिव्यक्तौ कारणसम्पातात्प्रागपि कार्यवस्तुसद्भावप्रसङ्गात्। उत्पादस्याप्यभिव्यक्तिरसम्भाव्या; स्वकारणसत्तासम्बन्धलक्षणस्योत्पादस्यापि कारणव्यापारात्प्राक् सद्भावे वस्तुसद्भावप्रसंगात्; तल्लक्षणत्वाद्वस्तुसत्त्वस्य। प्राक् सत एव हि केनचित् तिरोहितस्याभिव्यञ्जकेनाभिव्यक्तिः, तमस्तिरोहितस्य घटस्येव प्रदीपादिनेति। तन्नाभिव्यक्त्यर्थं कारणोपादानं युक्तम्। तन्न स्वकारणसत्तासम्बन्धः कार्यत्वम्।

नाप्यभूत्वाभावित्वम्, तस्यापि विचारासहत्वात्। अभूत्वाभावित्वं हि भिन्न-

---

वस्तु के उत्पादक कारणों के सन्निधान के अभाव से कार्यों के सर्वदा होने का प्रसंग नहीं आएगा, यदि ऐसा कहें तो जैनों का कहना है कि वस्तु की उत्पत्ति के लिए कारणों का व्यापार होता है और उत्पाद स्व कारण सत्ता समवाय रूप है, वह सर्वदा है ही ? इस प्रकार वस्तु की उत्पत्ति के लिए कारणों का उपादान करना अनर्थक होगा।

वस्तु के कारणों का ग्रहण कार्य की अभिव्यक्ति के लिए आवश्यक है, यह कथन भी असत्य है; क्योंकि वस्तु के उत्पाद की अपेक्षा अभिव्यक्ति का कथन घटित नहीं होता। यदि वस्तु की अपेक्षा से अभिव्यक्ति मानी जाय तो कारण के समागम से पहले भी कार्य रूप वस्तु के सद्भाव का प्रसंग आता है। उत्पाद की अभिव्यक्ति भी असम्भाव्य है; क्योंकि स्वकारण सत्ता सम्बन्ध लक्षण रूप उत्पाद के भी कारण व्यापार से पूर्व सद्भाव मानने पर वस्तु के सद्भाव का प्रसंग आता है; क्योंकि सत्त्व का लक्षण स्वकारण सत्ता सम्बन्ध है। जो वस्तु पहले सत् हो, बाद में किसी से तिरोहित हो जाय तो उसकी अभिव्यञ्जक कारणों से अभिव्यक्ति होती है। जैसे अन्धकार से तिरोहित घट की प्रदीप आदि से अभिव्यक्ति होती है। अतः अभिव्यक्ति के लिए कारणों का उपादान करना युक्त नहीं है। अतः स्वकारण सत्ता सम्बन्ध रूप कार्यत्व सिद्ध नहीं होता है।

अभूत्वाभावित्व को भी कार्यत्व नहीं कह सकते; क्योंकि वह भी विचारसह नहीं है। (नैयायिक लोग असत्कार्यवादी हैं, उनके मत में परमाणु आदि कारणों में सर्वथा असत् ही द्व्यणुकादि कार्य उत्पन्न होते

कालक्रियाद्वयाधिकरणभूते कर्त्तरि सिद्धे सिद्धिमव्यास्ते; क्त्वान्तपदविशेषितवाक्यार्थत्वाद् भुक्त्वा व्रजतीत्यादिवाक्यार्थवत् । न चात्र भवना भवनयोराधारभूतस्य कर्तुरनुभवोऽस्ति अभवनाधारस्याविद्यमानत्वेन भवनाधारस्य च विद्यमानतया भावाभावयोरेकाश्रयविरोधात् । अविरोधे च तयोः पर्यायमात्रेणैव भेदो न वास्तव इति ।

अस्तु वा यथाकथञ्चिदभूत्वाभावित्वम्, तथापि तन्वादौ सर्वत्रानभ्युपगमाद् भागासिद्धम् । न हि मही-महीधराकूपारारामादयः प्रागभूत्वा भवन्तोऽभ्युपगम्यन्ते परैः, तेषां तैः सर्वदाऽवस्थानाभ्युपगमात्[1] । अथ सावयवत्वेन तेषामपि सादित्वं

हैं) अभूत्वाभावित्व भिन्नकालवर्ती दो क्रियाओं के अधिकरण भूत कर्ता के सिद्ध हो जाने पर ही सिद्धि को प्राप्त हो सकता है; क्योंकि क्त्वा प्रत्यय जिसके अन्त में है, ऐसे वाक्य के अर्थ रूप है । जैसे 'भुक्त्वा व्रजति' अर्थात् भोजन करके जाता है, इत्यादि वाक्य का अर्थ है । (यहाँ भोजन क्रिया अतीत रूपा है । जैसे—यहाँ भिन्नकालाधिकरणभूत कर्ता देवदत्त के होने पर ही भोजन करके जाता है, यह युक्त है, उसी प्रकार अभवन और भवन दोनों क्रियाओं के अधिकरणभूत कर्त्ता का अनुभव नहीं है ।) यहाँ पर विद्यमान और अविद्यमान दो क्रियाओं का आधारभूत कर्ता का अनुभव नहीं है । अभवन क्रिया का आधार अविद्यमान होने भवन क्रिया का आधार विद्यमान होने से भाव और अभाव क्रिया के एक आश्रय का विरोध है । यह दोष भाववादियों का ही है, स्याद्वादियों का नहीं; उनके यहाँ अभाव भी भावान्तर रूप है । वस्तु भावाभावात्मक मानी गई है । एक आश्रय होने पर यदि भाव और अभाव में विरोध न हो तो उन दोनों में नाम मात्र का भेद रहेगा, वास्तविक नहीं ।

अथवा जिस किसी प्रकार अभूत्वाभावित्व मान भी लिया जाय तथापि तनु आदि सब जगह स्वीकार न करने से भागासिद्ध हो जायगा । हम (जैन) लोग पृथिवी, पर्वत, कुआँ, उद्यान आदि को पहले नहीं होकर होते हुए नहीं मानते हैं; किन्तु इनका हमने सर्वदा ही अवस्थान माना है । (काल, सर्वज्ञनाथ, जीव, लोक तथा आगम ये सभी अनादिनिधन होकर द्रव्य रूप में स्थित हैं ।) यदि सावयव होने के कारण उन पृथ्वी, पर्वतादिकों का भी सादित्व सिद्ध किया जाता है तो यह भी अशिक्षित व्यक्ति

---

१. कालः सर्वज्ञनाथश्च जीवो लोकस्तथाऽऽगमः ।
अनादिनिधना ह्येते द्रव्यरूपेण संस्थिताः ॥ १ ॥

प्रसाध्यते, तदप्यशिक्षितलक्षितम् अवयवेषु वृत्तेरवयवैरारभ्यत्वेन च सावयवत्वानुपपत्तेः। प्रथमपक्षे सावयवसामान्येनानेकान्तात्। द्वितीयपक्षे साध्याविशिष्टत्वात्।

अथ सन्निवेश एव सावयवत्वम्, तच्च घटादिवत् पृथिव्यादावुपलभ्यत इत्यभूत्वाभावित्वमभिधीयते। तदप्यपेशलम्; सन्निवेशस्यापि विचारासहत्वात्। स हि अवयवसम्बन्धो भवेद् रचनाविशेषो वा? यद्यवयवसम्बन्धस्तदा गगनादिनाऽनेकान्तः; सकलमूर्त्तिमद्द्रव्यसंयोगनिबन्धनप्रदेशनानात्वस्य सद्भावात्। अथोपचरिता एव तत्र प्रदेशा इति चेत्तर्हि सकलमूर्त्तिमद्-द्रव्यसम्बन्धस्याप्युपचरितत्वात् सर्वगतत्वमप्युपचरितं स्यात्; श्रोत्रस्यार्थक्रियाकारित्वं च न स्यादुपचरितप्रदेशरूपत्वात्। धर्मादिना संस्कारात्ततः सेत्युक्तम्। उपचरितस्यासद्रूपस्य तेनोपकारायोगात्, खरविषाणस्येव। ततो न किञ्चिदेतत्। अथ रचनाविशेषस्तदा पर-

---

के कथन के समान है। अवयवों में अवयवी रहे अथवा अवयवों से प्रारम्भ किये जाने, दोनों ही प्रकार से सावयवपना नहीं बनता है। प्रथम पक्ष के मानने पर सावयव सामान्य से अनेकान्त दोष आता है। द्वितीय पक्ष में साध्यसम है (क्योंकि अवयवों से आरभ्यत्व और कार्यत्व इन दोनों का अर्थ समान ही है)।

यदि सन्निवेश ही सावयवत्व हो और वह घटादि के समान पृथ्वी आदिक में भी पाया जाता है। यह कथन भी ठीक नहीं है; क्योंकि सन्निवेश के भी विचार का असहपना है अर्थात् विचार करने पर वह कोई वस्तु नहीं ठहरता। प्रश्न है कि अवयवों के साथ सम्बन्ध होने का नाम सन्निवेश है अथवा रचनाविशेष का नाम सन्निवेश है? यदि अवयव सम्बन्ध का नाम सन्निवेश है तो आकाशादि से अनेकान्त दोष आता है; क्योंकि समस्त मूर्तिमान् द्रव्यों के संयोग का कारण प्रदेशोंका नानात्व आकाशादि में पाया जाता है। यदि कहें कि आकाशादि में तो प्रदेश उपचरित हैं, तब तो समस्त मूर्तिक द्रव्यों का सम्बन्ध भी उपचरित होने से आकाश सर्वव्यापकता उपचरित हो जायगी और श्रोत्र के अर्थक्रियाकारिता भी नहीं रहेगी अर्थात् श्रोत शब्द का ग्राहक नहीं रहेगा; क्योंकि आकाश के प्रदेश उपचरित हैं। यदि कहो कि पवित्र औषधादि तथा सुख दुःख का अनुभव कराने वाला धर्माधर्म विशिष्ट नभो प्रदेश ही श्रोत्र के रूप में माना गया है तो हमारा कहना है कि उपचरित असद्रूप धर्माधर्म से किसी प्रकार का उपकार नहीं किया जा सकता। जैसे गधे के सींग का किसी पदार्थ से कुछ उपकार नहीं किया जा सकता। अतः अवयव सम्बन्ध रूप

म्प्रति भागासिद्धत्वं तदवस्थमेवेति नाभूत्वाभावित्वं विचारं सहते ।

नाप्यक्रियादर्शिनोऽपि कृतबुद्ध्युत्पादकत्वम्; तद्धि कृतसमयस्यादकृतसमयस्य वा भवेत् ? कृतसमयस्य चेद् गगनादेरपि बुद्धिमद्धेतुकत्वं स्यात्; तत्रापि खननोत्खेचनात् कृतमिति गृहीतसंकेतस्य कृतबुद्धिसम्भवात् । सा मिथ्येति चेद्भवदीयापि किं न स्यात्; बाधासद्भावस्य प्रतिप्रमाणविरोधस्य चान्यत्रापि समानत्वात्, प्रत्यक्षेणोभयत्रापि कर्तुरग्रहणात् । क्षित्यादिकं बुद्धिमद्धेतुकं न भवति; अस्मदाद्यनवग्राह्यपरिमाणाधारत्वाद् गगनादिवदिति प्रमाणस्य साधारणत्वात् । तन्न कृतसमयस्य कृतबुद्ध्युत्पादकत्वम् । नाप्यकृतसमयस्य; असिद्धत्वादविप्रतिपत्तिप्रसङ्गाच्च ।

सन्निवेश कुछ भी वस्तु सिद्ध नहीं होता है । यदि रचना विशेष मानें तो जैनों के प्रति भागासिद्धता पूर्ववत् हो जायगी (क्योंकि महीधरादि की आदि है; क्योंकि वे घट के समान सावयव हैं, यहाँ चूँकि सुखादि रचना-विशेष नहीं है, अतः भागासिद्धपना है) । इस प्रकार अभूत्वाभावित्व विचार को नहीं सहता है अर्थात् विचार करने पर ठीक नहीं ठहरता है ।

कार्य को नहीं मानने वाले अक्रियादर्शी के यहाँ भी कृतबुद्ध्युत्पादकत्वलक्षण कार्यपना भी पृथिवी आदि के बुद्धिमन्निमित्तकत्व रूप साध्य की सिद्धि करने में समर्थ नहीं है । कृत बुद्धि सङ्केत ग्रहण करने वाली के होगी या जिसने सङ्केत ग्रहण नहीं किया है, उसके होगी । यदि सङ्केत ग्रहण करने वाले के होगी तो आकाशादि भी बुद्धिमान् द्वारा किए गए सिद्ध होंगे; क्योंकि मिट्टी के खोदने और निकालने से यह गड्ढा हमने बनाया, इस प्रकार के सङ्केत को ग्रहण करने वाले के कृतबुद्धि का होना सम्भव है । गगनादि में जो कृतबुद्धि है, वह यदि मिथ्या है तो आपके भी शरीरादि में जो कृतबुद्धि है, वह भी क्यों मिथ्या नहीं होगी ? क्योंकि (आकाश नित्य है, क्योंकि वह समवाय के समान सत् और अकारणवान् है, इस प्रकार की) बाधा का सद्भाव और प्रति प्रमाण का विरोध तो तनुकरणादिक में भी समान है । अर्थात् यदि आप कहते हैं कि आकाश आदि में यदि कृतबुद्ध्युत्पादकत्व का बाधक प्रमाण है तो वह बाधक प्रमाण अन्यत्र तनु आदि में भी है ही; क्योंकि प्रत्यक्ष से दोनों जगह कर्त्ता का ग्रहण नहीं होता है । पृथ्वी आदि बुद्धिमान्निमित्तक नहीं हैं; क्योंकि हमारे जैसे लोगों के द्वारा उसका परिमाण और आधार ग्रहण नहीं होता है । जैसे आकाश आदि इस प्रकार का प्रमाण दोनों जगह साधारण है । अतः जिसने संकेत ग्रहण किया है, ऐसे पुरुष के कृतबुद्धि का उत्पादकपना नहीं बनता है और जिसने संकेत ग्रहण नहीं किया है,

कारणव्यापारानुविधायित्वं च कारणमात्रापेक्षया यदीष्यते तदा विरुद्धं साधनम्। कारणविशेषापेक्षया चेदितरेतराश्रयत्वम् —सिद्धे हि कारणविशेषे बुद्धिमति तदपेक्षया कारणव्यापारानुविधायित्वं कार्यत्वम्; ततस्तद्विशेषसिद्धिरिति।

सन्निवेशविशिष्टत्वमचेतनोपादानत्वं चोक्तदोषदुष्टत्वान्न पृथक् चिन्त्यते; स्वरूपभागासिद्धत्वादेस्तत्रापि सुलभत्वात्।

ऐसे भी पुरुष के कृतबुद्ध्युत्पादकत्व नहीं बनता है। बिना संकेत ग्रहण किये कृतबुद्धि का उत्पन्न होना असिद्ध है (यह घट है, पट नहीं है, इस प्रकार की विप्रतिपत्ति है परन्तु अगृहीत संकेत वाले की उस प्रकार की विप्रतिपत्ति नहीं है)। निःसन्देहपने का भी प्रसंग उपस्थित होता है। यदि कृतसंकेत के जैसे कृतबुद्धि सम्भव है, उस प्रकार अकृतसंकेत के भी कृतबुद्धि सम्भव हो तो फिर किसी प्रकार का विवाद ही न हो। चूँकि विवाद है अतः विवाद नहीं होने का प्रसंग दोष युक्त है।

कारणव्यापारानुविधायित्व (कारण के व्यापार के अनुसार कार्य होना) यदि कारण की अपेक्षा से इष्ट है तो साधन विरुद्ध है। (क्योंकि विपक्षीभूत अबुद्धिमन्निमित्तक वस्तु वर्तमान है। ईश्वर नामक इष्ट विशेष कारण की सिद्धि न होने से विरुद्ध साधन है)। यदि कारण विशेष की अपेक्षा व्यापारानुविधायित्व कहें तो इतरेतराश्रय दोष आता है। बुद्धिमान कारण विशेष के सिद्ध होने पर उसकी अपेक्षा कारणव्यापारानुविधायित्व रूप कार्यत्व सिद्ध हो, तब उसकी अपेक्षा से कारणविशेष बुद्धिमद्धेतुकत्व की सिद्धि हो।

सन्निवेशविशिष्टत्व और अचेतनोपादानत्व ये दोनों उपर्युक्त दोष से दूषित हैं, अतः उनका पृथक् विचार नहीं किया जाता है; क्योंकि उनमें भी भागासिद्धत्व आदि दोष सुलभ हैं। सुखादि से भागासिद्धत्व—सुखादि में रचनाविशेषत्व नहीं है, कार्यत्व है। बुद्धिमन्निमित्तत्व भी 'अंकुरादिक किसी कर्त्ता सहित हैं अर्थात् कर्त्ता के द्वारा बनाए गए हैं; क्योंकि उनका उपादान अचेतन है। यहाँ पर चेतनोपादन के ज्ञानकार्य में प्रवृत्त न होने से अचेतनोपादान रूप हेतु के भागासिद्धपना है। कहीं पर ज्ञान लक्षण रूप कार्य में सचेतन उपादान होने से भागासिद्धपना है।

(शरीरादि बुद्धिमन्निमित्तक हैं; क्योंकि कार्य हैं। जैसे—घट। यहाँ पर जैसे घड़ा बुद्धिमान् कुम्भकार के द्वारा बनाया गया है। वह कुम्भकार भी सशरीरी और असर्वज्ञ है। उसी प्रकार समस्त कार्यों का कारण नियत है। दृष्टान्त के सामर्थ्य से तनु आदि कार्य भी सशरीर, असर्वज्ञ बुद्धि-

विरुद्धाश्चामी[1] हेतवो दृष्टान्तानुग्रहेण सशरीरासर्वज्ञपूर्वकत्वसाधनात्। न धूमात्पावकानुमानेऽप्ययं दोषः, तत्र तार्ण-पार्णादिविशेषाधाराग्निमात्रव्याप्तधूमस्य दर्शनात्। नैवमत्र सर्वज्ञासर्वज्ञकर्तृविशेषाधिकरणतत्सामान्येन कार्यत्वस्य व्याप्तिः, सर्वज्ञस्य कर्तुरतोऽनुमानात्प्रागसिद्धत्वात्।

मन्निमित्तक हो जायँगे, इस प्रकार इष्ट के विरुद्ध साध्य की सिद्धि करने पर विरुद्ध साधन दोष है। तथा विद्युत् आदि से व्यभिचार आता है।) कार्यत्व, सन्निवेश विशिष्टत्व और अचेतनोपादान रूप तीन हेतु विरुद्ध भी हैं; क्योंकि इनसे सशरीरी, असर्वज्ञ कर्त्ता की सिद्धि होती है।

(नैयायिक कहता है कि दृष्टान्त के सामर्थ्य से यदि ईश्वर का सशरीरपना और असर्वज्ञपना सिद्ध करते हो तो वैसा होने पर समस्त अनुमान का उच्छेद हो जायगा। इसी बात को स्पष्ट करते हैं—यह पर्वत अग्नि युक्त है, धुयें वाला होने से, रसोईघर के समान। यहाँ भी पर्वतादि में रसोई में देखी हुई खैर, पलाश आदि की अग्नि के सिद्ध होने पर इष्ट के विरुद्ध साधन होने से विरुद्ध साधन है। नैयायिक को इस शंका का परिहार करते हैं—)

धुयें से अग्नि के अनुमान में यह (विरुद्ध रूप) दोष नहीं है। धुयें से अग्नि के अनुमान में तृण सम्बन्धी तथा पत्ते सम्बन्धी आदि विशेष आधारों में रहने वाली अग्नि मात्र से व्याप्त धूम का वहाँ भी दर्शन होता है। पृथ्वी, अङ्कुरादि कर्ता से उत्पन्न हैं; क्योंकि कार्य हैं, इस अनुमान में सर्वज्ञ और असर्वज्ञ रूप जो कर्त्ता का विशेष, उसका आधार जो कर्तृत्व सामान्य उसके साथ कार्यत्व हेतु की व्याप्ति नहीं है तथा कर्त्तारूप सर्वज्ञ इस अनुमान से पहले असिद्ध है।

विशेष—जैसे हम जैनियों के धुयें से अग्नि के अनुमान में तृणादि की विशेष अग्नियों का अग्निमात्र आधार ग्रहण है, उसी प्रकार आपके मत में विशेषभूत सर्वज्ञ और असर्वज्ञ रूप आधारभूत सामान्य पुरुष का ग्रहण नहीं है, जिससे कार्यपने की व्याप्ति हो; क्योंकि तुम्हारे मत में सर्वज्ञ ही बुद्धिमान् है, सामान्य पुरुष नहीं। आपके में सर्वज्ञ साधक तनु आदि बुद्धिमन्निमित्तक हैं; क्योंकि वे कार्य हैं, यही अनुमान है। वह इस समय विवादग्रस्त है, अतः उससे सर्वज्ञ सिद्धि नहीं होती है। सर्वज्ञ और असर्वज्ञ रूप विशेष अधिकरण सामान्य से कार्यत्व हेतु की व्याप्ति नहीं है। अग्नि वाला है। धुयें के कारण, यहाँ तृण और पर्ण आदि सम्बन्धी विशेष आधार वाली अग्नि सामान्य से धूम की व्याप्ति है ही, अतः यहाँ दोष नहीं है।

---

१. कार्यत्वसन्निवेशविशिष्टत्वाचेतनोपादानत्वरूपास्त्रयो हेतवः।

व्यभिचारिणश्चामी हेतवो बुद्धिमत्कारणमन्तरेणापि विद्युदादीनां प्रादुर्भावसम्भवात् । सुप्ताद्यवस्थायामबुद्धिपूर्वकस्यापि कार्यस्य दर्शनात् ।

तदवश्यं तत्रापि भगवत्यि कारणमित्यतिमुग्धविलसितम्; तद्-व्यापारस्याप्यसम्भवादशरीरत्वात् । ज्ञानमात्रेण कार्यकारित्वाघटनात्, इच्छा-प्रयत्नयोः शरीराभावेऽसम्भवात् । तदसम्भवश्च पुरातनैर्विस्तरेणाभिहित आप्तपरीक्षादौ; अतः पुनरत्र नोच्यते । यच्च महेश्वरस्य क्लेशादिभिरपरामृष्टत्वं निरतिशयत्वमैश्वर्यादियुक्तत्वं तत्सर्वमपि गगनाब्जसौरभव्यावर्णनमिव निर्विषयत्वादुपेक्षामर्हति । ततो न महेश्वरस्याशेषज्ञत्वम् ।

नापि ब्रह्मणः; तस्यापि सद्भावावेदकप्रमाणाभावात् । न तावत्प्रत्यक्षं तदावेदकम् अविप्रतिपत्तिप्रसङ्गात् । न चानुमानम्; अविनाभाविलिंगाभावात् । ननु

(जैसे घट तथा पट के कर्त्ता कुम्भकार और जुलाहे हैं, उस प्रकार विद्युत् का कोई कर्त्ता नहीं है अतः विद्युत् में बुद्धिमान् कर्त्ता के अभाव रूप कार्य के सद्भाव से व्यभिचारीपना है) । ये कार्यत्व आदि हेतु व्यभिचारी भी हैं, क्योंकि बुद्धिमान् कारण के बिना भी विद्युदादि का प्रादुर्भाव सम्भव है । सुप्त आदि अवस्था में अबुद्धिपूर्वक भी (हस्त पादादि सञ्चालन रूप) कार्य देखा जाता है ।

विद्युदादि तथा सुप्तादि अवस्थाओं में समुत्पन्न कार्य में सदाशिव नामक कारण है, यह कहना भी अतिमुग्ध व्यक्ति के विलास के समान है; क्योंकि वह सदाशिव अशरीरी है, अतः उसका व्यापार असम्भव है । ज्ञान मात्र से कार्यकारित्व घटित नहीं होता है; क्योंकि इच्छा और प्रयत्न शरीर के अभाव में असम्भव हैं । इस असम्भवता का निरूपण प्राचीन आचार्यों ने आप्तपरीक्षा आदि में किया है, अतः यहाँ पुनः नहीं कहा जाता है । और महेश्वर के जो क्लेशादि से अपरामृष्टत्व, निरतिशयत्व और ऐश्वर्य आदि से युक्तत्व कहा है, वह सब आकाश कमल की सुगन्धि के वर्णन के समान निर्विषय होने से उपेक्षा योग्य है । इस प्रकार महेश्वर के सर्वज्ञता नहीं है ।

ब्रह्म के भी सर्वज्ञपना नहीं है; क्योंकि उस ब्रह्म के सद्भाव को सिद्ध करने वाले प्रमाण का अभाव है । प्रत्यक्ष तो ब्रह्म के अस्तित्व का साधक हो नहीं सकता; क्योंकि सबको ब्रह्म का दर्शन होना चाहिए, किसी को ब्रह्म में विवाद नहीं होना चाहिए, इस प्रकार का प्रसङ्ग उपस्थित होता है । अनुमान भी ब्रह्म के अस्तित्व का साधक नहीं हो सकता; क्योंकि अविनाभाव रखने वाले लिङ्ग का अभाव है ।

प्रत्यक्षं तद्-ग्राहकमस्त्येव; अक्षिविस्फालनानन्तरं निर्विकल्पकस्य सन्मात्रविधि-विषयतयोत्पत्तेः । सत्तायाश्च परमब्रह्मरूपत्वात् । तथा चोक्तम्—

अस्ति ह्यालोचनाज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम् ।
बालमूकादिविज्ञानसदृशं शुद्धवस्तुजम् ॥ ११ ॥

न च विधिवत् परस्परव्यावृत्तिरप्यध्यक्षतः प्रतीयत इति द्वैतसिद्धिः, तस्य निषेधाविषयत्वात् । तथा चोक्तम्—

आहुर्विधातृ प्रत्यक्षं न निषेधृ विपश्चितः ।
नैकत्वे आगमस्तेन प्रत्यक्षेण प्रबाध्यते ॥ १२ ॥

अनुमानादपि तत्सद्भावो विभाव्यत एव । तथा हि—ग्रामारामादयः पदार्थाः प्रतिभासान्तः प्रविष्टाः, प्रतिभासमानत्वात् । यत्प्रतिभासते तत्प्रतिभासान्तःप्रविष्टम्; यथा प्रतिभासस्वरूपम् । प्रतिभासन्ते च विवादापन्ना इति । तदागमानामपि पुरुष

ब्रह्मवादी—प्रत्यक्ष उस ब्रह्म का ग्राहक है ही; क्योंकि आँख खोलते ही विकल्प ज्ञान से शून्य सत्ता मात्र स्वरूप विधि (ब्रह्म) को विषय करने से प्रत्यक्ष को उत्पत्ति होती है। यह निर्विकल्प सत्ता ही परमब्रह्म रूप है। जैसा कि कहा गया है—

श्लोकार्थ—प्रथम निर्विकल्पक आलोचना ज्ञान उत्पन्न होता है, जो कि बालक और मूक आदि के ज्ञान के समान है और शुद्धवस्तुजनित है ॥ ११ ॥

विशेष—जो विशेष व्यवहार का अंगभूत नहीं है, ऐसे प्रथमावलोकन रूप ज्ञान को आलोचना ज्ञान कहते हैं।

जिस प्रकार विधि प्रत्यक्ष का विषय है, उसी प्रकार निषेध भी प्रत्यक्ष का विषय है, अतः द्वैतसिद्धि हो जायगी, ऐसा नहीं है; क्योंकि प्रत्यक्ष का विषय निषेध करना नहीं है। जैसा कि कहा है—

श्लोकार्थ—विद्वान् लोग प्रत्यक्ष को विधि का विषय कहते हैं, निषेध को नहीं। इसलिए एकत्व के विषय में जो आगम है, वह प्रत्यक्ष से बाधित नहीं होता है ॥ १२ ॥

अनुमान से भी ब्रह्म का सद्भाव जाना ही जाता है। इसी बात को स्पष्ट करते हैं—ग्राम, उद्यान आदि पदार्थ प्रतिभास के अन्तःप्रविष्ट हैं; क्योंकि वे प्रतिभासमान होते हैं। जो प्रतिभासित होता है, वह प्रतिभास के अन्तःप्रविष्ट है, जैसे कि प्रतिभास का स्वरूप। विवाद को प्राप्त ग्राम, उद्यान आदि प्रतिभासित होते हैं, इसलिए वे सब परम ब्रह्म के ही

एवेदं यद् भूतं यच्च भाव्यमिति बहुलमुपलम्भात् ।

सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ।
आरामं तस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन ॥ १३ ॥

इति श्रुतेश्च ।

ननु परमब्रह्मण एव परमार्थसत्त्वे कथं घटादिभेदोऽवभासत इति न चोद्यम्; सर्वस्यापि तद्विवर्ततयाऽवभासनात् । न चाशेषभेदस्य तद्विवर्तत्वमसिद्धम्; प्रमाणप्रसिद्धत्वात् । तथा हि—विवादाध्यासितं विश्वमेककारणपूर्वकम्, एकरूपान्वितत्वात् । घट घटी-सरावोदञ्चनादीनां मृद्रूपान्वितानां यथा मृदेककारणपूर्वकत्वम् । सद्रूपेणान्वितं च निखिलं वस्त्विति । तथाऽऽगमोऽप्यस्ति—

ऊर्णनाभ इवांशूनां चन्द्रकान्त इवाम्भसाम् ।
प्ररोहाणामिव प्लक्षः स हेतुः सर्वजन्मिनाम् ॥ १४ ॥ इति

तदेतन्मदिरारसास्वादगद्गदोदितमिव मदनकोद्रवाद्युपयोगजनितव्यामोहमुग्ध-

---

स्वरूप हैं। 'जो हो चुका तथा जो भविष्यकाल में होगा, वह सब पुरुष ही है, इस प्रकार के आगम वाक्य भी बहुलता से पाए जाते हैं।

श्रुति में भी कहा गया है—

श्लोकार्थ—यह सब ब्रह्म ही है, इसके अतिरिक्त इस जगत् में नाना रूप कुछ भी नहीं है। हम लोग उस ब्रह्म के विवर्त को ही देखते हैं, उसे कोई भी नहीं देखता है ॥ १३ ॥

परम ब्रह्म को ही परमार्थ सत् मानने पर घटादि का भेद कैसे प्रतीत होता है ? यह बात नहीं कहना चाहिए; क्योंकि सब कुछ उस ब्रह्म के विवर्तस्वरूप अवभासित होता है। समस्त भेद उस ब्रह्म के विवर्त हैं, यह बात असिद्ध नहीं है; क्योंकि यह बात प्रमाण से प्रसिद्ध है। वह इस प्रकार है—विवादापन्न विश्व एक कारण पूर्वक है; क्योंकि वह एक रूप से युक्त है। जिस प्रकार घट, घटी, सकोरा, ढक्कन आदि जो कि मिट्टी के रूप से युक्त हैं, वे सब एक मिट्टी रूप कारण पूर्वक हैं। समस्त वस्तु इसी प्रकार सत् रूप से युक्त है। उसी प्रकार आगम भी इसमें प्रमाण है—

श्लोकार्थ—जैसे मकड़ी अपने निकले हुए तन्तुओं का कारण है, चन्द्रकान्तमणि जल का कारण है, जैसे वटवृक्ष अपने से निकलने वाले प्ररोहों का कारण है, उसी प्रकार वह ब्रह्म समस्त प्राणियों का हेतु है ॥ १४ ॥

जैन—यह मदिरा के रस के आस्वादन से उत्पन्न गद्गद् वचनों के समान है अथवा मदनकोद्रव आदि के उपयोग से जनित व्यामोह से मत्त

विलसितमिव निखिलमवभासते; विचारासहत्वात्। तथा हि—यत्प्रत्यक्षसत्ताविषयत्वमभिहितम्, तत्र किं निर्विशेषसत्ताविषयत्वं सविशेषसत्तावबोधकत्वम् वा ? न तावत् पौरस्त्यः पक्षः; सत्तायाः सामान्यरूपत्वात्, विशेषनिरपेक्षतयाऽनवभासनात्, शाबलेयादिविशेषानवभासने गोत्वानवभासनवत्। 'निर्विशेषं हि सामान्यं भवेच्छशविषाणवत्' इत्यभिधानात्। सामान्यरूपत्वं च सत्तायाः सत्सदित्यन्वयबुद्धिविषयत्वेन सुप्रसिद्धमेव। अथ पाश्चात्यः पक्षः कक्षीक्रियते, तदा न परमपुरुषसिद्धिः, परस्परव्यावृत्ताकारविशेषाणामध्यक्षतोऽवभासनात्। यदपि साधनमभ्यधायि प्रतिभासमानत्वं तदपि न साधु; विचारासहत्वात्। तथाहि—प्रतिभासमानत्वं स्वतः परतो वा ? न तावत्स्वतोऽसिद्धत्वात्। परतश्चेद्विरुद्धम्। परतः प्रतिभासमानत्वं हि परं विना नोपपद्यते। प्रतिभासनमात्रमपि न सिद्धिमधिवसति, तस्य तद्विशेषानन्तरीयकत्वात्। तद्विशेषाभ्युपगमे च द्वैतप्रसक्तिः।

हुए मुग्ध पुरुष के वचन विलास के समान प्रतिभासित होता है; क्योंकि यह विचार सह नहीं है। वह इस प्रकार है—जो प्रत्यक्ष सत्ता के विषय के रूप में कहा है, उस वाक्य में क्या सामान्यसत्ता का विषयपना अभीष्ट है या सविशेष सत्ता का अवबोधकपना अभीष्ट है ? प्रथम पक्ष तो बनता नहीं है; क्योंकि सत्ता का सामान्य रूप होता है, वह विशेष की निरपेक्षता से प्रतिभासित नहीं हो सकती, जैसे कि शाबलेय आदि विशेषों के न अवभासने पर गोत्व सामान्य भी प्रतिभासित नहीं होता है। कहा भी गया है—विशेष रहित सामान्य गधे के सींग के समान होता है। सत्ता का सामान्य रूप 'सत् सत्', इस प्रकार अन्वय बुद्धि के विषय के रूप में सुप्रसिद्ध ही है। यदि दूसरा पक्ष अंगीकार किया जाता है तो परम पुरुष की सिद्धि नहीं होती है; क्योंकि परस्पर व्यावृत्त आकार वाले विशेषों का प्रत्यक्ष रूप से अवभासन होता है। प्रतिभासमानत्व रूप जो साधन आपने कहा, वह भी ठीक नहीं है; क्योंकि विचारसह नहीं है। वह इस प्रकार है—प्रतिभासमानपना स्वतः है या परतः ? स्वतः प्रतिभासमानपना नहीं हो सकता है; क्योंकि वह असिद्ध है। परतः प्रतिभासमानपना कहो तो वह विरुद्ध है। परतः प्रतिभासमानत्व दूसरे के बिना नहीं बन सकता। (पदार्थों का स्वतः प्रतिभासन हो तो नेत्र खोलने पर प्रकाश के अभाव में भी स्वतः प्रतिभासन हो। परन्तु ऐसा नहीं है, अतः हेतु की असिद्धता है एकत्व के विरोधी द्वैत का प्रसाधक होने से विरुद्ध है)। ज्ञान सामान्य भी सिद्धि को प्राप्त नहीं होता है; क्योंकि उसका विशेषों के साथ अविनाभाव पाया जाता है। प्रतिभास-

किञ्च—धर्मि-हेतु-दृष्टान्ता अनुमानोपायभूताः प्रतिभासन्ते न वेति ? प्रथमपक्षे प्रतिभासान्तःप्रविष्टाः प्रतिभासबहिर्भूता वा ? यद्याद्यः पक्षस्तदा साध्यान्तःपातित्वान्न ततोऽनुमानम् । तद्बहिर्भावे तैरेव हेतोर्व्यभिचारः । अप्रतिभासमानत्वेऽपि तद्व्यवस्थाभावात्ततो नानुमानमिति ।

अथानाद्यविद्याविजृम्भितत्वात् सर्वमेतदसम्बद्धमित्यनल्पतमोविलसितम्; अविद्यायामप्युक्तदोषानुषङ्गात् । सकलविकल्पविकलत्वात्तस्या नैष दोष इत्यप्यतिमुग्धभाषितम्; केनापि रूपेण तस्याः प्रतिभासाभावे तत्स्वरूपानवधारणात् । अपरमप्यत्र विस्तरेण **देवागमालङ्कारे** चिन्तितमिति नेह प्रतन्यते ।

मान के विशेषों को स्वीकार करने पर द्वैत का प्रसंग प्राप्त होता है ।

दूसरी बात यह है कि अनुमान के उपायभूत धर्मी हेतु और दृष्टान्त प्रतिभासित होते हैं या नहीं ? प्रथम पक्ष मानने पर प्रतिभास के अन्तः प्रविष्ट है या बहिर्भूत हैं यदि आद्य पक्ष हो तो साध्य के अन्दर प्रविष्ट होने से उससे अनुमान नहीं होगा । द्वितीय पक्ष मानने पर उन्हीं के द्वारा प्रतिभासमानत्व हेतु के व्यभिचार आता है । यदि कहा जाय कि अनुमान के उपायभूत वे धर्मी, हेतु, दृष्टान्त प्रतिभासित नहीं होते तो उन धर्मी आदि की व्यवस्था का अभाव होने से उससे अनुमान नहीं होगा ।

ब्रह्माद्वैतवादी—अनादि अविद्या के व्याप्त होने से धर्मी हेतु आदि प्रतीत होते हैं, वे यथार्थ नहीं हैं, असम्बद्ध हैं ।

जैन—ऐसा कहना महान् अज्ञानान्धकार के विलास के समान है; क्योंकि अविद्या के मानने पर भी उक्त दोषों का प्रसंग आता है । (अविद्या प्रतिभासित होती है या प्रतिभासित नहीं होती है ? यदि प्रतिभासित होती है तो प्रतिभास के अन्तःप्रविष्ट है या बहिर्भूत है ? यदि प्रतिभास के अन्तःप्रविष्ट हो तो विद्या ही होगी । यदि प्रतिभास के बहिर्भूत है ? तो उसी हेतु से व्यभिचार और द्वैत की प्राप्ति होती है । यदि प्रतिभासित नहीं होती है तो अविद्या, इस प्रकार व्यवस्था नहीं बनती है) ।

ब्रह्मवादी—अविद्या समस्त विकल्पों से रहित होने से यह दोष नहीं है ।

जैन—यह कहना भी अति मुग्ध पुरुष के कथन के समान है । किसी भी रूप से उस अविद्या के प्रतिभास का अभाव होने पर उसके स्वरूप का निश्चय नहीं हो सकेगा । इस विषय में और भी देवागम स्तोत्र की

यच्च परमब्रह्मविवर्तत्वमखिलभेदानामित्युक्तम्; तत्राप्येकरूपेणान्वितत्वं हेतुरन्वेष्यन्वीयमानद्वयाविनाभावित्वेन पुरुषाद्वैतं प्रतिबध्नातीति स्वेष्टविघातकारित्वाद्विरुद्धः । अन्वितत्वमेकहेतुके घटादौ, अनेकहेतुके स्तम्भ-कुम्भाम्भोरुहादावप्युपलभ्यत इत्यनैकान्तिकश्च ।

किमर्थं चेदं कार्यमसौ विदधाति ? अन्येन प्रयुक्तत्वात्, कृपावशात्, क्रीडावशात्, स्वभावाद्वा ? अन्येन प्रयुक्तत्वे स्वातन्त्र्यहानिर्द्वैतप्रसङ्गश्च । कृपावशादिति नोत्तरम्; कृपायां दुःखिनामकरणप्रसङ्गात् परोपकारकरणनिष्ठत्वात् तस्याः । सृष्टेः प्रागनुकम्पाविषयप्राणिनामभावाच्च न सा युज्यते; कृपापरस्य प्रलयविधानायोगाच्च । अदृष्टवशात्तद्विधाने स्वातन्त्र्यहानिः; कृपापरस्य पीडाकारणादृष्टव्यपेक्षायोगाच्च ।

अलंकार स्वरूप अष्टसहस्री में विचार किया गया है, अतः यहाँ उसका विस्तार नहीं किया जाता है ।

समस्त भेदों को जो कि परम ब्रह्म का विवर्त कहा है, वहाँ पर भी 'एक रूप से अन्वित होना' यह हेतु है। अतः अन्वय सम्बन्ध वाला पुरुष और जिनका अन्वय किया जाय, ऐसे पदार्थ, इन दोनों का अविनाभाव सम्बन्ध होने से वह पुरुषाद्वैत का प्रतिषेध करता है, इस प्रकार अद्वैत का विघात करने वाला होने से विरुद्ध है। अन्वितत्व मिट्टी जिसका एक हेतु है ऐसे घटादि में और जिसके अनेक हेतु हैं ऐसे स्तम्भ, कुम्भ और कमल आदि में पाया जाता है, इस प्रकार अनैकान्तिक हेत्वाभास भी है ।

वह ब्रह्मा किसलिए इस जगत् रचना रूप कार्य को करता है ? अन्य के द्वारा प्रयुक्त होने से, कृपा के वश से, क्रीड़ा के वश से अथवा स्वभाव से ? अन्य के द्वारा प्रयुक्त मानने पर स्वतन्त्रपने की हानि होती है, और द्वैत का प्रसंग भी उपस्थित होता है। यदि कृपा के वश जगत् का निर्माण करता है तो यह कोई उत्तर नहीं है। यदि कृपा है तो दुःखियों की रचना ही नहीं करना चाहिए; क्योंकि कृपा तो एकमात्र परोपकार करने में संलग्न रहती है। सृष्टि के पूर्व अनुकम्पा के विषय प्राणियों के न होने से, वह कृपा सम्भव नहीं है। जो कृपापरायण है, वह प्रलय भी नहीं कर सकता। अदृष्ट (पाप) के वश प्रलय करने पर अथवा पाप पुण्य के वश जगत् का निर्माण करने पर उसके स्वातन्त्र्य की हानि होती है। कृपापरायण ब्रह्मा के पीड़ा के कारणभूत अदृष्ट की अपेक्षा भी नहीं बनती है ।

क्रीडावशात्प्रवृत्तौ न प्रभुत्वम्; क्रीडोपायव्यपेक्षणाद् बालकवत् । क्रीडोपायस्य तत्साध्यस्य च युगपदुत्पत्तिप्रसङ्गश्च । सति समर्थे कारणे कार्यस्यावश्यम्भावात्; अन्यथा क्रमेणापि सा ततो न स्यात् । अथ स्वभावादसौ जगन्निर्मिनोति; यथाऽग्निर्दहति, वायुर्वातीति मतम्; तदपि बालभाषितमेव, पूर्वोक्तदोषानिवृत्तेः । तथाहि—क्रमवर्तिविवर्तजातमखिलमपि युगपदुत्पद्येत; अपेक्षणीयस्य सहकारिणोऽपि तत्साध्यत्वेन यौगपद्यसम्भवात् । उदाहरणवैषम्यं च; वन्ह्यादेः कादाचित्कस्वहेतुजनितस्य नियतशक्त्यात्मकत्वोपपत्तेरन्यत्र नित्य-व्यापि-समर्थैकस्वभावकारणजन्यत्वेन देश-कालप्रतिनियमस्य कार्ये दुरुपपादात् ।

तदेवं ब्रह्मणोऽसिद्धौ वेदानां तत्सुप्त-प्रबुद्धावस्थात्वप्रतिपादनं परमपुरुषाख्य-

---

क्रीड़ा के वश जगत् के निर्माण में प्रवृत्त होता है, ऐसा मानने पर उसके प्रभुता नहीं रहती है, जैसे क्रीड़ा के उपायों की अपेक्षा रखने वाला बालक। क्रीडा का उपाय-जगत् की रचना और क्रीडा के साध्यरूप सुख की एक साथ उत्पत्ति का भी प्रसंग आता है। समर्थ कारण के होने पर कार्य अवश्य होता है, नहीं तो (अर्थात् समर्थ कारण के अभाव में) क्रम से भी वह उत्पत्ति उस ब्रह्म रूप कारण से नहीं होगी। जिसको एक साथ उत्पन्न करने की शक्ति नहीं है, वह कारण क्रम से भी उत्पत्ति नहीं करता है; क्योंकि शक्ति होने पर भी सामर्थ्य का अभाव है। यदि उत्पन्न करता है तो वहाँ पर शक्ति समर्थ कारण है। यदि वह ब्रह्म स्वभाव से जगत् का निर्माण करता है, जैसे अग्नि जलाती है, वायु बहती है, ऐसा माना गया है तो ऐसा कहना भी बालक के वचन के समान है; क्योंकि पूर्वोक्त दोषों की निवृत्ति नहीं होती है। इसी बात को स्पष्ट करते हैं—समस्त ही क्रमवर्ती विवर्तों का समूह युगपत् ही उत्पन्न होना चाहिए; क्योंकि अपेक्षणीय सहकारी कारण भी तत्साध्य है अर्थात् ब्रह्म के द्वारा ही करने योग्य है, अतः सब विवर्तों का युगपत् होना सम्भव है।

"अग्नि जलाती है', इत्यादि उदाहरण भी विषम है; क्योंकि अग्नि आदि कादाचित्क स्वहेतु जनित हैं अर्थात् ईंधन आदि मिल जाय तो जले, न मिले तो न जले। अग्नि की दहनादि की शक्ति प्रतिनियत है, परम ब्रह्म में नित्यपना, सर्वव्यापकपना और सब कार्यों के करने में समर्थ एक स्वभाव रूप कारण से उत्पन्न करने की योग्यता सब जगह और सब समय पायी जाती है। इस प्रकार देश तथा काल का प्रतिनियम सृष्टि रूप कार्य में घटित नहीं होता।

इस प्रकार ब्रह्म की सिद्धि न होने पर वेदों का, उसकी सुप्त, प्रबुद्ध

महाभूतनि श्वसिताभिधानं च गगनारविन्दमकरन्दव्यावर्णनवदनवधेयार्थविषयत्वादुपेक्षामर्हति । यच्चागमः 'सर्वं वै खल्विदं ब्रह्मेत्यादि' 'ऊर्णनाभ इत्यादि' च; तत्सर्वमुक्तविधिनाऽद्वैतविरोधीति नावकाशं लभते । न चापौरुषेय आगमोऽस्तीत्यग्रे प्रपञ्चयिष्यते । तस्मान्न पुरुषोत्तमोऽपि विचारणां प्राञ्चति ।

प्रत्यक्षेतरभेदभिन्नममलं मानं द्विधैवोदितम्,
देवैर्दीप्त गुणैर्विचार्य विधिवत्सङ्ख्याततेः सङ्ग्रहात् ॥
मानानामिति तद्दिगप्यभिहितं श्रीरत्ननन्द्यावयै-
स्तद्व्याख्यानमदो विशुद्धधिषणैर्बोधव्यमव्याहतम् ॥ ७ ॥

मुख्य-संव्यवहाराभ्यां प्रत्यक्षमुपदर्शितम् ।
देवोक्तमुपजीवद्भिः सूरिभिर्ज्ञापितं मया ॥ ८ ॥

इति परीक्षामुखस्य लघुवृत्तौ द्वितीयः समुद्देशः ॥ २ ॥

अवस्था का प्रतिपादन करना, परमपुरुष नाम वाले महाभूत के निःश्वास का कथन करना आकाश कमल के मकरन्द की सुगन्ध के वर्णन करने के समान उपेक्षा के योग्य है ।

जो आपने 'यह सब ब्रह्म है', मकड़ी जैसे जाला बुनती है, इत्यादि आगम प्रमाण दिए हैं, वे सब प्रतिपाद्य प्रतिपादक भाव रूप उक्त विधि से अद्वैत के विरोधी होने से अवकाश को प्राप्त नहीं करते हैं। अपौरुषेय आगम भी नहीं है, इस बात का हम आगे विस्तार से वर्णन करेंगे। इसलिए पुरुषोत्तम भी विचारणा पर नहीं ठहरता है ।

श्लोकार्थ—गुणों से दीप्त श्रीमद्भट्ट अकलङ्कदेव ने विधिवत् विचार कर प्रमाण की संख्याओं के समूह का संग्रह कर प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो भेद रूप निर्दोष प्रमाण का कथन किया है। उसी का दिङ्मात्र (कुछ) वर्णन श्री रत्ननन्दि (माणिक्यनन्दि) आचार्य ने (परीक्षामुख ग्रन्थ में) किया है। उसका यह मुझ अनन्तवीर्य ने व्याख्यान किया है। विशुद्ध बुद्धि वालों को उसे निर्दोष रूप से जानना चाहिए ॥ ७ ॥

श्लोकार्थ—मुख्य और सांव्यवहारिक भेद से प्रत्यक्ष का वर्णन श्री अकलंकदेव ने किया। उसी को सूरि (माणिक्यनन्दि) ने स्वीकार किया। उसकी मुझ अनन्तवीर्य ने व्याख्या की ॥ ८ ॥

इस प्रकार परीक्षामुख की लघुवृत्ति में
द्वितीय समुद्देश समाप्त हुआ ।

तृतीयः समुद्देशः

अथेदानीमुद्दिष्टे प्रत्येक्षेतरभेदेन प्रमाणद्वित्वे प्रथमभेदं व्याख्याय इतरद् व्याचष्टे—

परोक्षमितरत् ॥ १ ॥

उक्तप्रतिपक्षमितरच्छब्दो ब्रूते । ततः प्रत्यक्षादिति लभ्यते, तच्च परोक्षमिति । तस्य च सामग्री-स्वरूपे निरूपयन्नाह—

प्रत्यक्षादिनिमित्तं स्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदम् ॥ २ ॥

प्रत्यक्षादिनिमित्तमित्यत्रादिशब्देन परोक्षमपि गृह्यते । तच्च यथावसरं निरूपयिष्यते । प्रत्यक्षादिनिमित्तं यस्येति विग्रहः । स्मृत्यादिषु द्वन्द्वः । ते भेदा यस्य इति विग्रहः ।

प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से प्रमाण के दो भेदों में से प्रथम भेद की व्याख्या करके इस समय दूसरे भेद की व्याख्या करते हैं—

सूत्रार्थ—प्रत्यक्ष से भिन्न परोक्ष है ॥ १ ॥

इतर शब्द पहले कहे गए प्रमाण के प्रतिपक्ष को कहता है। उस प्रत्यक्ष से भिन्न जो ज्ञान है, वह परोक्ष है, ऐसा अर्थ प्राप्त होता है। उस परोक्ष की (उत्पत्तिकारण रूप) सामग्री और स्वरूप का निरूपण करते हुए कहते हैं—

सूत्रार्थ—प्रत्यक्षादि जिसके निमित्त हैं, ऐसा परोक्ष प्रमाण स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम के भेद से पाँच प्रकार का होता है ॥ २ ॥

प्रत्यक्षादि जिसके निमित्त हैं, यहाँ आदि शब्द से परोक्ष भी ग्रहण किया जाता है। उसका निरूपण यथावसर किया जायगा। 'प्रत्यक्षादि निमित्तं यस्य', यह विग्रह है। स्मृति आदि में द्वन्द्व समास है। ते भेदाः यस्य—वे स्मृति आदिक जिसके भेद हैं, इस प्रकार विग्रह ग्रहण करना चाहिए।

विशेष—स्मृति प्रत्यक्ष पूर्वक होती है, प्रत्यभिज्ञान प्रत्यक्ष और स्मरण पूर्वक होता है, प्रत्यक्ष, स्मरण और प्रत्यभिज्ञान पूर्वक तर्क होता है, प्रत्यक्ष, स्मरण, प्रत्यभिज्ञान और तर्क पूर्वक अनुमान होता है, श्रावण प्रत्यक्ष, स्मृति और संकेत पूर्वक आगम होता है।

तत्र स्मृतिं क्रमप्राप्तां दर्शयन्नाह—

'संस्कारोद्बोधनिबन्धना तदित्याकारा स्मृतिः ॥ ३ ॥

संस्कारस्योद्बोधः प्राकट्यं स निबन्धनं यस्याः सा यथोक्ता। तदित्याकारा तदित्युल्लेखिनी। एवम्भूता स्मृतिर्भवतीति शेषः। उदाहरणमाह—

स देवदत्तो यथा ॥ ४ ॥

प्रत्यभिज्ञानं प्राप्तकालमाह—

दर्शनस्मरणकारणकं सङ्कलनं प्रत्यभिज्ञानम् तदेवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादि ॥ ५ ॥

अत्र दर्शनस्मरणकारणकत्वात् सादृश्यादिविषयस्यापि प्रत्यभिज्ञानत्वमुक्तम्। येषां तु सादृश्यविषयमुपमानाख्यं प्रमाणान्तरं तेषां वैलक्षण्यादिविषयं प्रमाणान्तरमनुषज्येत। तथा चोक्तम्—

उपमानं प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात् साध्यसाधनम्।
तद्वैधर्म्यात्प्रमाणं किं स्यात् सञ्ज्ञिप्रतिपादनम् ॥ १५ ॥

क्रम प्राप्त स्मृति को दिखलाते हुए कहते हैं—

सूत्रार्थ—(धारणा ज्ञान रूप) संस्कार की प्रकटता जिसमें कारण है ऐसे 'तत्' इस प्रकार के आकार वाले ज्ञान को स्मृति कहते हैं ॥ ३ ॥

संस्कार का उद्बोध = प्राकट्य, वह जिसका कारण है, वह स्मृति है। 'तत्' इस आकार अर्थात् उल्लेख वाली स्मृति है। इस प्रकार की स्मृति होती है, यह शेष है। उदाहरण कहते हैं—

सूत्रार्थ—जैसे कि वह देवदत्त ॥ ४ ॥

अब अवसर प्राप्त प्रत्यभिज्ञान का स्वरूप कहते हैं—

सूत्रार्थ—दर्शन और स्मरण जिसमें कारण हैं ऐसे संकलन (अनुभूत पदार्थ का विवक्षित धर्म से सम्बन्ध होने पर अनुसन्धान संकलन है) ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। जैसे—यह वही है, यह उसके समान है, यह उससे विलक्षण है, यह उसका प्रतियोगी है, इत्यादि ॥ ५ ॥

यहाँ पर दर्शन और स्मरण कारण होने से सादृश्य आदि के विषय करने वाले ज्ञान को भी प्रत्यभिज्ञानपना कहा है। जिन नैयायिकादि के यहाँ सादृश्य को विषय करने वाला ज्ञान उपमान नाम से भिन्न प्रमाण माना गया है, उनके वैलक्षण्य आदि को विषय करने वाला अन्य प्रमाण भी मानने का प्रसंग प्राप्त होता है। जैसा कि कहा है—

श्लोकार्थ—यदि प्रसिद्ध पदार्थ की समानता से साध्य के साधन को

इदमल्पं महद् दूरमासन्नं प्रांशु नेति वा।
व्यपेक्षातः समक्षेऽर्थे विकल्पः साधनान्तरम् ॥ १६ ॥

एषां क्रमेणोदाहरणं दर्शयन्नाह—

यथा स एवायं देवदत्तः, गोसदृशो गवयः, गोविलक्षणो महिषः, इदमस्माद् दूरम्, वृक्षोऽयमित्यादि ॥ ६ ॥

आदिशब्देन—

पयोऽम्बुभेदी हंसः स्यात् षट्पादैर्भ्रमरः स्मृतः।
सप्तपर्णस्तु तत्त्वज्ञैर्विज्ञयो विषमच्छदः ॥ १७ ॥
पञ्चवर्णं भवेद् रत्नं मेचकाख्यं पृथुस्तनी।
युवतिश्चैकशृङ्गोऽपि गण्डकः परिकीर्तितः ॥ १८ ॥
शरभोऽष्टभिः पादैः सिंहश्चारुसटान्वितः ॥ १९ ॥

उपमान प्रमाण कहते हैं तो वैधर्म्य से होने वाले साध्य के साधन रूप प्रमाण का नाम क्या होगा ? (यह वृक्ष है, इत्यादि) नामादि रूप संज्ञा वाले संज्ञी पदार्थ के प्रतिपादन करने को कौन सा प्रमाण कहेंगे ? यह इससे अल्प है, यह इससे महान् है, यह इससे दूर है, यह इसके समीप है, यह इससे ऊँचा है, यह इससे नीचा है तथा इसके निषेध रूप अर्थात् यह इससे अल्प नहीं है, यह इससे महान् नहीं है, इत्यादि रूप परस्पर की अपेक्षा से, प्रतिपक्ष की आकांक्षा से अन्य भाव का निश्चय रूप जो ज्ञान होता है, इन सबको पृथक् प्रमाणपत्र प्राप्त होता है। इससे आप लोगों द्वारा मानी हुई प्रमाण संख्या का विघटन हो जाता है ॥ १५-१६ ॥

इन प्रत्यभिज्ञान के भेदों का क्रम से उदाहरण दिखलाते हुए कहते हैं—

सूत्रार्थ—जैसे—यह वही देवदत्त है (एकत्व प्रत्यभिज्ञान), गाय के समान नील गाय होती है (सादृश्य प्रत्यभिज्ञान), गो से विलक्षण भैंसा होता है (वैलक्षण्य प्रत्यभिज्ञान), यह इससे दूर है (तत्प्रतियोगि प्रत्यभिज्ञान), यह वृक्ष है (वृक्ष सामान्य स्मृति रूप प्रत्यभिज्ञान) इत्यादि ॥ ६ ॥

आदि शब्द से—

श्लोकार्थ—दूध और जल का भेद करने वाला हंस होता है, छह पैर का भौंरा माना गया है, तत्त्वज्ञों को सात पत्तों वाला विषमच्छद नामक वृक्ष जानना चाहिये। पाँच वर्णों वाला मेचक नामक रत्न होता है, विशाल स्तन वाली युवती होती है, एक सींग वाला गेंडा कहा जाता है,

इत्येवमादिशब्दश्रवणात् तथाविधानेव मरालादीनवलोक्य तथा सत्यापयति यदा तदा तत्सङ्कलनमपि प्रत्यभिज्ञानमुक्तम्; दर्शनस्मरणकारणत्वाविशेषात्। परेषां तु तत्प्रमाणान्तरमेवोपपद्यते; उपमानादौ तस्यान्तर्भावाभावात्—

अथोहोऽवसरप्राप्त इत्याह—

उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः ॥ ७ ॥
इदमस्मिन् सत्येव भवत्यसति न भवत्येवेति च ॥ ८ ॥

उपलम्भः प्रमाणमात्रमत्र गृह्यते। यदि प्रत्यक्षमेवोपलम्भशब्देनोच्यते तदा साधनेषु अनुमेयेषु व्याप्तिज्ञानं न स्यात्। अथ व्याप्तिः सर्वोपसंहारेण प्रतीयते, सा कथमतीन्द्रियस्य साधनस्यातीन्द्रियेण साध्येन भवेदिति ? नैवम्; प्रत्यक्षविषयेष्विवानुमानविषयेष्वपि व्याप्तेरविरोधात्, तज्ज्ञानस्याप्रत्यक्षत्वाभ्युपगमात्।

आठ पैर वाला अष्टापद होता है और सुन्दर सटा (गर्दन के बाल) से युक्त सिंह होता है ॥ १७-१८-१९ ॥

इत्यादि शब्दों को सुनकर, इसी प्रकार के हंस आदि को देखकर उसी रूप में जब सत्यापित करता है, तब यह संकलन ज्ञान प्रत्यभिज्ञान कहलाता है; क्योंकि दर्शन और स्मरण रूप कारण सब जगह समान हैं। अन्य मतावलम्बियों में तो इन्हें भिन्न-भिन्न प्रमाण मानना पड़ेगा। उपमानादि में इनका अन्तर्भाव नहीं होता है।

अब अवसर प्राप्त ऊह (तर्क) प्रमाण के विषय में कहते हैं—

सूत्रार्थ—अन्वय और व्यतिरेक जिसमें निमित्त हैं, ऐसे व्याप्ति के ज्ञान को ऊह कहते हैं। जैसे—यह साधन रूप वस्तु इस साध्य रूप वस्तु के होने पर ही होती है और साध्य रूप वस्तु के नहीं होने पर नहीं होती है ॥ ७-८ ॥

यहाँ पर उपलम्भ से प्रमाण सामान्य का ग्रहण करना चाहिये। यदि उपलम्भ शब्द से प्रत्यक्ष ही कहा जाता है तो अनुमान के विषयभूत (इस प्राणी में सुख नहीं है; क्योंकि हृदय को शल्य है इस प्रकार के) साधनों में व्याप्ति का ज्ञान नहीं हो सकेगा। यदि कहा जाय कि व्याप्ति तो सर्वदेश और सर्वकाल के उपसंहार से प्रतीत होती है, अतीन्द्रिय हो साधन और अतीन्द्रिय हो साध्य होने पर वह व्याप्ति कैसे जानी जायगी ? तो ऐसा नहीं कहा जाना चाहिये। प्रत्यक्ष के विषयों के समान अनुमान के विषयों में भी व्याप्ति का कोई विरोध नहीं है; क्योंकि अनियत दिग्देश वाली व्याप्ति के ज्ञान को परोक्ष माना गया है।

उदाहरणमाह—

यथाग्नावेव धूमस्तदभावे न भवत्येवेति च ॥ ९ ॥

इदानीमनुमानं क्रमायातमिति तल्लक्षणमाह—

साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम् ॥ १० ॥

साधनस्य लक्षणमाह—

साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुः ॥ ११ ॥

ननु त्रैरूप्यमेव हेतोर्लक्षणम्; तस्मिन् सत्येव हेतोरसिद्धादिदोषपरिहारोपपत्तेः । तथा हि—पक्षधर्मत्वमसिद्धत्वव्यवच्छेदार्थमभिधीयते । सपक्षे सत्त्वं

व्याप्ति ज्ञान रूप तर्क का उदाहरण कहते हैं—

सूत्रार्थ—जैसे अग्नि में ही धूम है। अग्नि के अभाव में धूम नहीं होता है ॥ ९ ॥

इस समय अनुमान क्रमप्राप्त है, अतः उसके लक्षण को कहते हैं—

सूत्रार्थ—साधन से साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते हैं ॥ १० ॥

विशेष—'प्रमाणात् विज्ञानं अनुमानं' अर्थात् प्रमाण से जो ज्ञान होता है, उसे अनुमान कहते हैं, इतना मात्र लक्षण मानने पर अनुमेय आगमादि से व्यभिचार आता है। अतः उसके निवारण के लिए साध्य का विज्ञान अनुमान है, ऐसा कहा है। तथापि प्रत्यक्ष से व्यभिचार आता है, अतः उसके निवारण के लिए साधन से साध्य के ज्ञान को अनुमान कहा है।

साधन का लक्षण कहते हैं—

सूत्रार्थ—साध्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध होने के कारण हेतु निश्चित होता है। अर्थात् जो साध्य के बिना न हो उसे साधन कहते हैं ॥ ११ ॥

बौद्ध—(पक्षधर्मत्व, सपक्ष सत्त्व और विपक्ष से व्यावृत्ति रूप) त्रैरूप ही हेतु का लक्षण हो। त्रैरूप्य के होने पर ही हेतु के असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक दोषों का परिहार हो सकता है। पक्षधर्मत्व असिद्ध के निराकरण के लिए कहा जाता है। (शब्द अनित्य है, चाक्षुष होने से, यहाँ पक्ष धर्मत्व नहीं है। चाक्षुष होने से, यह हेतु पक्ष भूत शब्द में वर्तमान न होने से, यह हेतु असिद्ध है। इस असिद्ध हेतु के निवारण के लिए पक्ष में होना, यह कहा है)। सपक्ष में होना विरुद्ध

तु विरुद्धत्वापनोदार्थम्। विपक्षे चासत्त्वमेवानैकान्तिक-व्युदासार्थमिति। तदुक्तम्—

हेतोस्त्रिष्वपि रूपेषु निर्णयस्तेन वर्णितः।
असिद्धविपरीतार्थव्यभिचारिविपक्षितः ॥ २० ॥

तदयुक्तम्; अविनाभावनियमनिश्चयादेव दोषत्रयपरिहारोपपत्तेः। अविनाभावो ह्यन्यथानुपपन्नत्वम्। तच्चासिद्धस्य न सम्भवत्येव, 'अन्यथानुपपन्नत्वमसिद्धस्य न सिद्धयति इत्यभिधानात्। नापि विरुद्धस्य तल्लक्षणत्वोपपत्तिर्विपरीतनिश्चिताविनाभाविनि यथोक्तसाध्याविनाभावनियमलक्षणस्यानुपपत्तेर्विरोधात्। व्यभिचारिण्यपि न प्रकृतलक्षणावकाशस्तत एव ततोऽन्यथानुपपत्तिरेव

हेतु के निराकरण के लिए है। (शब्द नित्य है; क्योंकि कृतक है, यहाँ पर सपक्ष में असत्त्व है। कृतकता नित्यता की विरोधी अनित्यता से व्याप्त है। अतः हेतु के साध्य के अभाव के समान होने से विरुद्ध हेतु है। अतः विरुद्ध दोष के परिहार के लिए सपक्ष में होना कहा है)। विपक्ष में न होना अनैकान्तिक हेतु के निराकरण के लिए कहा गया है। (शब्द नित्य है; क्योंकि प्रमेय है। यहाँ पर विपक्ष से व्यावृत्ति नहीं है। प्रमेयता रूप हेतु पक्ष भूत शब्द तथा सपक्ष रूप आकाशादि में होने पर भी नित्यत्व के विरोधी घटादि में भी पाए जाने से अनैकान्तिक हेतु है; क्योंकि हेतु पक्ष तथा सपक्ष में होने पर भी विपक्ष से व्यावृत्त नहीं है। अतः अनैकान्तिक हेत्वाभास के निराकरण के लिए विपक्ष से व्यावृत्ति आवश्यक है)। जैसा कि कहा गया है—

श्लोकार्थ—हेतु के तीन रूपों में ही निर्णय का वर्णन किया गया है। क्योंकि पक्षधर्मत्व असिद्ध दोष का प्रतिपक्षी है, सपक्षसत्त्व विरुद्ध दोष का प्रतिपक्षी है, विपक्ष व्यावृत्ति व्यभिचारी (अनैकान्तिक दोष) का प्रतिपक्षी है ॥ २० ॥

जैन—यह कहना ठीक नहीं है। अविनाभावनियम के निश्चय से ही तीनों दोषों का परिहार हो जाता है। अन्यथानुपपन्नत्व को अविनाभाव कहते हैं। अन्यथानुपपन्नत्व असिद्ध के सम्भव नहीं होता है। अन्यथानुपपन्नत्व असिद्ध हेतु के सिद्ध नहीं होता है, ऐसा कहा गया है। विरुद्ध हेतु के भी अन्यथानुपपन्नत्व सिद्ध नहीं होता है; क्योंकि साध्य से विपरीत पदार्थ के साथ निश्चित अविनाभावी हेतु में यथोक्त साध्याविना भावी

---

१. अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ॥ १ ॥

श्रेयसी, न त्रिरूपता; तस्यां सत्यामपि यथोक्तलक्षणाभावे हेतोर्गमकत्वादर्शनात्। तथा हि—स, श्यामस्तत्पुत्रत्वादितरतत्पुत्रवत् इत्यत्र त्रैरूप्यसम्भवेऽप्यगमकत्वमुपलक्ष्यते।

अथ विपक्षाद् व्यावृत्तिर्नियमवती तत्र न दृश्यते, ततो न गमकत्वमिति। तदपि मुग्धविलसितमेव, तस्या एवाविनाभावरूपत्वात्। इतररूपसद्भावेऽपि तदभावे हेतोः स्वसाध्यसिद्धिं प्रति गमकत्वानिष्टौ सैव प्रधानं लक्षणमक्षूणमुपलक्षणीयमिति। तत्सद्भावे चेतररूपद्वयनिरपेक्षतया गमकत्वोपपत्तेश्च।

यथा सन्त्यद्वैतवादिनोऽपि प्रमाणानीष्टानिष्टसाधनदूषणान्यथानुपपत्तेः। न चात्र पक्षधर्मत्वं सपक्षान्वयो वास्ति; केवलमविनाभावमात्रेण गमकत्वप्रतीतेः। यदप्युक्तं परैः—पक्षधर्मताऽभावेऽपि 'काकस्य काष्णर्याद्धवलः प्रासादः' इत्यस्यापि

निश्चित लक्षण के पाये जाने का विरोध है। व्यभिचारी हेतु में भी अन्यथानुपपत्ति रूप लक्षण के रहने का अवकाश नहीं है। यथोक्त साध्याविनाभावनियम लक्षण के न बनने से तीनों दोषों का परिहार करने वाली अन्यथानुपपत्ति ही श्रेयस्कर है, त्रैरूप्य श्रेयस्कर नहीं है। त्रैरूप्य के होने पर भी यथोक्त अविनाभाव लक्षण के अभाव में (क्योंकि साध्य के प्रति अविनाभाव सम्बन्ध रखने वाला हेतु निश्चित होता है) हेतु के गमकता नहीं देखी जाती है। जैसे कि—वह श्याम है; क्योंकि उसका पुत्र है, दूसरे पुत्रों के समान यहाँ पर त्रैरूप्य सम्भव होने पर भी गमकपना नहीं देखा जाता है।

यदि कहा जाय कि विपक्ष से व्यावृत्ति नियम वाली नहीं दिखाई देती है अतः तत्पुत्रत्व हेतु गमक नहीं है, यह कहना भी मुग्ध पुरुष के विलास के समान है, क्योंकि उस विपक्ष-व्यावृत्ति का नाम ही अविनाभाव है इतर रूपों के सद्भाव होने पर भी विपक्ष व्यावृत्ति के अभाव में हेतु के अपने साध्य की सिद्धि के प्रति गमकपना नहीं है, अतएव साध्य के साथ अविनाभाव वाली विपक्ष व्यावृत्ति को ही हेतु का निर्दोष लक्षण प्रतिपादन करना चाहिए, क्योंकि उसके सद्भाव में अन्य दो रूपों की निरपेक्षता से भी हेतु की साध्य के प्रति गमकता बन जाती है।

अद्वैतवादियों के यहाँ भी प्रमाण हैं, अन्यथा इष्ट का साधन और अनिष्ट का दूषण नहीं बन सकता। इस अनुमान में पक्षधर्मत्व और सपक्षसत्व नहीं है। केवल अविनाभाव मात्र से गमकत्व की प्रतीति होती है।

जो कि बौद्धादिकोंने कहा है—पक्षधर्मता के अभाव में भी 'कौए के कालेपन से महल सफेद है', यहाँ पर कौए रूप हेतु के महल के सफेदरूप

गमकत्वापत्तिरिति, तदप्यनेन निरस्तम्, अन्यथानुपपत्तिबलेनैवापक्षधर्मस्यापि साधुत्वाभ्युपगमात् । न चेह साऽस्ति । ततोऽविनाभाव एव हेतोः प्रधानं लक्षणमभ्युपगन्तव्यम्; तस्मिन् सत्यसति त्रिलक्षणत्वेपि हेतोर्गमकत्वदर्शनात् । इति न त्रैरूप्यं हेतुलक्षणम्, अव्यापकत्वात् । सर्वेषां क्षणिकत्वे साध्ये सत्त्वादेः साधनस्य सपक्षेऽसतोऽपि स्वयं सौगतैर्गमकत्वाभ्युपगमात् ।

एतेन पञ्चलक्षणत्वमपि यौगपरिकल्पितं न हेतोरुपपत्तिमियर्तीत्यभिहितं बोद्धव्यम् । पक्षधर्मत्वे सत्यन्वयव्यतिरेकावबाधितविषयत्वमसत्प्रतिपक्षत्वं चेति पञ्च लक्षणानि, तेषामप्यविनाभावप्रपञ्चत्वेव बाधितविषयस्याविनाभावायोगात्; सत्प्रतिपक्षस्येवेति, साध्याभासविषयत्वेनासम्यग्धेतुत्वाच्च, यथोक्तपक्षविषयत्वाभावात्तद्दोषेणैव दुष्टत्वात् । अतः स्थितम्—साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुरिति ।

साध्य के गमकता की प्राप्ति होगी । इसका भी निराकरण अन्यथानुपपत्ति नामक एक लक्षण के द्वारा कर दिया, क्योंकि अन्यथानुपपत्ति के बल से ही पक्ष में नहीं रहने वाले भी हेतु के साधुता स्वीकार की गई है । कौए की कालिमा से महल सफेद है, यहाँ पर वह अन्यथानुपपत्ति नहीं है । अतः अविनाभाव ही हेतु का प्रधान लक्षण मानना चाहिए । (अतः कार्य-कारण भाव अन्वयव्यतिरेक से ही प्राप्त है, यह बात प्राप्त हुई) । त्रिलक्षण चाहे हो अथवा न हो, यदि अविनाभाव है तो हेतु गमक दिखाई देता है । इस प्रकार अव्यापक होने के कारण त्रैरूप्य हेतु का लक्षण नहीं है । क्षणिकत्व साध्य होने पर सत्त्वादि साधन सपक्ष में न रहने पर भी स्वयं बौद्धों ने गमकता मानी है ।

त्रैरूप्य के निराकरण के द्वारा यौग के द्वारा परिकल्पित पञ्चलक्षणत्व भी हेतुपने को प्राप्त नहीं होता है । पक्षधर्मत्व के होने पर अन्वय (सपक्ष में होना), व्यतिरेक (विपक्ष से व्यावृत्ति) अबाधित विषयत्व और असत्प्रतिपक्ष ये पाँच लक्षण अविनाभाव के ही विस्तार हैं; क्योंकि बाधित विषय के अविनाभाव का योग नहीं है । जैसे कि सत्प्रतिपक्ष के अविनाभाव सम्भव नहीं है । साध्याभास को विषय करने से हेतु असम्यक् भी है, क्योंकि वह अविनाभाव रूप पक्ष को विषय नहीं करता है, अतः वह पक्ष के दोष से ही दुष्ट है । अतः यह बात सिद्ध हुई कि जिसका साध्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध निश्चित हो, वही हेतु होता है ।

इदानीमविनाभावभेदं दर्शयन्नाह—

सहक्रमभावनियमोऽविनाभावः ॥ १२ ॥

तत्र सहभावनियमस्य विषयं दर्शयन्नाह—

सहचारिणोर्व्याप्यव्यापकयोश्च सहभावः १३ ॥

सहचारिणो रूप-रसयोर्व्याप्यव्यापकयोश्च वृक्षत्वशिंशपात्वयोरिति । सप्तम्या विषयो निर्दिष्टः ।

क्रमभावनियमस्य विषयं दर्शयन्नाह—

पूर्वोत्तरचारिणोः कार्यकारणयोश्च क्रमभावः ॥ १४ ॥

पूर्वोत्तरचारिणोः कृत्तिकोदय-शकटोदययोः कार्यकारणयोश्च धूम-धूमध्वजयोः क्रमभावः ।

नन्वेवम्भूतस्याविनाभावस्य न प्रत्यक्षेण ग्रहणम्; तस्य सन्निहितविषयत्वात् । नाप्यनुमानेन; प्रकृतापरानुमानकल्पनायामितरेतराश्रयत्वानवस्थावतारात् । आगमा-

---

अब अविनाभाव के भेदों को दिखलाते हुए कहते हैं ।

सूत्रार्थ—सहभावनियम और क्रमभावनियम को अविनाभाव कहते हैं ॥ १२ ॥

इनमें से सहभावनियम के विषय को दिखलाते हुए कहते हैं—

सूत्रार्थ—सहचारी और व्याप्य-व्यापक पदार्थों में सहभावनियम होता है ॥ १३ ॥

सहभावनियम के उदाहरण—सहचारी रूप और रस व्याप्य और व्यापक वृक्षत्व और शिंशपात्व । सूत्र में सप्तमी विभक्ति के द्वारा विषय निर्दिष्ट है ।

क्रमभावनियम का विषय दिखलाते हुए कहते हैं—

सूत्रार्थ—पूर्व और उत्तरचर में तथा कार्य और कारण में क्रमभाव नियम होता है ॥ १४ ॥

पूर्वचर और उत्तरचर कृत्तिकोदय-शकटोदय तथा कार्य-कारण धूम और अग्नि में क्रमभाव होता है ।

शंका—इस प्रकार के अविनाभाव का प्रत्यक्ष से ग्रहण नहीं होता है; क्योंकि उसका विषय सन्निहित पदार्थ होता है । अनुमान से भी अविनाभाव का ग्रहण नहीं होता है । अनुमान से यदि अविनाभाव का ग्रहण हो तो प्रकृत अनुमान से अविनाभाव का ग्रहण होता है या अन्य अनुमान से ? यदि प्रकृत अनुमान से अविनाभाव का ग्रहण हो तो इतरेतराश्रय दोष

देरपि भिन्नविषयत्वेन सुप्रसिद्धत्वान्न ततोऽपि तत्प्रतिपत्तिरित्यारेकायामाह—

तर्कात्तन्निर्णयः ॥ १५ ॥

तर्काद् यथोक्तलक्षणाद्ऊहात्तन्निर्णय इति ।

अथेदानीं साध्यलक्षणमाह—

इष्टमबाधितमसिद्धं साध्यम् ॥ १६ ॥

अत्रापरे दूषणमाचक्षते—आसन-शयन-भोजन-यान-निधुवनादेरपीष्टत्वात्तदपि साध्यमनुषज्यत इति । तेऽप्यतिबालिशाः, अप्रस्तुतप्रलापित्वात् । अत्र हि साधनमधिक्रियते, तेन साधनविषयत्वेनेप्सितमिष्टमुच्यते ।

इदानीं स्वाभिहितसाध्यलक्षणस्य विशेषणानि सफलयन्नसिद्धविशेषणं समर्थयितुमाह—

सन्दिग्धविपर्यस्ताव्युत्पन्नानां साध्यत्वं यथा स्यादित्यसिद्धपदम्। १७

आता है। अविनाभाव का ज्ञान होने पर अनुमान आत्मलाभ करे और अनुमान के आत्मलाभ करने पर अविनाभाव का ज्ञान हो। यदि अन्य अनुमान से अविनाभाव का निश्चय हो तो उसके भी अविनाभाव का ग्रहण अन्य अनुमान से होगा। इस प्रकार अनवस्था दोष हो जायगा। आगमादि का भी भिन्न विषय सुप्रसिद्ध ही है, उससे भी अविनाभाव का ज्ञान नहीं होगा। इस प्रकार की शंका होने पर कहते हैं—

सूत्रार्थ—तर्क से अविनाभाव का निर्णय होता है ॥ १५ ॥

जिसका लक्षण पहले कहा जा चुका है, ऐसे ऊह या तर्क से अविनाभाव का निर्णय होता है।

अब साध्य का लक्षण कहते हैं—

सूत्रार्थ—इष्ट, अबाधित और असिद्ध पदार्थ को साध्य कहते हैं॥ १६॥

साध्य के लक्षण में नैयायिक दूषण देते हैं—आसन, शयन, भोजन, यान, मैथुनादिक भी इष्ट हैं अतः उनके भी साध्यपने का प्रसंग आता है? ऐसा कहने वाले भी अत्यन्त मूर्ख हैं; क्योंकि वे अप्रस्तुत प्रलापी हैं। यहाँ पर साधन का अधिकार है। अतः साधन के विषय रूप से इच्छित वस्तु को ही इष्ट कहा गया है।

अब अपने द्वारा कहे हुए साध्य के लक्षण के विशेषणों की सफलता बतलाते हुए असिद्ध विशेषण का समर्थन करने के लिए कहते हैं—

सूत्रार्थ—संदिग्ध, विपर्यस्त और अव्युत्पन्न पदार्थों के साध्यत्व जिस प्रकार से हो, अतः साध्य के लक्षण में असिद्ध पद दिया है ॥ १७ ॥

तत्र सन्दिग्धं स्थाणुर्वा पुरुषो वेत्यनवधारणेनोभयकोटिपरामर्शिसंशयाकलितं वस्तु उच्यते। विपर्यस्तं तु विपरीतावभासिविपर्ययज्ञानविषयभूतं रजतादिः। अव्युत्पन्नं तु नामजातिसंख्यादिविशेषापरिज्ञानेनानिर्णीतविषयानध्यवसायग्राह्यम्। एषां साध्यत्वप्रतिपादनार्थमसिद्धपदोपादानमित्यर्थः।

अधुनेष्टाबाधितविशेषणद्वयस्य साफल्यं दर्शयन्नाह—

अनिष्टाध्यक्षादिबाधितयोः साध्यत्वं मा भूदितीष्टाबाधित-वचनम् ॥ १८ ॥

अनिष्टो मीमांसकस्यानित्यः शब्दः, प्रत्यक्षादिबाधितश्चाश्रावणत्वादिः। आदिशब्देनानुमानागम-लोक स्ववचनबाधितानां ग्रहणम्। तदुदाहरणं चाकिञ्चि-

---

यह ठूँठ है, या पुरुष है, इस प्रकार कुछ भी निश्चय न होने से उभयकोटि का परामर्श करने वाले संशय से युक्त वस्तु संदिग्ध कहलाती है। विपरीत वस्तु का निश्चय करने वाले विपर्यय ज्ञान के विषयभूत (सीप में) चाँदी आदि पदार्थ विपर्यस्त हैं। अव्युत्पन्न से नाम, जाति, संख्या आदि का विशेष परिज्ञान न होने से अनिर्णीत विषय वाले अनध्यवसाय ज्ञान से ग्राह्य पदार्थ को अव्युत्पन्न कहते हैं। सन्दिग्धादि के साध्यत्व के प्रतिपादन करने के लिए असिद्ध पद का ग्रहण किया है।

अब इष्ट और अबाधित दो विशेषणों की सफलता को दिखलाते हुए कहते हैं—

सूत्रार्थ—अनिष्ट और प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित पदार्थों के साध्यपना न माना जाय, इसलिए इष्ट और अबाधित दो विशेषणों का ग्रहण किया है॥ १८॥

मीमांसक के लिए शब्द को अनित्य कहना अनिष्ट है। शब्द को अश्रावण कहना प्रत्यक्षादि से बाधित है। आदि शब्द से अनुमान बाधित (शब्द अपरिणामी है; क्योंकि वह कृतक है, घट के समान), आगम बाधित (धर्म परलोक में सुखप्रद नहीं है; क्योंकि पुरुष के आश्रित है, अधर्म के समान), लोक बाधित (मनुष्य का शिरःकपाल पवित्र है; क्योंकि वह प्राणी का अंग है, शंख और सीप के समान), स्ववचन बाधित (मेरी माता वन्ध्या है; क्योंकि पुरुष का संयोग होने पर गर्भ धारण नहीं करती है, जैसे प्रसिद्ध वन्ध्या) का ग्रहण होता है। इनके उदाहरण

स्करस्य हेत्वाभासस्य निरूपणावसरे स्वयमेव ग्रन्थकारः प्रपञ्चयिष्यतीत्युपरम्यते ।

तत्रासिद्धपदं प्रतिवाद्यपेक्षयैव, इष्टपदं तु वाद्यपेक्षयेति विशेषमुपदर्शयितुमाह—

न चासिद्धवदिष्टं प्रतिवादिनः ॥ १९ ॥

अयमर्थः—न हि सर्वं सर्वापेक्षया विशेषणम्, अपि तु किंचित् कमप्युद्दिश्य भवतीति । असिद्धवदिति व्यतिरेकमुखेनोदाहरणम् । यथा—असिद्धं प्रतिवाद्यपेक्षया, न तथेष्टमित्यर्थः ।

कुत एतदित्याह—

प्रत्यायनाय होच्छा वक्तुरेव ॥ २० ॥

इच्छायाः खलु विषयीकृतमिष्टमुच्यते । प्रत्यायनाय हीच्छा वक्तुरेवेति ।

अकिञ्चित्कर हेत्वाभास के निरूपण के अवसर पर स्वयं ही ग्रन्थकार विस्तार से कहेंगे, अतः विराम लेते हैं ।

तीनों के मध्य में असिद्ध पद प्रतिवादी की अपेक्षा ही ग्रहण किया है, इष्ट पद वादी की अपेक्षा ग्रहण किया है, ऐसा भेद प्रदर्शित करने के लिए कहते हैं—

सूत्रार्थ—असिद्ध के समान इष्ट विशेषण प्रतिवादी की अपेक्षा से नहीं है ॥ १९ ॥

यह अर्थ है—सभी विशेषण सभी की अपेक्षा से नहीं होते हैं, अपितु कोई विशेषण किसी की अपेक्षा होता है और कोई किसी की अपेक्षा होता हैं अर्थात् कोई विशेषण वादी की अपेक्षा होता है, कोई प्रतिवादी की अपेक्षा से होता है । 'असिद्ध के समान' यह व्यतिरेक मुख से उदाहरण दिया गया है । जैसे असिद्ध विशेषण प्रतिवादी की अपेक्षा कहा गया, वह उस प्रकार से इष्ट नहीं है अर्थात् असिद्ध विशेषण वादी की अपेक्षा कहा गया है ।

यह कैसे ? इसके विषय में कहते हैं—

सूत्रार्थ—दूसरे को प्रतिबोधित करने के लिए इच्छा वक्ता की ही होती है ॥ २० ॥

इच्छा का विषयभूत पदार्थ इष्ट कहलाता है । दूसरों को प्रतिबोधित करने की इच्छा वक्ता की ही होती है ।

तच्च साध्यं धर्मः किं वा तद्विशिष्टो धर्मीति प्रश्ने तद्भेदं दर्शयन्नाह—

साध्यं धर्मः क्वचित्तद्विशिष्टो वा धर्मी ॥ २१ ॥

सोपस्काराणि वाक्यानि भवन्ति । ततोऽयमर्थो लभ्यते—व्याप्तिकालापेक्षया तु साध्यं धर्मः । क्वचित्प्रयोगकालापेक्षया तु तद्विशिष्टो धर्मी साध्यः ।

अस्यैव धर्मिणो नामान्तरमाह—

पक्ष इति यावत् ॥ २२ ॥

ननु धर्म-धर्मिसमुदायः पक्ष इति पक्षस्वरूपस्य पुरातनैर्निरूपितत्वाद्धर्मिणस्तद्वचने कथं न सिद्धान्तविरोध इति ? नैवम्; साध्यधर्माधारतया विशेषितस्य धर्मिणः पक्षत्ववचनेऽपि दोषानवकाशात् । रचनावैचित्र्यमात्रेण तात्पर्यस्यानिराकृतत्वात् सिद्धान्ताविरोधात् ।

अत्राहं सौगतः—भवतु नाम धर्मी पक्षव्यपदेशभाक्; तथापि सविकल्पकबुद्धौ परिवर्तमान एव, न वास्तवः । सर्वं एवानुमानानुमेयव्यवहारो बुद्ध्यारूढेन धर्म-

---

वह साध्य क्या धर्म होता है अथवा धर्म विशिष्ट धर्मी, ऐसा प्रश्न होने पर उसका भेद दिखाते हुए कहते हैं—

सूत्रार्थ—कहीं पर धर्म साध्य होता है और कहीं पर धर्म विशिष्ट धर्मी ॥ २१ ॥

वाक्य अध्याहार सहित होते हैं । अतः यह अर्थ प्राप्त होता है—व्याप्तिकाल की अपेक्षा तो साध्य धर्म होता है । कहीं पर प्रयोगकाल की अपेक्षा धर्म से विशिष्ट धर्मी साध्य होता है ।

इसी धर्मी का दूसरा नाम कहते हैं—

सूत्रार्थ—उस धर्मी को पक्ष कहते हैं ॥ २२ ॥

शङ्का—धर्म और धर्मी के समुदाय को पक्ष कहते हैं, ऐसा पक्ष का स्वरूप अकलंक देवादि ने निरूपित किया है । धर्मी को ही पक्ष कहने पर सिद्धान्त से विरोध कैसे नहीं होगा ?

समाधान—ऐसा नहीं कहना चाहिए; क्योंकि साध्यधर्म के आधार से विशेषित धर्मी को पक्ष कहने पर भी दोष का अवकाश नहीं है । धर्म-धर्मी समुदाय पक्ष है, इस प्रकार रचना के वैचित्र्य मात्र से ही तात्पर्य का निराकरण नहीं किए जाने से सिद्धान्त का विरोध नहीं आता है ।

बौद्ध—धर्मी पक्ष नाम को भले ही पाये, तथापि सविकल्पबुद्धि में ही वर्तमान है, वास्तविक नहीं । (जैसे—केशोण्डुक ज्ञान) । समस्त ही अनुमान-अनुमेय का व्यवहार विकल्पबुद्धि से गृहीत धर्म-धर्मी के न्याय से होता

धर्मिन्यायेन न बहिः सदसत्त्वमपेक्षते इत्याभिधानादिति तन्निरासार्थमाह—

प्रसिद्धो धर्मी ॥ २३ ॥

अयमर्थः—नेयं विकल्पबुद्धिर्बहिरन्तर्वाऽनाद्यालम्बनभावा धर्मिणं व्यवस्थापयति, तदवास्तवत्वेन तदाधारसाध्य-साधनयोरपि वास्तवत्वानुपपत्तेस्तद्बुधेः पारम्पर्येणापि वस्तुव्यवस्थानिबन्धनत्वायोगात्। ततो विकल्पेनान्येन वा व्यवस्थापितः पर्वतादिविषयभावं भजन्नेव धर्मिता प्रतिपद्यत इति स्थितं प्रसिद्धो धर्मीति। तत्प्रसिद्धिश्च क्वचिद्विकल्पतः क्वचित्प्रमाणतः क्वचिच्चोभयत इति नैकान्तेन विकल्पारूढस्य प्रमाणप्रसिद्धस्य वा धर्मित्वम्।

ननु धर्मिणो विकल्पात्प्रतिपत्तौ किं तत्र साध्यमित्याशङ्कायामाह—

विकल्पसिद्धे तस्मिन् सत्तेतरे साध्ये ॥ २४ ॥

है, वह बाह्य सत् या असत् की अपेक्षा नहीं करता है, ऐसा कहा गया है।

उपर्युक्त मत के निराकरण के लिए कहते हैं—

सूत्रार्थ—धर्मी प्रसिद्ध होता है ॥ २३ ॥

इसका अर्थ यह है—विषयभाव को प्राप्त किए बिना यह विकल्पबुद्धि धर्मी को व्यवस्थापित नहीं करती है; क्योंकि उस धर्मी के अवास्तविक होने से, उसके आधारभूत साध्य और साधन के भी वास्तविकता नहीं बन सकती है, इसलिए अनुमान बुद्धि के परम्परा से (धूम सामान्य से अग्नि सामान्य, उससे धूम विकल्प, उससे अग्नि का विकल्प, अनन्तर धूम स्वलक्षण, उससे अग्नि स्वलक्षण का निश्चय होता है, इस प्रकार परम्परा से वस्तु व्यवस्था के कारणपने का अयोग है। अनन्तर विकल्पबुद्धि से अथवा अन्य प्रमाण से निर्णीत पर्वतादिविषय भावको स्वीकार करते हुए ही धर्मीपने को प्राप्त हो सकता है, इस प्रकार यह बात सिद्ध हुई कि धर्मी प्रसिद्ध होता है। उसकी प्रसिद्धि कहीं विकल्प से, कहीं प्रमाण, कहीं विकल्प और प्रमाण से होती है। इस प्रकार यह कोई एकान्त नहीं है कि केवल विकल्प से गृहीत अथवा प्रमाण से प्रसिद्ध पदार्थ के धर्मीपना हो।

भाट्ट—धर्मी की विकल्प से प्रतिपत्ति मानने पर वहाँ साध्य क्या है? भाट्ट की ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

सूत्रार्थ—उस विकल्प सिद्ध धर्मी में सत्ता और असत्ता ये दोनों ही साध्य हैं ॥ २४ ॥

तस्मिन् धर्मिणि विकल्पसिद्धे सत्ता च तदपेक्षयेतराऽसत्ता च ते द्वेऽपि साध्ये; सुनिर्णीतासम्भवद्बाधकप्रमाणबलेन योग्यानुपलब्धिबलेन चेति शेषः।

अत्रोदाहरणमाह—

अस्ति सर्वज्ञो नास्ति खरविषाणम् ॥ २५ ॥

सुगमम्।

ननु धर्मिण्यसिद्धसत्ताके भावाभावोभयधर्माणामसिद्धविरुद्धानैकान्तिकत्वादनुमानविषयत्वायोगात् कथं सत्तेतरयोः साध्यत्वम् ? तदुक्तम्

असिद्धो भावधर्मश्चेद् व्यभिचार्युभयाश्रितः।
विरुद्धो धर्मोऽभावस्य सा सत्ता साध्यते कथम् ॥ २१ ॥ इति

तदयुक्तम्; मानसप्रत्यक्षे भावरूपस्यैव धर्मिणः प्रतिपन्नत्वात्। न च तत्सिद्धौ तत्सत्त्वस्यापि प्रतिपन्नत्वाद् व्यर्थमनुमानम्; तदभ्युपेतमपि वैय्यात्याद्यदा परो

उस धर्मी के विकल्प सिद्ध होने पर सत्ता और उसको अपेक्षा दूसरी असत्ता ये दोनों ही साध्य हैं। सुनिश्चित असम्भव बाधक प्रमाण के बल से सत्ता साध्य है और योग्य की अनुपलब्धि के बल से असत्ता साध्य है।

यहाँ पर उदाहरण कहते हैं—

सूत्रार्थ—सर्वज्ञ है, खरविषाण (गधे का सींग) नहीं है ॥ २५ ॥

यह सूत्र सुगम है।

मीमांसक—जिसकी सत्ता असिद्ध है ऐसे धर्मी के होने पर भाव और अभाव उभय धर्मों के असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिकपने के कारण अनुमान के विषयपने का योग न होने सत्ता और असत्ता में साध्यपना कैसे है ? जैसा कि कहा गया है।

श्लोकार्थ—सुनिश्चितासम्भव बाधक प्रमाणत्व हेतु सर्वज्ञ का भावरूप धर्म है तो सर्वज्ञ के समान हेतु भी असिद्ध है। (कौन व्यक्ति ऐसा होगा जो सर्वज्ञ के भाव रूप धर्म को इच्छा करता हुआ सर्वज्ञ को ही न चाहे)। यदि अभाव रूप धर्म है तो वह विरुद्ध है। (क्योंकि सर्वज्ञ के अभाव रूप धर्म से सर्वज्ञ के नास्तित्व की ही सिद्धि होगी)। हेतु यदि सर्वज्ञ का भाव और अभाव रूप धर्म है तो व्यभिचारी हेतु है; (क्योंकि सपक्ष और विपक्ष में विद्यमान है) वह सर्वज्ञ की सत्ता कैसे सिद्ध कर सकता है ॥२१॥

जैन—आपका यह कहना अयुक्त है; क्योंकि मानस प्रत्यक्ष में भावरूप ही धर्मी (सर्वज्ञ) प्रसिद्ध है। ऐसा भी नहीं कह सकते हैं कि सर्वज्ञ की सिद्धि होने पर उसका सत्त्व रूप धर्म भी प्रसिद्ध होगा, अतः अनुमान

न प्रतिपद्यते तदाऽनुमानस्य साफल्यात्। न च मानसज्ञानाद् गगनकुसुमादेरपि सद्भावसम्भावनाऽतीऽतिप्रसङ्गः; तज्ज्ञानस्य बाधकप्रत्ययव्यपाकृतसत्ताकवस्तुविषयतया मानसप्रत्यक्षाभासत्वात्। कथं तर्हि तुरगशृङ्गादेर्धर्मित्वमिति न चोद्यम्; धर्मिप्रयोगकाले बाधकप्रत्ययानुदयात्सत्त्वसम्भावनोपपत्तेः। न च सर्वज्ञादौ साधकप्रमाणासत्त्वेन सत्त्वं प्रति संशीतिः, सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वेन सुखादाविव सत्त्वनिश्चयात्तत्र संशयायोगात्।

इदानीं प्रमाणोभयसिद्धे धर्मिणि किं साध्यमित्याशङ्कायामाह—

प्रमाणोभयसिद्धे तु साध्यधर्मविशिष्टता ॥ २६ ॥

'साध्ये' इतिशब्दः प्राक् द्विवचनान्तोऽप्यर्थवशादेकवचनान्ततया सम्बध्यते प्रमाणं चोभयं च विकल्पप्रमाणद्वयम्, ताभ्यां सिद्धे धर्मिणि साध्यधर्मविशिष्टता

व्यर्थ है। स्वीकृत भी सर्वज्ञका सद्भाव धृष्टता के कारण का सर्वज्ञ का अभाववादी यदि स्वीकार नहीं करता है, तब अनुमान की सार्थकता है ही। मानस ज्ञान से आकाश कुसुमादि की सम्भावना है और उसके मानने पर अतिप्रसंग दोष होता है, ऐसा भी नहीं कह सकते। क्योंकि आकाश कुसुम का ज्ञान बाधक प्रतीति से निराकृत कर दी गयी है सत्ता जिसकी ऐसी वस्तु को विषय करने से मानस प्रत्यक्षाभास है।

शङ्का—तो घोड़े के सींग आदि के धर्मीपना कैसे सम्भव है ?

समाधान—ऐसी शंका नहीं करना चाहिए। धर्मी के प्रयोग काल में बाधक प्रतीति के उदय न होने से घोड़े के सींग के सत्त्व की सम्भावना बन जाती है।

सर्वज्ञ आदि में साधक प्रमाण न होने उसकी सत्ता के विषय में संशय है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि सुनिश्चित असम्भव बाधक प्रमाण होने से सुखादि के समान सत्त्व का निश्चय होने से सर्वज्ञ के अस्तित्व में संशय का योग नहीं है।

इस समय प्रमाणसिद्ध और उभयसिद्ध धर्मी में साध्य क्या है ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

सूत्रार्थ—प्रमाण सिद्ध और उभयसिद्ध धर्मी में साध्य धर्म से विशिष्टता होती है ॥ २६ ॥

'साध्ये' यह शब्द पहले द्विवचनान्त होते हुए भी अर्थ के वश से एकवचनान्त के रूप से सम्बद्ध किया गया है। प्रमाण और उभय अर्थात् विकल्प और प्रमाण इन दोनों से सिद्ध धर्मी में साध्यधर्म विशिष्टता

साध्या । अयमर्थः—प्रमाणप्रतिपन्नमपि वस्तु विशिष्टधर्माधारतया विवादपदमारोहतीति साध्यतां नातिवर्तत इति । एवमुभयसिद्धेऽपि योज्यम् ।

प्रमाणोभयसिद्धं धर्मिद्वयं क्रमेण दर्शयन्नाह—

अग्निमानयं देशः परिणामी शब्द इति यथा ॥ २७ ॥

देशो हि प्रत्यक्षेण सिद्धः, शब्दस्तूभयसिद्धः । न हि प्रत्यक्षेणावगृह्यदर्शिभिरनियतदिग्देशकालावच्छिन्नाः सर्वे शब्दा निश्चेतुं पार्यन्ते । सर्वदर्शिनस्तु तन्निश्चयेऽपि तं प्रत्यनुमानानर्थक्यात् ।

प्रयोगकालापेक्षया धर्मविशिष्टधर्मिणः साध्यत्वमभिधाय व्याप्तिकालापेक्षया साध्यनियमं दर्शयन्नाह—

व्याप्तौ तु साध्यं धर्म एव ॥ २८ ॥

सुगमम् ।

साध्य है । इसका अर्थ यह है—प्रमाण से जानी गई भी (पर्वतादि) वस्तु विशिष्ट धर्म का आधार होने से विवाद का विषय हो जाती है, साध्यता का उल्लंघन नहीं करती है । इस प्रकार उभयसिद्ध में भी योजना करनी चाहिए ।

प्रमाणसिद्ध और उभयसिद्ध दोनों धर्मियों के क्रम को दिखलाते हुए कहते हैं—

सूत्रार्थ—जैसे यह प्रदेश अग्नि वाला है और शब्द परिणामी है ॥२७॥

प्रदेश प्रत्यक्ष से सिद्ध है, शब्द उभयसिद्ध है । प्रत्यक्ष से अल्पज्ञ पुरुष अनियत दिग्देशकालवर्ती समस्त शब्द निश्चित करना सम्भव नहीं है । सर्वदर्शी के अनियत दिग्देश-कालवर्ती शब्दों के निश्चय होने पर भी उसके (सर्वज्ञ के) लिए अनुमान का प्रयोग निरर्थक है ।

अनुमान प्रयोग काल की अपेक्षा से धर्म विशिष्ट धर्मी के साध्यपने का कथन करके व्याप्ति काल की अपेक्षा साध्य नियम नियम को दिखलाते हुए कहते हैं—

सूत्रार्थ—व्याप्तिकाल में तो धर्म ही साध्य होता है ॥ २८ ॥

विशेष—जहाँ-जहाँ धुआँ होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि होती है, इस प्रकार व्याप्ति होने पर प्रयोग काल में धर्म ही साध्य होता है, व्याप्ति के समय धर्मी साध्य नहीं होता है । अग्नि ही साध्य होती है, अग्नि-विशिष्ट पर्वत नहीं ।

यह सूत्र सुगम है ।

धर्मिणोऽपि साध्यत्वे को दोष इत्यत्राह—

अन्यथा तदघटनात् ॥ २९ ॥

उक्तविपर्ययेऽन्यथाशब्दः । धर्मिणः साध्यत्वे तदघटनात् व्याप्त्यघटनादिति हेतुः । न हि धूमदर्शनात्सर्वत्र पर्वतोऽग्निमानिति व्याप्तिः शक्या कर्तुम्; प्रमाणविरोधात् । ननु अनुमाने पक्षप्रयोगस्यासम्भवात् प्रसिद्धो धर्मीत्यादिवचनमयुक्तम्; तस्य सामर्थ्यलब्धत्वात् । तथापि तद्वचने पुनरुक्तताप्रसङ्गात् । अर्थादापन्नस्यापि पुनर्वचनं पुनरुक्तमित्यभिधानादिति सौगतस्तत्राह—

साध्यधर्माधारसन्देहापनोदाय गम्यमानस्यापि पक्षस्य वचनम् ॥ ३०

साध्यमेव धर्मस्तस्याधारस्तत्र सन्देहो महानसादिः पर्वतादिर्वेति । तस्यापनोदो

धर्मी के भी साध्य होने पर क्या दोष है, इसके विषय में कहते हैं—

सूत्रार्थ—अन्यथा व्याप्ति घटित नहीं हो सकती ॥ २९ ॥

विशेष—व्याप्ति में धर्मी के भी साध्य होने पर व्याप्ति बन नहीं सकती है। जहाँ-जहाँ धूम है, वहाँ-वहाँ अग्नि वाला पर्वत है, ऐसी व्याप्ति करना सम्भव नहीं है, प्रत्यक्ष से विरोध आता है, अनुमान भी असम्भव होता है। व्याप्ति में साध्यविशिष्ट धर्मी को साध्य बनाने से हेतु के प्रति अन्वय की असिद्धि होती है।

सूत्र में अन्यथा शब्द ऊपर कहे गये अर्थ के विपरीत अर्थ में कहा गया है। धर्मी को साध्य बनाने पर व्याप्ति नहीं बनती है, यह हेतु है। धुएँ के देखने से सब जगह पर्वत अग्नि वाला है, इस प्रकार की व्याप्ति करना सम्भव नहीं है; क्योंकि (साध्य साधन भाव के असम्भव होने से) प्रमाण से विरोध आता है।

बौद्ध—अनुमान में पक्ष प्रयोग के असम्भव होने से धर्मी प्रसिद्ध होता है, यह वचन अयुक्त है, पक्ष तो हेतु के सामर्थ्य से ही जाना जाता है—साध्य-साधन की सामर्थ्य से प्राप्त होता है; सामर्थ्य से जानकारी होने पर भी पक्ष का कथन करने पर पुनरुक्त दोष आता है। अर्थ से प्राप्त होने वाले पदार्थ के पुनः कहने को पुनरुक्त कहते हैं। इस प्रकार कहा गया है।

इसके उत्तर में जैनों का कहना है—

सूत्रार्थ—साध्यधर्म के आधार में उत्पन्न हुए सन्देह को दूर करने के लिए गम्यमान भी पक्ष का प्रयोग किया जाता है ॥ ३० ॥

साध्य ही धर्म है, उसका आधार (पक्ष), उसमें यदि सन्देह हो कि

व्यवच्छेदस्तदर्थं गम्यमानस्यापि साध्यसाधनयोर्व्याप्यव्यापकभावप्रदर्शनान्यथानुपपत्ते-स्तदाधारस्य गम्यमानस्यापि पक्षस्य वचनं प्रयोगः ।

अत्रोदाहरणमाह—

साध्यधर्मिणि साधनधर्मावबोधनाय पक्षधर्मोपसंहारवत् ॥ ३१ ॥

साध्येन विशिष्टो धर्मी पर्वतादिस्तत्र साधनधर्मावबोधनाय पक्षधर्मोपसंहारवत् पक्षधर्मस्य हेतोरुपसंहार उपनयस्तद्वदिति । अयमर्थः—साध्यव्याप्तसाधनप्रदर्शनेन तदाधारावगतावपि नियतधर्मिसम्बन्धिताप्रदर्शनार्थं यथोपनयस्तथा साध्यस्य विशिष्टधर्मिसम्बन्धितावबोधनाय पक्षवचनमपीति । किञ्च—हेतुप्रयोगेऽपि समर्थनमवश्यं वक्तव्यम्; असमर्थितस्य हेतुत्वायोगात् । तथा च समर्थनोपन्यासादेव हेतोः सामर्थ्यसिद्धत्वाद्धेतुप्रयोगोऽनर्थकः स्यात् । हेतुप्रयोगाभावे कस्य समर्थनमिति चेत् पक्ष-

---

इस साध्य रूप धर्म का आधार यहाँ रसोईघर आदि है या पर्वत है उसका अपनोद-व्यवच्छेद करने के लिए गम्यमान भी यदि पक्ष का प्रयोग न किया जाय तो साध्य-साधन के व्याप्य-व्यापक भाव रूप सम्बन्ध का प्रदर्शन अन्यथा नहीं बन सकता । अतः हेतु की सामर्थ्य से ज्ञात होने वाले पक्ष का प्रयोग करना ही चाहिए ।

यहाँ पर उदाहरण कहते हैं—

सूत्रार्थ—जैसे साध्य से युक्त धर्मी में साधनधर्म के ज्ञान कराने के लिए पक्ष धर्म के उपसंहार रूप उपनय का प्रयोग किया जाता है ॥ ३१ ॥

साध्य से विशिष्ट जो धर्मी पर्वतादिक, उसमें साधन धर्म का ज्ञान करने के लिए पक्ष धर्म के उपसंहार के समान पक्ष धर्म जो हेतु उसके उपसंहार को उपनय कहते हैं—उसके समान (उसी प्रकार यह धूमवान् है) । यह अर्थ है—साध्य के साथ व्याप्त साधन के प्रदर्शन से उसके आधार के अवगत हो जाने पर भी नियत धर्मी के साथ सम्बन्धपना बतलाने के लिए जैसे उपनय का प्रयोग किया जाता है, उसी प्रकार साध्य का विशिष्ट धर्मी के साथ सम्बन्धपना बतलाने के लिए जैसे उपनय आवश्यक है, उसी प्रकार साध्य का विशिष्ट धर्मी के साथ सम्बन्धपना बतलाने के लिए पक्ष का वचन भी आवश्यक है । दूसरी बात यह है कि हेतु का प्रयोग करने पर भी समर्थन अवश्य करना चाहिए; क्योंकि असमर्थित हेतु नहीं हो सकता । ऐसा होने पर जब समर्थन के कथन से ही हेतु सामर्थ्य सिद्ध है, फिर हेतु का प्रयोग करना अनर्थक है । हे बौद्ध यदि आप ऐसा कहते हैं कि हेतु के प्रयोग के अभाव में किसका समर्थन

प्रयोगाभावे क्व हेतुर्वर्ततामिति समानमेतत् । तस्मात्कार्यस्वभावानुपलम्भभेदेन पक्षधर्मत्वादिभेदेन च त्रिधा हेतुमुक्त्वा समर्थयमानेन पक्षप्रयोगोऽप्यभ्युपगन्तव्य एवेति ।

अमुमेवार्थमाह—

को वा त्रिधा हेतुमुक्त्वा समर्थयमानो न पक्षयति ॥ ३२ ॥

को वा वादी प्रतिवादी चेत्यर्थः । किलार्थे वा शब्दः । युक्त्या पक्षप्रयोगस्यावश्यम्भावे कः किल न पक्षयति, पक्षं न करोति ? अपि तु करोत्येव । किं कृत्वा ? हेतुमुक्त्वैव, न पुनरनुक्त्वेत्यर्थः । समर्थनं हि हेतोरसिद्धत्वादिदोषपरिहारेण स्वसाध्य-साधन-सामर्थ्य-प्ररूपणप्रवणं वचनम् । तच्च हेतुप्रयोगोत्तरकालं परेणाङ्गीकृतमित्युक्त्वेति वचनम् ।

ननु भवतु पक्षप्रयोगस्तथापि पक्षहेतुदृष्टान्तभेदेन त्रयवयवमनुमानमिति साङ्ख्यः । प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयभेदेन चतुरवयवमिति मीमांसकः । प्रतिज्ञाहेतू-

---

होगा ? तो हमारा कहना है कि पक्ष के प्रयोग के अभाव में हेतु की प्रवृत्ति कहाँ होगी ? दोनों जगह समानता है । इसलिए कार्य, स्वभाव और अनुपलम्भ के भेद से तथा पक्षधर्मत्वादि के भेद से तीन प्रकार का हेतु कहकर समर्थन करनेवाले बौद्ध को पक्ष का प्रयोग स्वीकार करना ही चाहिए ।

अब आचार्य इसी उपर्युक्त अर्थ को उनका उपहास करते हुए कहते हैं—

सूत्रार्थ—ऐसा कौन है, जो कि तीन प्रकार के हेतु को कह करके उसका समर्थन करता हुआ भी पक्ष प्रयोग न करे ॥ ३२ ॥

कौन ऐसा (लौकिक या परीक्षक) वादी या प्रतिवादी है ? निश्चय के अर्थ में वा शब्द है । युक्ति से पक्ष का प्रयोग अवश्यम्भावी होने पर कौन पक्ष का प्रयोग नहीं करता है ? अपितु करता ही है । क्या करके ? हेतु का कथन करके ही, कथन न करके नहीं, यह अर्थ है । हेतु के असिद्धत्व आदि दोषों का परिहार करके अपने साध्य के साधन करने की सामर्थ्य के प्रकटीकरण में समर्थ वचन को समर्थन कहते हैं । वह समर्थन हेतु प्रयोग के उत्तर काल में बौद्धों ने स्वीकार किया है । अतः 'उक्त्वा' यह वचन सूत्र में कहा है ।

सांख्य का कहना है कि पक्ष का प्रयोग होवे, तथापि पक्ष, हेतु एवं दृष्टान्त के भेद से अनुमान के तीन अवयव होना चाहिए । मीमांसक

दाहरणोपनयनिगमनभेदात्पञ्चावयवमिति यौगः। तन्मतमपाकुर्वन् स्वमतसिद्धमवयवद्वयमेवोपदर्शयन्नाह—

एतद्द्वयमेवानुमानाङ्गं नोदाहरणम् ॥ ३३ ॥

एतयोः पक्षहेत्वोर्द्वयमेव नातिरिक्तमित्यर्थः। एवकारेणैवादाहरणादिव्यवच्छेदे सिद्धेऽपि परमतनिरासार्थं पुनर्नोदाहरणमित्युक्तम्।

तद्धि किं साध्यप्रतिपत्त्यर्थमुतस्विद् हेतोरविनाभावनियमार्थमाहोस्विद् व्याप्तिस्मरणार्थमिति विकल्पान् क्रमेण दूषयन्नाह—

न हि तत्साध्यप्रतिपत्त्यङ्गं तत्र यथोक्तहेतोरेव व्यापारात् ॥३४॥

तदुदाहरणं साध्यप्रतिपत्तेरङ्गं कारणं नेति सम्बन्धः। तत्र साध्यप्रतिपत्तौ यथोक्तस्य साध्याविनाभावित्वेन निश्चितस्य हेतोर्व्यापारादिति।

कहते हैं कि प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण और उपनय के भेद से अनुमान के चार अवयव होना चाहिए। यौगों का कहना है कि प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन के भेद से अनुमान के पाँच अवयव होने चाहिए। उनके मत का निराकरण करते हुए स्वमतसिद्ध दो अवयव ही दिखलाते हुए कहते हैं—

सूत्रार्थ—पक्ष और हेतु ये दोनों ही अनुमान के अंग हैं, उदाहरणादि नहीं ॥ ३३ ॥

पक्ष और हेतु ये दोनों ही अनुमान के अंग हैं। इससे अधिक नहीं, यह अर्थ है। एवकार से ही उदाहरणादि का व्यवच्छेद सिद्ध होने पर भी दूसरे के मत का निराकरण करने के लिए 'उदाहरणादि' नहीं, ऐसा कहा है।

वह उदाहरण क्या साध्य के ज्ञान के लिए है या हेतु के अविनाभाव के नियम के लिए है या व्याप्ति के स्मरण के लिए है। इस प्रकार के विकल्पों को क्रम से दूषित करते हुए कहते हैं—

सूत्रार्थ—वह उदाहरण साध्य की जानकारी का अंग नहीं है, साध्य के परिज्ञान में साध्य के प्रति जिसका अविनाभाव सम्बन्ध है ऐसे निश्चित हेतु का ही व्यापार होता है ॥ ३४ ॥

वह उदाहरण साध्य के परिज्ञान का अंग—कारण नहीं है, इस प्रकार का सम्बन्ध घटित कर लेना चाहिए। उस साध्य के ज्ञान में यथोक्त साध्य के प्रति अविनाभाव सम्बन्ध है, ऐसे निश्चित हेतु का ही व्यापार होता है।

द्वितीयविकल्पं शोधयन्नाह—

तदविनाभावनिश्चयार्थं वा विपक्षे बाधकादेव तत्सिद्धेः ॥ ३५ ॥

तदिति [अनु-] वर्तते, नेति च । तेनायमर्थः—तदुदाहरणं तेन साध्येनाविनाभावनिश्चयार्थं वा न भवतीति; विपक्षे बाधकादेव तत्सिद्धेरविनाभावनिश्चयसिद्धेः ।

किञ्च—व्यक्तिरूपं निदर्शनं तत्कथं साकल्येन व्याप्तिं गमयेत् ? व्यक्त्यन्तरेषु व्याप्त्यर्थं पुनरुदाहरणान्तरं मृग्यम् । तस्यापि व्यक्तिरूपत्वेन सामस्त्येन व्याप्तेरवधारयितुमशक्यत्वादपरापर-तदन्तरापेक्षायामनवस्था स्यात् ।

एतदेवाऽऽह—

व्यक्तिरूपं च निदर्शनं सामान्येन तु व्याप्तिस्तत्रापि तद्विप्रतिपत्तावनवस्थानं स्याद् दृष्टान्तान्तरापेक्षणात् ॥ ३६ ॥

द्वितीय विकल्प अथवा हेतु का अविनाभाव नियम बतलाने के लिए उदाहरण का प्रयोग आवश्यक है, इसका शोधन करते हुए कहा है—

सूत्रार्थ—यदि वह उदाहरण साध्य के साथ अविनाभाव के निश्चय के लिए ही हो तो विपक्ष में बाधक प्रमाण से ही अविनाभाव सिद्ध हो जाता है ॥ ३५ ॥

सूत्र में 'तत्' और 'न' इन दो पदों की अनुवृत्ति करना चाहिए। इससे यह अर्थ प्राप्त होता है—वह उदाहरण उस साध्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध का निश्चय करने के लिए भी कारण नहीं है; क्योंकि विपक्ष (जलाशयादि में) बाधक (तर्क) से ही उसकी सिद्धि हो जाती है, अतः अविनाभाव की निश्चित सिद्धि होती है।

दूसरी बात यह है कि उदाहरण एक व्यक्ति रूप होता है, वह सर्व देश, काल के उपसंहार से व्याप्ति का ज्ञान कैसे करायेगा ? अन्य विशेषों में व्याप्ति के अन्य उदाहरण खोज लेना चाहिए। अन्य उदाहरण भी व्यक्ति रूप होगा। अतः समस्त देश काल के उपसंहार से वह भी व्याप्ति का निश्चय कराने के लिए अशक्य होगा। इस प्रकार अन्य-अन्य उदाहरणों की अपेक्षा करने पर अनवस्था दोष होता है। तात्पर्य यह कि व्याप्ति विषयक सन्देह को दूर करने के लिए यदि उदाहरण अन्वेषण करने योग्य है तो वहाँ भी सामान्य से व्याप्ति विषयक सन्देह को दूर करने के लिए अन्य उदाहरण होना चाहिए, इस प्रकार अनवस्था दोष होगा।

इसी बात को कहते हैं—

सूत्रार्थ—निदर्शन (विशेष आधार वाला होने से) विशेष रूप होता

तत्रापि उदाहरणेऽपि तद्विप्रतिपत्तौ सामान्यव्याप्तिविप्रतिपत्तावित्यर्थः। शेषं व्याख्यातम्।

तृतीयविकल्पे दूषणमाह—

नापि व्याप्तिस्मरणार्थं तथाविधहेतुप्रयोगादेव तत्स्मृतेः ॥ ३७ ॥

गृहीतसम्बन्धस्य हेतुप्रदर्शनेनैव व्याप्तिसिद्धिः। अगृहीतसम्बन्धस्य दृष्टान्तशतेनापि न तत्स्मरणम्; अनुभूतविषयत्वात्स्मरणस्येति भावः।

तदेवमुदाहरणप्रयोगस्य साध्यार्थं प्रति नोपयोगित्वम्; प्रत्युत संशयहेतुत्वमेवेति दर्शयति—

तत्परमभिधीयमानं साध्यधर्मिणि साध्यसाधने सन्देहयति ।३८॥

है। और व्याप्ति सामान्य से होती है। उदाहरण में भी व्याप्ति विषयक विवाद होने पर अन्य दृष्टान्त की अपेक्षा अनवस्था दोष होता है। तात्पर्य यह है कि उदाहरण व्यक्ति रूप होता है, उस उदाहरण में स्थित व्याप्ति सामान्य रूप वाली होती है। अन्यत्र प्रदेश में ऐसी व्याप्ति होगी, इस विषय में जो सन्देह होता है, उसके निराकरण के लिए उदाहरण का कथन करना चाहिए। वहाँ पर भी सामान्य व्याप्ति का सद्भाव है। उसके परिहार के पुनः उदाहरण खोजना चाहिए, इस प्रकार अनवस्था दोष होता है ॥३६॥

उस उदाहरण में भी सामान्य व्याप्ति में विवाद होने पर, यह अर्थ होता है। शेष की व्याख्या ही हो चुकी है।

तृतीय विकल्प—व्याप्ति का स्मरण करने के लिए उदाहरण का प्रयोग आवश्यक है, इस विषय में दूषण कहते हैं—

सूत्रार्थ—व्याप्ति का स्मरण करने के लिए भी उदाहरण का प्रयोग आवश्यक नहीं है; क्योंकि साध्य के अविनाभावि हेतु के प्रयोग से ही व्याप्ति का स्मरण हो जाता है ॥ ३७ ॥

जिसने साध्य के साथ साधन का सम्बन्ध ग्रहण किया है, ऐसे पुरुष को हेतु के दिखलाने से ही व्याप्ति की सिद्धि हो जायगी। जिसने सम्बन्ध को ग्रहण नहीं किया है (जो रसोईघर में केवल धुएँ और अग्नि के संबंध को जानता है, परन्तु जहाँ धूम है वहाँ अग्नि है, इस प्रकार जिसके सम्बन्ध ग्रहण नहीं है) ऐसे व्यक्ति को सैकड़ों दृष्टांतों से भी व्याप्ति का स्मरण नहीं होगा; क्योंकि स्मरण का विषय अनुभूत विषय है।

अतः इस प्रकार उदाहरण का प्रयोग साध्य के लिए उपयोगी नहीं है, अपितु संशय का ही हेतु है, इस बात को दिखलाते हैं—

सूत्रार्थ—केवल उदाहरण का ही प्रयोग किया जाय तो वह साध्य

तदुदाहरणं परं केवलमभिधीयमानं साध्यधर्मिणि साध्यविशिष्टे धर्मिणि साध्यसाधने सन्देहयति सन्देहवती करोति । दृष्टान्तधर्मिणि साध्यव्याप्तसाधनोपदर्शनेऽपि साध्यधर्मिणि तन्निर्णयस्य कर्तुमशक्यत्वादिति शेषः ।

अमुमेवार्थं व्यतिरेकमुखेन समर्थयमानः प्राह—

कुतोऽन्यथोपनयनिगमने ॥३९॥

अन्यथा संशयहेतुत्वाभावे कस्माद्धेतोरुपनयनिगमने प्रयुज्येते ।

अपरः प्राह—उपनयनिगमनयोरप्यनुमानाङ्गत्वमेव; तदप्रयोगे निरवकरसाध्यसंवित्तेरयोगादिति । तन्निषेधार्थमाह—

न च ते तदंगे; साध्यधर्मिणि हेतुसाध्ययोर्वचनादेवासंशयात् ॥४०॥

ते उपनयनिगमनेऽपि वक्ष्यमाणलक्षणे तस्यानुमानस्याङ्गे न भवतः; साध्यधर्मिणि हेतुसाध्ययोर्वचनादेवेत्येवकारेण दृष्टान्तादिकमन्तरेणेत्यर्थः ।

धर्म वाले धर्मी में साध्य के सिद्ध करने में सन्देह करा देता है ॥३८॥

वह उदाहरण पर केवल कहा गया साध्य धर्मी में—साध्यविशिष्ट धर्मी में साध्य के साधन करने में सन्देह युक्त कर देता है । दृष्टान्त धर्मी (रसोईघर आदि में) साध्य से व्याप्त साधन के दिखलाने पर भी साध्यधर्मी (पर्वतादिक) में साध्य व्याप्त साधन का निर्णय करना सम्भव नहीं है ।

इसी अर्थ को व्यतिरेक मुख से समर्थन करते हुए कहते हैं—

सूत्रार्थ—अन्यथा उपनय और निगमन का प्रयोग क्यों किया जाता ॥ ३९ ॥

उदाहरण यदि साध्यविशिष्ट धर्मी में साध्य का साधन करने में सन्देह युक्त न करता तो किस कारण उपनय और निगमन का प्रयोग किया जाता।

योग—उपनय और निगमन भी अनुमान के अंग हैं, उनका प्रयोग न करने पर असंदिग्ध रूप से साध्य का ज्ञान नहीं हो सकता है ।

उक्त कथन का निषेध करने के लिए कहते हैं—

सूत्रार्थ—उपनय और निगमन अनुमान के अंग नहीं हैं, क्योंकि हेतु और साध्य के बोलने से ही संशय नहीं रहता है ॥ ४० ॥

जिनका लक्षण आगे कहा जा रहा है, वे उपनय और निगमन भी अनुमान के अंग नहीं हैं; क्योंकि साध्यधर्मी में हेतु और साध्य के वचन से ही सन्देह नहीं रहता है । 'एव' पद से दृष्टान्तादिक के बिना—यह अर्थ ग्रहण करना चाहिए । (दृष्टान्तादिक में आदि पद से उपनय और निगमन का ग्रहण होता है) ।

किञ्चाभिधायापि दृष्टान्तादिकं समर्थनमवश्यं वक्तव्यम्; असमर्थितस्या-हेतुत्वादिति । तदेव वरं हेतुरूपमनुमानावयवो वाऽस्तु; साध्यसिद्धौ तस्यैवोपयोगात् । नोदाहरणादिकम् । एतदेवाऽऽह—

समर्थनं वा वरं हेतुरूपमनुमानावयवो वाऽस्तु; साध्ये तदु-पयोगात् ॥४१॥

प्रथमो वाशब्द एवकारार्थे । द्वितीयस्तु पक्षान्तरसूचने । शेषं सुगमम् ।

ननु दृष्टान्तादिकमन्तरेण मन्दधियामवबोधयितुमशक्यत्वात् कथं पक्षहेतुप्रयोग-मात्रेण तेषां साध्यप्रतिपत्तिरिति ? तत्राह—

बालव्युत्पत्त्यर्थं तत्त्रयोपगमे शास्त्र एवासौ, न वादेऽनुपयोगात् ॥४२॥

बालानामल्पप्रज्ञानां व्युत्पत्त्यर्थं तेषामुदाहरणादीनां त्रयोपगमे शास्त्र एवासौ तस्योपगमो न वादे । न हि वादकाले शिष्या व्युत्पाद्याः, व्युत्पन्नानामेव तत्राधि-कारादिति ।

दूसरी बात यह है कि दृष्टान्तादि का कथन करके भी समर्थन अवश्य ही कहना चाहिए; क्योंकि जिस हेतु का समर्थन न हुआ हो, वह हेतु नहीं हो सकता है । इस प्रकार समर्थन ही हेतु का उत्तम रूप है । वही अनु-मान का अवयव हो; क्योंकि साध्य की सिद्धि में उसका ही उपयोग है। उदाहरणादि को नहीं कहना चाहिए । इसी बात को कहते हैं—

सूत्रार्थ—समर्थन ही हेतु का यथार्थ रूप है, वही अनुमान का अवयव हो; क्योंकि साध्य की सिद्धि में उसी का उपयोग होता है ॥ ४१ ॥

सूत्र में प्रयुक्त प्रथम वा शब्द एवकार के अर्थ में है । दूसरा 'वा' शब्द अन्य पक्ष की सूचना करता है । सूत्र का शेष अर्थ सुगम है ।

शङ्का—दृष्टान्त, उपनय तथा निगमन के बिना मन्दबुद्धि वालों को बोधित करना सम्भव नहीं है । अतः पक्ष और हेतु के प्रयोग मात्र से उन्हें साध्य का ज्ञान कैसे हो जायगा ? इसके विषय में कहते हैं—

सूत्रार्थ—बालकों की व्युत्पत्ति के लिए उन तीनों के मान लेने पर शास्त्र में ही उनकी स्वीकृति है, वाद में नहीं, क्योंकि वाद में उनका उपयोग नहीं है ॥ ४२ ॥

बालकों की—अल्प बुद्धि वालों को व्युत्पत्ति के लिए उन उदाहरण, उपनय और निगमन अवयवों के स्वीकार कर लेने पर शास्त्र में ही उनका उपयोग है, वाद में नहीं । वाद के समय शिष्यों को समझाया नहीं जाता

बालव्युत्पत्त्यर्थं तत्त्रयोपगम इत्यादिना शास्त्रेऽभ्युपगतमेवोदाहारणादित्रयमुपदर्शयति—

दृष्टान्तो द्वेधा—[1]अन्वय-[2]व्यतिरेकभेदात् ॥४३॥

दृष्टौ अन्तौ साध्यसाधनलक्षणौ धर्मौ अन्वयमुखेन व्यतिरेकद्वारेण वा यत्र स दृष्टान्त इत्यन्वर्थसञ्ज्ञाकरणात् । स द्वेधैवोपपद्यते—

तत्रान्वयदृष्टान्तं दर्शयन्नाह—

साध्यव्याप्तं साधनं यत्र प्रदर्श्यते सोऽन्वयदृष्टान्तः ॥४४॥

साध्येन व्याप्तं नियतं साधनं हेतुर्यत्र दर्श्यते व्याप्तिपूर्वकतयेति भावः ।

द्वितीयभेदमुपदर्शयति—

साध्याभावे साधनाभावो यत्र कथ्यते स व्यतिरेकदृष्टान्तः ॥४५॥

असति असद्भावो व्यतिरेकः । तत्प्रधानो दृष्टान्तो व्यतिरेकदृष्टान्तः ।

है; क्योंकि वाद में तो व्युत्पन्न पुरुषों का ही अधिकार होता है ।

बाल व्युत्पत्ति के लिए उन तीनों को स्वीकार किया गया है, अतः शास्त्र में स्वीकृत उदाहरणादिक तीनों अवयवों का स्वरूप दिखलाते हैं—

सूत्रार्थ—दृष्टान्त दो प्रकार का है—अन्वय दृष्टान्त और व्यतिरेक दृष्टान्त ॥ ४३ ॥

जहाँ पर साध्य साधन लक्षण वाले दो धर्म अन्वय या व्यतिरेक रूप से देखे जाँय, वह दृष्टान्त है, इस प्रकार की अर्थ का अनुसरण करने वाली संज्ञा जानना चाहिए । वह दृष्टान्त दो प्रकार का ही युक्त है ।

अन्वय दृष्टान्त को दिखलाते हुए कहते हैं—

सूत्रार्थ—साध्य के साथ जहाँ साधन की व्याप्ति दिखाई जाती है, वह अन्वय दृष्टान्त है ॥ ४४ ॥

(जन्य, जनकादि भाव रूप) साध्य से व्याप्त अविनाभाव से निश्चित साधन व्याप्ति पूर्वक जहाँ दिखलाया जाता है, यह भाव है । (धूम और जल की व्याप्ति नहीं है; क्योंकि वहाँ जन्य, जनक भाव नहीं है) ।

दूसरे भेद को दिखलाते हैं—

सूत्रार्थ—साध्य के अभाव में जहाँ साधन का अभाव कहा जाता है, वह व्यतिरेक दृष्टान्त है ॥ ४५ ॥

साध्य के अभाव में साधन का अभाव व्यतिरेक है । व्यतिरेक प्रधान

---

१. हेतुसत्त्वे साध्यसत्त्वमन्वयः ।

२. साध्याभावे हेत्वभावो व्यतिरेकः ।

साध्याभावे साधनस्याभाव एवेति सावधारणं द्रष्टव्यम् ।

क्रमप्राप्तमुपनयस्वरूपं निरूपयति—

हेतोरुपसंहार उपनयः[1] ॥४६॥

पक्षे इत्यध्याहारः । तेनायमर्थः—हेतोः पक्षधर्मतयोपसंहार उपनय इति ।

निगमनस्वरूपमुपदर्शयति—

प्रतिज्ञायास्तु निगमनम्[2] ॥४७॥

उपसंहार इति [अनु-] वर्तते । प्रतिज्ञाया उपसंहारः साध्यधर्मविशिष्टत्वेन प्रदर्शनं निगमनमित्यर्थः । ननु शास्त्रे दृष्टान्तादयो वक्तव्या एवेति नियमानभ्युपगमात्कथं तत्त्रयमिह सूरिभिः प्रपञ्चितमिति न चोद्यम्; स्वयमनभ्युपगमेऽपि प्रतिपाद्यानुरोधेन जिनमतानुसारिभिः प्रयोगपरिपाट्याः प्रतिपन्नत्वात् । सा चाज्ञाततत्स्वरूपैः कर्तुं न शक्यत इति तत्स्वरूपमपि शास्त्रेऽभिधातव्यमेवेति ।

दृष्टान्त व्यतिरेक दृष्टान्त है । साध्य के अभाव में साधन का अभाव हो ही, इस प्रकार एवकार यहाँ जानना चाहिये ।

क्रम प्राप्त उपनय के स्वरूप का निरूपण करते हैं—

सूत्रार्थ—हेतु के उपसंहार को उपनय कहते हैं ॥ ४६ ॥

(साध्य के साथ अविनाभाव से विशिष्ट साध्यधर्मी जिसके द्वारा पुनः उच्चरित होता है, उसे उपनय कहते हैं) ।

निगमन के स्वरूप को दिखलाते हैं—

सूत्रार्थ—प्रतिज्ञा के उपसंहार को निगमन कहते हैं ॥ ४७ ॥

उपसंहार पद की अनुवृत्ति की गई है । प्रतिज्ञा का उपसंहार—साध्य धर्म विशिष्टत्व रूप से प्रदर्शन निगमन है ।

सांख्यादि—शास्त्र में दृष्टान्त आदिक कहना ही चाहिये, ऐसा नियम नहीं स्वीकार करने पर भी कैसे दृष्टान्त, उपनय और निगमन को आचार्य ने विस्तारित किया है ?

जैन—यह बात नहीं कहना चाहिये । स्वयं स्वीकार न करने पर भी शिष्य के अनुरोध से जिन मत का अनुसरण करने वालों ने प्रयोग की परिपाटी को स्वीकार किया है । वह प्रयोग परिपाटी अज्ञात स्वरूप वालों

---

१. साध्याविनाभावित्वेन विशिष्टे साध्यधर्मिणि उपनीयते पुनरुच्चार्यते हेतुर्येन स उपनयः ।

२. प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयाः साध्यलक्षणैकार्थतया निगम्यन्ते सम्बद्ध्यन्ते येन तन्निगमनमिति ।

तदेवं मतभेदेन द्वि-त्रि-चतुः पञ्चावयवरूपमनुमानं द्विप्रकारमेवेति दर्शयन्नाह—

तदनुमानं द्वेधा ॥४८॥

तद्द्वैविध्यमेवाऽऽह—

स्वार्थपरार्थभेदात् ॥४९॥

स्वपरविप्रतिपत्तिनिरासफलत्वाद् द्विविधमेवेति भावः ।

स्वार्थानुमानभेदं दर्शयन्नाह—

स्वार्थमुक्तलक्षणम् ॥५०॥

साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानमिति प्रागुक्तं लक्षणं यस्य तत्तथोक्तमित्यर्थः ।

द्वितीयमनुमानभेदं दर्शयन्नाह—

परार्थं तु तदर्थपरामर्शिवचनाज्जातम् ॥५१॥

के द्वारा करना सम्भव नहीं है, अतः उनका स्वरूप भी शास्त्र में कहना ही चाहिये ।

इस प्रकार मतभेद की अपेक्षा दो, तीन, चार, पाँच अवयव रूप अनुमान दो प्रकार का ही है, इस बात को दिखलाते हुए कहते हैं—

सूत्रार्थ—वह अनुमान दो प्रकार का होता है ॥ ४८ ॥

उस द्विप्रकारता को ही कहते हैं—

सूत्रार्थ—स्वार्थानुमान और परार्थानुमान के भेद से (वह अनुमान) दो प्रकार का है ॥ ४९ ॥

स्व और पर विषयक विवाद का निराकरण करना जिसका फल है, ऐसा अनुमान दो प्रकार का होता है, यह भाव है ।

स्वार्थानुमान के भेदों को दिखलाते हुए कहते हैं—

सूत्रार्थ—स्वार्थानुमान का लक्षण कहा जा चुका है ॥ ५० ॥

साधन से साध्य का ज्ञान अनुमान है, ऐसा जो लक्षण पहले कहा जा चुका है, वह स्वार्थानुमान का स्वरूप है ।

अनुमान के दूसरे भेद को दिखलाते हुए कहते हैं—

सूत्रार्थ—उस स्वार्थानुमान के विषयभूत अर्थ का परामर्श करने वाले वचनों से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे परार्थानुमान कहते हैं ॥ ५१ ॥

विशेष—धूम से अग्नि का ज्ञान अनुमान है, इस प्रकार अर्थ का परामर्श करने वाला जो वचन है, उस वचन रूप साधन से (परोपदेश

तस्य स्वार्थानुमानस्यार्थः साध्यसाधनलक्षणः। तं परामृशतीत्येवं शीलं तदर्थ-परामर्शि। तच्च तद्वचनं स तस्माज्जातमुत्पन्नं विज्ञानं परार्थानुमानमिति। ननु वचनात्मकं परार्थानुमानं प्रसिद्धम्। तत्कथं तदर्थप्रतिपादकवचनजनितविज्ञानस्य परार्थानुमानत्वमभिदधता न संगृहीतमिति न वाच्यम्; अचेतनस्य साक्षात्प्रमिति-हेतुत्वाभावेन निरुपचरितप्रमाणभावाभावात्। मुख्यानुमानहेतुत्वेन तस्योपचरितानु-मानव्यपदेशो न वार्यत एव।

तदेवोपचरितं परार्थानुमानत्वं तद्वचनस्याऽऽचार्यः प्राह—

तद्वचनमपि तद्धेतुत्वात् ॥५२॥

से) जो धुएँ से अग्नि का ज्ञान उत्पन्न होता है, वह परार्थानुमान है। वचन के बिना जो धूमादि साधन से अग्न्यादि साध्य का ज्ञान होता है, वह स्वार्थानुमान है, यह इन दोनों में भेद है।

उस स्वार्थानुमान का अर्थ जो साध्य-साधन लक्षण वाला पदार्थ—उसे विषय करना जिसका स्वभाव है, उसे तदर्थपरामर्शि कहते हैं। तदर्थ-परामर्शिवचनों से जो विज्ञान उत्पन्न होता है, वह परार्थानुमान है।

विशेष—यह पर्वत अग्नि वाला है, धुएँ वाला होने से, इस प्रकार के वचन सुनने से ही पहले धुएँ का ज्ञान होता है, बाद में उससे अग्नि का ज्ञान होता है, यह अभिप्राय है। वचन के साक्षात् अनुमानपना नहीं है, अपितु वचन से उत्पन्न ज्ञान के अनुमानपना है, वचन के अनुमानपना उपचार से है।

नैयायिक—(पञ्च अवयव रूप) वचनात्मक परार्थानुमान प्रसिद्ध है। तो अनुमान के विषयभूत अर्थ के प्रतिपादक वचनों से उत्पन्न हुए विज्ञान को परार्थानुमान कहने वाले जैन ने उस लक्षण का संग्रह क्यों नहीं किया?

जैन—यह नहीं कहना चाहिये; क्योंकि अचेतनवचन साक्षात् प्रमिति रूप अज्ञान की निवृत्ति में हेतु नहीं हो सकते। उन वचनों के निरूपचरित प्रमाणता का अभाव है। ज्ञानरूप अनुमान के हेतु होने से उन वचनों की उपचरित अनुमान संज्ञा का निश्चित रूप से कोई वारण नहीं कर सकता।

वही (परार्थानुमान के प्रतिपादक वचन) उपचार से परार्थानुमान हैं अतः परार्थानुमान के प्रतिपादक वचन के विषय में आचार्य कहते हैं—

सूत्रार्थ—परार्थानुमान के कारण होने से परार्थानुमान के प्रतिपादक वचनों को भी परार्थानुमान कहते हैं ॥ ५२ ॥

उपचारो हि मुख्याभावे सति प्रयोजने निमित्ते च प्रवर्तते। तत्र वचनस्य परार्थानुमानत्वे निमित्तं तद्धेतुत्वम्। तस्य प्रतिपाद्यानुमानस्य हेतुस्तद्धेतुः; तस्य भावस्तत्त्वम्। तस्मान्निमित्तात्तद्वचनमपि परार्थानुमानप्रतिपादकवचनमपि परार्थानुमानमिति सम्बन्धः; कारणे कार्यस्योपचारात्। अथवा तत्प्रतिपादकानुमानं हेतुर्यस्य तत्तद्धेतुः, तस्य भावस्तत्त्वम्। ततस्तद्वचनमपि तथेति सम्बन्धः। अस्मिन् पक्षे कार्ये कारणस्योपचार इति शेषः। वचनस्यानुमानत्वे च प्रयोजनमनुमानावयवाः प्रतिज्ञादय इति शास्त्रे व्यवहार एव, ज्ञानात्मन्यनंशे तद्-व्यवहारस्याशक्यकल्पनात्। तदेवं साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानमित्यनुमानसामान्यलक्षणम्।

तदनुमानं द्वेधेत्यादिना तत्प्रकारं च सप्रपञ्चमभिधाय साधनमुक्तलक्षणापेक्षयैकमप्यतिसंक्षेपेण भिद्यमानं द्विविधमित्युपदर्शयति—

स हेतुर्द्वेधोपलब्ध्यनुपलब्धिभेदात् ॥५३॥

मुख्य का अभाव होने पर तथा प्रयोजन और निमित्त के होने पर उपचार की प्रवृत्ति होती है। वहाँ वचन का परार्थानुमानपने में कारणपना ही उपचार का निमित्त है। अतः प्रतिपाद्य (शिष्य) उसके लिये जो अनुमान, उसका प्रतिपादक वचन भी परार्थानुमान है; ऐसा सम्बन्ध करना चाहिये; क्योंकि यहाँ अनुमान के कारण वचनों में ज्ञानरूप कार्य का उपचार किया गया है। अथवा (प्रकारान्तर से कहते हैं।) परार्थानुमान का प्रतिपादक जो वक्ता पुरुष उसका स्वार्थानुमान है कारण जिसके ऐसा जो परार्थानुमान का वचन वह भी अनुमान है, ऐसा सम्बन्ध कर लेना चाहिये। इस पक्ष में स्वार्थानुमानवचनलक्षण रूप कार्य में कारण का उपचार है, यह अर्थ सूत्र में शेष है। वचन को अनुमानपना कहने में प्रयोजन यह है कि प्रतिज्ञा आदिक अनुमान के अवयव हैं, ऐसा शास्त्र में व्यवहार है। ज्ञानात्मक और निरंश अनुमान में प्रतिज्ञादि के व्यवहार की कल्पना अशक्य है। इस प्रकार साधन से साध्य का ज्ञान होना अनुमान है, यह अनुमान का सामान्य लक्षण है।

वह अनुमान दो प्रकार का है, इत्यादि रूप से उसके प्रकारों को भी विस्तार से कहकर अन्यथानुपपन्नत्व रूप लक्षण की अपेक्षा साधन एक प्रकार का होने पर भी अतिसंक्षेप से भेद करने पर वह दो प्रकार का है, इस बात को दिखलाते हैं—

सूत्रार्थ—अविनाभाव लक्षण से लक्षित वह हेतु उपलब्धि और अनुपलब्धि के भेद से दो प्रकार का है॥ ५३ ॥

सुगममेतत् ।

तत्रोपलब्धिर्विधिसाधिकैव । अनुपलब्धिः प्रतिषेधसाधिकैवेति परस्य नियमं विघटयन्नुपलब्धेरनुपलब्धेश्चाविशेषेण विधि-प्रतिषेधसाधनत्वमाह—

उपलब्धिर्विधिप्रतिषेधयोरनुपलब्धिश्च ॥ ५४ ॥

गतार्थमेतत् ।

इदानीमुपलब्धेरपि संक्षेपेण विरुद्धाविरुद्धभेदाद् द्वैविध्यमुपदर्शयन्नविरुद्धोपलब्धेर्विधौ साध्ये विस्तरतो भेदमाह—

अविरुद्धोपलब्धिर्विधौ षोढा-व्याप्यकार्यकारणपूर्वोत्तरसहचरभेदात् ॥ ५५ ॥

पूर्वं च उत्तरं च सह चेति द्वन्द्वः । पूर्वोत्तरसह इत्येतेभ्यश्चर इत्यनुकरणनिर्देशः, द्वन्द्वात् श्रूयमाणश्चरशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । तेनायमर्थः—पूर्वचरोत्तरचरसहचरा इति । पश्चाद् व्याप्यादिभिः सह द्वन्द्वः ।

यह सूत्र सुगम है ।

उपलब्धि विधि की साधिका ही है, अनुपलब्धि प्रतिषेध की साधिका ही है, इस प्रकार दूसरे मत वालों के नियम का निषेध करते हुए आचार्य कहते हैं कि उपलब्धि और अनुपलब्धि सामान्य रूप से विधि और प्रतिषेध के साधक हैं ।

सूत्रार्थ—उपलब्धि रूप हेतु विधि और प्रतिषेध दोनों का साधक है तथा अनुपलब्धि भी दोनों का साधक है ॥ ५४ ॥

इस सूत्र का अर्थ कहा जा चुका है ।

इस समय उपलब्धि के भी संक्षेप से विरुद्ध-अविरुद्ध भेद से दो भेद बतलाते हुए अविरुद्धोपलब्धि के विधि को सिद्ध करने में विस्तार से भेद कहते हैं—

सूत्रार्थ—अस्तित्व साध्य होने पर अविरुद्धोपलब्धि व्याप्य, कार्य, कारण, पूर्व, उत्तर और सहचर के भेद से छह प्रकार की है ॥ ५५ ॥

'पूर्वं च उत्तरं च सह च' इसमें द्वन्द्व समास है । पूर्व, उत्तर और सह पद के साथ चर शब्द का अनुकरण निर्देश करना । द्वन्द्व समास से पीछे सुना गया चर शब्द प्रत्येक के साथ लगाना चाहिये । इससे यह अर्थ होता है—पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर । पश्चात् व्याप्य आदि पदों के साथ द्वन्द्व समास करना चाहिये ।

अत्राह सौगतः—विधिसाधनं द्विविधमेव, स्वभाव-कार्यभेदात्। कारणस्य तु कार्याविनाभावाभावादलिङ्गत्वम्। नावश्यं कारणानि कार्यवन्ति भवन्तीति वचनात्। अप्रतिबद्धसामर्थ्यस्य कार्यम्प्रति गमकत्वमित्यपि नोत्तरम्; सामर्थ्यस्यातीन्द्रियतया विद्यमानस्यापि निश्चेतुमशक्यत्वादिति। तदसमीक्षिताभिधानमिति दर्शयितुमाह—

रसादेकसामग्र्यनुमानेन रूपानुमानमिच्छद्भिरिष्टमेव किञ्चित्कारणं हेतुर्यत्र सामर्थ्यप्रतिबन्ध-कारणान्तरावैकल्ये ॥५६

आस्वाद्यमानाद्धि रसात्तज्जनिका सामग्र्यनुमीयते। ततो रूपानुमानं भवति। प्राक्तनो हि रूपक्षणः सजातीयं रूपक्षणान्तरं कार्यं कुर्वन्नेव विजातीयं रसलक्षणं कार्यं करोतीति रूपानुमानमिच्छद्भिरिष्टमेव किञ्चित्कारणं हेतुः प्राक्तनस्य रूपलक्षणस्य सजातीयरूपक्षणान्तराव्यभिचारात्। अन्यथा रससमानकालरूपप्रति-

---

बौद्ध—विधिसाधक हेतु दो प्रकार का है—स्वभावहेतु और कार्यहेतु। कारण का कार्य के साथ अविनाभाव का अभाव होने से उसे हेतु नहीं माना जा सकता। कारण कार्य वाले अवश्य हों, ऐसा नहीं है, इस प्रकार का वचन है।

जैन—मणि-मन्त्रादि से जिसकी सामर्थ्य रोकी गई है, ऐसा कारण कार्य के प्रति गमक होता है।

बौद्ध—यह कोई उत्तर नहीं है। सामर्थ्य अतीन्द्रिय (अप्रत्यक्ष) है, अतः विद्यमान होने का भी निश्चय करना सम्भव नहीं है। पूर्वोक्त कथन असमीक्षित कथन है, यह दिखलाने के लिए कहते हैं—

सूत्रार्थ—रस से एक सामग्री के अनुमान द्वारा रूप का अनुमान स्वीकार करने वाले बौद्धों ने कोई विशिष्ट कारण रूप हेतु माना ही है, जिसमें सामर्थ्य की रुकावट नहीं है और दूसरे कारणों की विकलता नहीं है ॥ ५६ ॥

आस्वाद्यमान रससे उसकी उत्पादक सामग्री का अनुमान किया जाता है उससे रूप का अनुमान होता है। पहले का रूपक्षण सजातीय अन्य रूपक्षण रूप कार्य को उत्पन्न करता हुआ ही विजातीय रस लक्षण कार्य को करता है, इस प्रकार से रूप के अनुमान की इच्छा करने वाले बौद्धों को कोई कारण रूप हेतु इष्ट ही है; क्योंकि पूर्वकाल के रूप क्षण का सजातीय अन्य रूप क्षण के साथ कोई व्यभिचार नहीं पाया जाता है। अन्यथा रस के समकाल में ही रूप की जानकारी नहीं हो सकती थी।

पत्तेरयोगात् । न ह्यनुकूलमात्रमन्त्यक्षणप्राप्तं वा कारणं लिङ्गमिष्यते; येन मणि-मन्त्रादिना सामर्थ्यप्रतिबन्धात्कारणान्तरवैकल्येन वा कार्यव्यभिचारित्वं स्यात् । द्वितीयक्षणे कार्यप्रत्यक्षीकरणेनानुमानानर्थक्यं वा; कार्याविनाभावितया निश्चितस्य विशिष्टकारणस्य छत्रादेर्लिङ्गत्वेनाङ्गीकरणात् । यत्र सामर्थ्याप्रतिबन्धः कारणान्तरावैकल्यं निश्चियते, तस्यैव लिङ्गत्वं; नान्यस्येति नोक्तदोषप्रसङ्गः ।

इदानीं पूर्वोत्तरचरयोः स्वभावकार्यकारणेष्वनन्तर्भावाद् भेदान्तरत्वमेवेति दर्शयति—

न च पूर्वोत्तरचारिणोस्तादात्म्यं तदुत्पत्तिर्वा, कालव्यवधाने तदनुपलब्धेः ॥ ५७ ॥

तादात्म्यसम्बन्धे साध्यसाधनयोः स्वभावहेतावन्तर्भावः, तदुत्पत्तिसम्बन्धे च

हमें अनुकूल मात्र अथवा अन्त्य क्षण प्राप्त (कार्य उत्पन्न होने के अव्यवहित पूर्व क्षण प्राप्त तन्तुसंयोग रूप) कारण को लिङ्ग मानना इष्ट नहीं है । (यहाँ पर मात्र शब्द के ग्रहण से कार्य के साथ कारण के अविनाभाव का निराकरण किया है) । जैसे दीपक में बहुत क्षण उत्पन्न होते हैं और विनाश को प्राप्त होते हैं, फिर भी प्रदीप के विनाश काल में जो अन्त्यक्षण है, वह उत्तरक्षण उत्पन्न नहीं करता है, उस प्रकार का स्वीकार नहीं है । जिससे मणि-मन्त्रादि के द्वारा सामर्थ्य के प्रतिबन्ध से अथवा अन्य सहकारी कारणों की विकलता से वह कार्य के साथ व्यभिचारपने को प्राप्त हो । द्वितीय क्षण में कार्य के प्रत्यक्ष करने से अनुमान की व्यर्थता हो; क्योंकि अविनाभाव रूप से निश्चित विशिष्ट कारण रूप क्षत्रादि को हमने लिङ्ग रूप से स्वीकार किया है । जहाँ पर सामर्थ्य का प्रतिबन्ध न होना और अन्य कारणों की अविकलता निश्चित की जाती है, उसके ही लिङ्गपना माना है, अन्य के नहीं । इस प्रकार उक्त दोष का प्रसंग प्राप्त नहीं होता ।

अब पूर्वचर और उत्तरचर हेतु भी भिन्न ही है; क्योंकि वे स्वभाव हेतु, कार्य हेतु और कारण हेतुओं में अन्तर्भूत नहीं होते, इस बात को दिखलाते हैं—

सूत्रार्थ—पूर्वचर और उत्तरचर हेतुओं का साध्य के साथ तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है, तदुत्पत्ति सम्बन्ध भी नहीं है; क्योंकि काल का व्यवधान होने पर इन दोनों सम्बन्धों की उपलब्धि नहीं होती है ॥ ५७ ॥

साध्य-साधन में तादात्म्य सम्बन्ध के होने पर स्वभाव हेतु में अन्त-

कार्ये कारणे वाऽन्तर्भावो विभाव्यते। न च तदुभयसम्भव;; कालव्यवधाने तदनुपलब्धेः। सहभाविनोरेव तादात्म्यसम्भवात्, अनन्तरयोरेव पूर्वोत्तरक्षणयोर्हेतुफलभावस्य दृष्टत्वात्; व्यवहितयोस्तदघटनात्।

ननु कालव्यवधानेऽपि कार्यकारणभावो दृश्यत एव; यथा जाग्रत्प्रबुद्धदशाभाविप्रबोधयोर्मरणारिष्टयोर्वेति। तत्परिहारार्थमाह—

भाव्यतीतयोर्मरणजाग्रद्बोधयोरपि नारिष्टोद्बोधाप्रतिहेतुत्वम् ॥ ५८

सुगममेतत्।

अत्रैवोपपत्तिमाह—

तद्व्यापाराश्रितं हि तद्भावभावित्वम् ॥ ५९ ॥

हिशब्दो यस्मादर्थे। यस्मात्तस्य कारणस्य भावे कार्यस्य भावित्वं तद्भाव-

---

भवि होता है और तदुत्पत्ति सम्बन्ध के होने पर कार्य या कारण हेतु में अन्तर्भाव होता है। पूर्वचर और उत्तरचर हेतु में तादात्म्य और तदुत्पत्ति सम्बन्ध नहीं है; क्योंकि काल का व्यवधान होने पर इन दोनों सम्बन्धों की उपलब्धि नहीं होती है। सहभावियों में ही तादात्म्य सम्भव है, व्यवधान से रहित पूर्वोत्तर क्षण में हेतु और फलभाव (कारण-कार्य भाव) देखा जाता है। जिनमें काल का व्यवधान है, उनमें तादात्म्य और कारण कार्य भाव घटित नहीं होता है।

बौद्ध—काल का व्यवधान होने पर भी कार्य-कारणभाव देखा ही जाता है; जैसे—जाग्रत (सोने से पूर्व की अवस्था) और (सोने के पश्चात् की अवस्था) प्रबुद्ध दशा भावी प्रबोध तथा मरण एवं अरिष्ट में कार्य-कारणभाव देखा जाता है।

बौद्धों के इस कथन का परिहार करने के लिए कहते हैं—

सूत्रार्थ—भावी मरण और अतीत जाग्रद् बोध के भी अरिष्ट (अपशकुन और उत्पत्ति) और उद्बोध (जाग्रत अवस्था का बोध) के प्रति कारणपना नहीं है ॥ ५८ ॥

यह सूत्र सुगम है।

यहाँ युक्ति देते हैं—

सूत्रार्थ—कारण के व्यापार के आश्रित ही कार्य का व्यापार हुआ करता है ॥ ५९ ॥

हि शब्द यस्मात् के अर्थ में है। क्योंकि कारण होने पर कार्य का होना

भावित्वम् । तच्च तद्व्यापाराश्रितम्, तस्मान्न प्रकृतयोः कार्यकारणभाव इत्यर्थः । अयमर्थः—अन्वय-व्यतिरेकसमधिगम्यो हि सर्वत्र कार्यकारणभावः । तौ च कार्यम्प्रति कारणव्यापारसव्यपेक्षावेवोपपद्येते कुलालस्येव कलशम्प्रति । न चातिव्यवहितेषु तद्व्यापाराश्रितत्वमिति ।

सहचरस्याप्युक्तहेतुष्वनन्तर्भावं दर्शयति—

सहचारिणोरपि परस्परपरिहारेणावस्थानात्सहोत्पादाच्च ॥६०

हेत्वन्तरत्वमिति शेषः । अयमभिप्रायः—परस्परपरिहारेणोपलम्भात्तादात्म्यासम्भवात्स्वभावहेतावनन्तर्भावः । सहोत्पादाच्च न कार्ये कारणे वेति । न च समानसमयवर्तिनोः कार्यकारणभावः, सव्येतरगोविषाणवत् । कार्यकारणयोः प्रति-

---

तद्भावभावित्व है । कार्य कारण के व्यापार के आश्रित है अतः प्रकृत में (अतीत जाग्रद्बोध और भावी उद्बोध तथा भावी मरण और वर्तमान अरिष्ट इनमें) कार्य कारणभाव नहीं है, यह तात्पर्य है । सब जगह कार्य-कारण भाव अन्वय-व्यतिरेक से जाना जाता है । अन्वय-व्यतिरेक कार्य के प्रति कारण के व्यापार की अपेक्षा में ही घटित होते हैं, जैसे कुम्भकार का कलश के प्रति अन्वय-व्यतिरेक पाया जाता है (क्योंकि कुम्हार के होने पर कलश की उत्पत्ति होती है, अन्यथा नहीं होती है) । अतिव्यवहित पदार्थों में कारण के व्यापार का आश्रितपना नहीं होता है ।

सहचर हेतु का भी स्वभाव, कार्य और कारण हेतुओं में अन्तर्भाव नहीं होता है, यह दर्शित करते हैं—

सूत्रार्थ—सहचारी पदार्थ परस्पर के परिहार से रहते हैं, अतः सहचर हेतु का स्वभाव हेतु में अन्तर्भाव नहीं हो सकता और वे एक साथ उत्पन्न होते हैं, अतः उनका कार्य हेतु और कारण हेतु में अन्तर्भाव नहीं हो सकता है ।

सूत्र में 'हेत्वन्तरत्व' पद शेष है । यह अभिप्राय है—परस्पर परिहार की प्राप्ति से तादात्म्य सम्बन्ध असम्भव होने से (जिन दो पदार्थों की परस्पर परिहार रूप से विभिन्नता पाई जाती है) उनका स्वभाव हेतु में अन्तर्भाव नहीं होता है । सहचारी पदार्थों के एक साथ उत्पन्न होने से कार्य हेतु अथवा कारण हेतु में भी अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता है । एक साथ उत्पन्न होने वालों में बायें और दक्षिण सींग के समान कार्यकारणभाव नहीं होता है । यदि एक साथ उत्पन्न होने वाले पदार्थों में कार्य-कारण भाव माना जाय तो कार्य-कारण के प्रतिनियम का

नियमाभावप्रसङ्गाच्च । तस्माद्धेत्वन्तरत्वमेवेति ।

इदानीं व्याप्यहेतुं क्रमप्राप्तमुदाहरन्तुक्तान्वयव्यतिरेकपुरस्सरं प्रतिपाद्याशयवशात्प्रतिपादितप्रतिज्ञाद्यवयवपञ्चकं प्रदर्शयति—

[1]परिणामी शब्दः; कृतकत्वात् । य एवं स एवं दृष्टो यथा घटः । कृतकश्चायम्, तस्मात्परिणामीति । यस्तु न परिणामी, स न कृतको दृष्टो यथा वन्ध्यास्तनन्धयः । कृतकश्चायम्, तस्मात्परिणामी ॥ ६१ ॥

स्वोत्पत्तावपेक्षितव्यापारो हि भावः कृतक उच्यते । तच्च कृतकत्वं न कूटस्थनित्यपक्षे, नापि क्षणिकपक्षे । किन्तु परिणामित्वे सत्येवेत्यग्रे वक्ष्यते ।

कार्यहेतुमाह—

अस्त्यत्र देहिनि बुद्धिर्व्याहारादेः ॥ ६२ ॥

अभाव हो जायगा अर्थात् कौन कार्य है और कौन उसका कारण है, इस प्रकार का कोई नियम नहीं बन सकेगा । अतः सहचर हेतु को भिन्न कारण मानना चाहिए ।

अब क्रम प्राप्त व्याप्य हेतु का उदाहरण देते हुए अन्वय-व्यतिरेक पूर्वक शिष्य के अभिप्राय के वश प्रतिपादित प्रतिज्ञादि पाँच अवयवों को प्रदर्शित करते हैं—

सूत्रार्थ—शब्द परिणामी है; क्योंकि वह कृतक होता है । जो इस प्रकार अर्थात् कृतक होता है वह इस प्रकार अर्थात् परिणामी देखा जाता है । जैसे—घट । यह शब्द कृतक है, इसलिए परिणामी है । जो परिणामी नहीं होता, वह कृतक भी नहीं देखा जाता है, जैसे कि वन्ध्या का पुत्र । कृतक यह शब्द है, अतः वह परिणामी है ॥ ६१ ॥

अपनी उत्पत्ति में अपेक्षित व्यापार वाला पदार्थ कृतक कहा जाता है । वह कृतकपना न कूटस्थनित्य पक्ष में बनता है और न क्षणिक पक्ष में, किन्तु परिणामी होने पर ही कृतकपना सम्भव है, यह बात आगे कहेंगे ।

कार्य हेतु के विषय में कहते हैं—

सूत्रार्थ—इस देही में बुद्धि है; क्योंकि इसमें वचन, व्यापार, आकार

---

१. पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिस्थितिलक्षणः परिणामः, सोऽस्यास्तीति स परिणामी । पूर्वावस्थामप्यजहन् संस्पृशन् धर्ममुत्तरम् । स्वस्मादप्रच्युतो धर्मी परिणामी स उच्यते ॥ १ ॥

कारणहेतुमाह—

अस्त्यत्रच्छाया छत्रात् ॥ ६३ ॥

अथ पूर्वचरहेतुमाह—

उदेष्यति शकटं कृत्तिकोदयात् ॥ ६४ ॥

मुहूर्तान्ते इति सम्बन्धः ।

अथोत्तरचरः—

उद्गाद्भरणिः प्राक्तत एव ॥ ६५ ॥

अत्रापि मुहूर्तात्प्रागिति सम्बन्धनीयम्; तत एव कृत्तिकोदयादेवेत्यर्थः ।

सहचरलिङ्गमाह—

अस्त्यत्र मातुलिंगे रूपं रसात् ॥ ६६ ॥

विरुद्धोपलब्धिमाह—

विरुद्धतदुपलब्धिः प्रतिषेधे तथा ॥ ६७ ॥

विशेष आदि पाया जाता है ॥ ६२ ॥

कारण हेतु के विषय में कहते हैं—

सूत्रार्थ—यहाँ पर छाया है; क्योंकि छत्र पाया जाता है ॥ ६३ ॥

अब पूर्वचर हेतु के विषय में कहते हैं—

सूत्रार्थ—(एक मुहूर्त के बाद) शकट (रोहिणी नक्षत्र) का उदय होगा; क्योंकि कृत्तिका का उदय हुआ है ॥ ६४ ॥

यहाँ मुहूर्तान्त पद से सम्बन्ध है ।

अब उत्तरचर हेतु के विषय में कहते हैं—

सूत्रार्थ—भरणी का उदय एक मुहूर्त के पूर्व ही हो चुका है; क्योंकि कृत्तिका का उदय पाया जाता है ॥ ६५ ॥

यहाँ 'मुहूर्तात् प्राक्', पद जोड़ लेना चाहिए । 'तत एव' पद से 'कृत्तिकोदयात् एव' अर्थ ग्रहण करना चाहिए ।

सहचरलिंग के विषय में कहते हैं—

सूत्रार्थ—इस मातुलिंग में रूप है; क्योंकि रस पाया जाता है ॥६६॥

विरुद्धोपलब्धि के विषय में कहते हैं—

सूत्रार्थ—नास्तित्व साध्य होने पर प्रतिषेध्य साध्य से विरुद्ध तत्संबंधी व्याप्यादि की उपलब्धि छह प्रकार की होती है ॥ ६७ ॥

प्रतिषेधे साध्ये प्रतिषेध्येन विरुद्धानां सम्बन्धिनस्ते व्याप्यादयस्तेषामुपलब्धस्य इत्यर्थः। तथेति षोढेति भावः।

तत्र साध्यविरुद्धव्याप्योपलब्धिमाह—

नास्त्यत्र शीतस्पर्शः औष्ण्यात् ॥ ६८ ॥

शीतस्पर्शप्रतिषेध्येन हि विरुद्धोऽग्निः, तद्व्याप्यमौष्ण्यमिति।

विरुद्धकार्योपलम्भमाह—

नास्त्यत्र शीतस्पर्शो धूमात् ॥ ६९ ॥

अत्रापि प्रतिषेध्यस्य साध्यस्य शीतस्पर्शस्य विरुद्धोऽग्निः, तस्य कार्यं धूम इति।

विरुद्धकारणोपलब्धिमाह—

नास्मिन् शरीरिणि सुखमस्ति हृदयशल्यात् ॥ ७० ॥

सुखविरोधि दुःखम्; तस्य कारणं हृदयशल्यमिति।

प्रतिषेध साध्य होने पर प्रतिषेध के योग्य वस्तु से विरुद्ध पदार्थों के सम्बन्धी जो व्याप्यादि है, उनकी उपलब्धियाँ छह प्रकार की होती हैं। यह भाव है। आदि शब्द से कार्य, कारण, पूर्व, उत्तर, सहचर ग्रहण किये जाते हैं।

उनमें से साध्यविरुद्ध व्याप्योपलब्धि के विषय में कहते हैं—

सूत्रार्थ—यहाँ पर शीत स्पर्श नहीं हैं, क्योंकि उष्णता पायी जाती है॥ ६८॥

शीत स्पर्श प्रतिषेध्य की विरोधी अग्नि है, उसकी व्याप्य उष्णता पायी जा रही है।

विरुद्ध कार्योपलब्धि हेतु के विषय में कहते हैं—

सूत्रार्थ—यहाँ शीतस्पर्श नहीं है; क्योंकि धूम है॥ ६९॥

यहाँ भी प्रतिषेध के योग्य साध्य जो शीतस्पर्श उसकी विरुद्ध जो अग्नि, उसका कार्य धूम पाया जाता है।

विरुद्धकारणोपलब्धि के विषय में कहते हैं—

सूत्रार्थ—इस प्राणी में सुख नहीं है; क्योंकि हृदय में शल्य पाई जाती है॥ ७०॥

सुख का विरोधी दुःख है, उसका कारण हृदय की शल्य है।

विरुद्धपूर्वचरमाह—

नोदेष्यति मुहूर्त्तान्ते शकटं रेवत्युदयात् ॥ ७१ ॥

शकटोदयविरुद्धो ह्यश्विन्युदयः, तत्पूर्वचरो रेवत्युदय इति ।

विरुद्धोत्तरचर लिङ्गमाह—

नोदगाद्भरणिर्मुहूर्त्तात्पूर्वं पुष्योदयात् ॥ ७२ ॥

भरण्युदयविरुद्धो हि पुनर्वसूदयः, तदुत्तरचरः पुष्योदय इति ।

विरुद्धसहचरमाह—

नास्त्यत्र भित्तौ परभागाभावोऽर्वाग्भागदर्शनात् ॥ ७३ ॥

परभागाभावस्य विरुद्धस्तद्भावः, तत्सहचरोऽर्वाग्भाग इति ।

अविरुद्धानुपलब्धिभेदमाह—

अविरुद्धानुपलब्धिः प्रतिषेधे सप्तधा—स्वभावव्यापक-कार्यकारणपूर्वोत्तरसहचरानुपलम्भभेदात् ॥ ७४ ॥

विरुद्ध पूर्वचर के विषय में कहते हैं—

सूत्रार्थ—एक मुहूर्त के पश्चात् रोहिणी का उदय नहीं होगा; क्योंकि अभी रेवती नक्षत्र का उदय हो रहा है ॥ ७१ ॥

यहाँ पर शकट के उदय का विरोधी अश्विनी का उदय है, उसका पूर्वचर रेवती नक्षत्र है, उसका उदय पाया जाने से यह विरुद्ध पूर्वचरोपलब्धि का उदाहरण है ।

विरुद्धोत्तरचर हेतु को कहते हैं—

सूत्रार्थ—एक मुहूर्त पहले भरणी नक्षत्र का उदय नहीं हुआ है; क्योंकि अभी पुष्य नक्षत्र का उदय पाया जा रहा है ॥ ७२ ॥

भरणी के उदय का विरोधी पुनर्वसु नक्षत्र का उदय है । उसका उत्तरचर पुष्य नक्षत्र का उदय है ।

विरुद्ध सहचरोपलब्धि हेतु के विषय में कहते हैं—

सूत्रार्थ—इस भित्ति में दूसरे भाग का अभाव नहीं है; क्योंकि प्रथम भाग दिखाई दे रहा है ॥ ७३ ॥

परभाग के अभाव का विरोधी उसका सद्भाव है, उसका सहचारी इस ओर का भाग पाया जाता है ।

अविरुद्धानुपलब्धि के भेद को कहते हैं—

सूत्रार्थ—अभाव साध्य होने पर अविरुद्धानुपलब्धि सात प्रकार की होती है—१. अविरुद्ध स्वभावानुपलब्धि २. अविरुद्ध व्यापकानुपलब्धि

स्वभावादिपदानां द्वन्द्वः, तेषामनुपलम्भ इति पश्चाच्छष्ठीतत्पुरुषसमासः ।

स्वभावानुपलम्भोदाहरणमाह—

नास्त्यत्र भूतले घटोऽनुपलब्धेः ॥ ७५ ॥

अत्र पिशाच-परमाण्वादिभिर्व्यभिचारपरिहारार्थमुपलब्धिलक्षणप्राप्तस्वे सतीति विशेषणमुन्नेयम् ।

व्यापकानुपलब्धिमाह—

नास्त्यत्र शिंशपा वृक्षानुपलब्धे ॥ ७६ ॥

शिंशपात्वं हि वृक्षत्वेन व्याप्तम्; तद्भावे तद्व्याप्यशिंशपाया अप्यभावः ।

कार्यानुपलब्धिमाह—

नास्त्यत्राप्रतिबद्धसामर्थ्योऽग्निर्धूमानुपलब्धेः ॥ ७७ ॥

अप्रतिबद्धसामर्थ्यं हि कार्यंप्रत्यनुपहतशक्तिकत्वमुच्यते । तदभावश्च कार्यानुपलम्भादिति ।

---

३. अविरुद्ध कार्यानुपलब्धि ४. अविरुद्ध कारणानुपलब्धि ५. अविरुद्ध पूर्वचरानुपलब्धि ६. अविरुद्ध उत्तरचरानुपलब्धि और ७. अविरुद्ध सहचरानुपलब्धि ।

स्वभाव, व्यापक आदि पदों का द्वन्द्व समास करना, पीछे उनका अनुपलम्भ पद के साथ षष्ठी तत्पुरुष समास करना चाहिये ।

स्वभावानुपलम्भ का उदाहरण कहते हैं—

सूत्रार्थ—इस भूतल पर घट नहीं है, क्योंकि उपलब्धि योग्य स्वभाव के होने पर भी वह नहीं पाया जा रहा है ॥ ७५ ॥

यहाँ पर पिशाच और परमाणु आदिक से व्यभिचार के परिहारार्थ 'उपलब्धिलक्षण प्राप्ति के योग्य होने पर भी', यह विशेषण ऊपर से लगाना चाहिए ।

व्यापकानुपलब्धि हेतु के विषय में कहते हैं—

सूत्रार्थ—यहाँ पर शीशम नहीं है; क्योंकि वृक्ष नहीं पाया जा रहा है ॥ ७६ ॥

शिंशपात्व वृक्षत्व के साथ व्याप्त है; वृक्षत्व का अभाव होने पर उसके व्याप्य शिंशपात्व का भी अभाव है ।

कार्यानुपलब्धि के विषय में कहते हैं—

सूत्रार्थ—यहाँ पर अप्रतिबद्ध सामर्थ्य वाली अग्नि नहीं है; क्योंकि धूम नहीं पाया जाता ॥ ७७ ॥

जिसकी सामर्थ्य अप्रतिबद्ध है, ऐसा कारण अपने कार्य के प्रति

कारणानुपलब्धिमाह—

नास्त्यत्र धूमोऽनग्नेः ॥ ७८ ॥

पूर्वचरानुपलब्धिमाह—

न भविष्यति मुहूर्त्तान्ते शकटं कृत्तिकोदयानुपलब्धेः ॥ ७९ ॥

उत्तरचरानुपलब्धिमाह—

नोदगादुरणिर्मुहूर्त्तात्प्राक् तत एव ॥ ८० ॥

तत एव कृत्तिकोदयानुपलब्धेरेवेत्यर्थः ।

सहचरानुपलब्धिः प्राप्तकालेत्याह—

नास्त्यत्र समतुलायामुन्नामो नामानुपलब्धेः ॥ ८१ ॥

विरुद्धकार्याद्यनुपलब्धिर्विधौ सम्भवतीत्याचक्षाणस्तद्भेदास्त्रय एवेति तानेव प्रदर्शयितुमाह—

विरुद्धानुपलब्धिर्विधौ त्रेधा—विरुद्धकार्यकारणस्वभावानुपलब्धिभेदात् ॥८२॥

अनुपहत शक्ति वाला कहा जाता है। यहाँ अप्रतिहत शक्ति वाली अग्नि का अभाव उसके कार्य धूम के नहीं पाए जाने से है।

कारणानुपलब्धि के विषय में कहते हैं—

सूत्रार्थ—यहाँ पर धूम नहीं है; क्योंकि अग्नि नहीं है ॥ ७८ ॥

पूर्वचरानुपलब्धि के विषय में कहते हैं—

सूत्रार्थ—एक मुहूर्त के पश्चात् रोहिणी का उदय नहीं होगा; क्योंकि कृत्तिका के उदय की अनुपलब्धि है ॥ ७९ ॥

उत्तरचरानुपलब्धि के विषय में कहते हैं—

सूत्रार्थ—एक मुहूर्त से पहले भरणी का उदय नहीं हुआ है; क्योंकि उत्तरचरकृत्तिका का उदय नहीं पाया जाता है ॥ ८० ॥

सूत्र में 'तत एव' पद से कृत्तिका के उदय की अनुपलब्धि का अर्थ लिया गया है।

अब जिसका समय प्राप्त हुआ है, ऐसी सहचरानुपलब्धि के विषय में कहते हैं—

सूत्रार्थ—इस समतुला में एक ओर ऊँचापन नहीं है; क्योंकि उन्नाम का अविरोधी सहचर नहीं पाया जाता है ॥ ८१ ॥

विरुद्ध कार्यानुपलब्धि आदि हेतु विधि में सम्भव हैं और उसके भेद तीन ही हैं, यह प्रदर्शित करने के लिए कहते हैं—

सूत्रार्थ—विधि के अस्तित्व को सिद्ध करने में विरुद्धानुपलब्धि के

विरुद्धकार्याद्यनुपलब्धिविधौ सम्भवतीति विरुद्धकार्यकारणस्वभावानुपलब्धिरिति।

तत्र विरुद्धकार्यानुपलब्धिमाह—

यथास्मिन् प्राणिनि व्याधिविशेषोऽस्ति; निरामयचेष्टानुपलब्धेः ॥ ८३ ॥

व्याधिविशेषस्य हि विरुद्धस्तदभावः, तस्य कार्यं निरामयचेष्टा, तस्या अनुपलब्धिरिति।

विरुद्धकारणानुपलब्धिमाह—

अस्त्यत्र देहिनि दुःखमिष्टसंयोगाभावात् ॥ ८४ ॥

दुःखविरोधि सुखम्, तस्य कारणमिष्टसंयोगस्तदनुपलब्धिरिति।

विरुद्धस्वभावानुपलब्धिमाह—

अनेकान्तात्मकं वस्त्वेकान्तस्वरूपानुपलब्धेः ॥ ८५ ॥

अनेकान्तात्मकविरोधी नित्यायेकान्तः, न पुनस्तद्विषयविज्ञानम्, तस्य मिथ्या-

---

तीन भेद हैं—(१) विरुद्ध कार्यानुपलब्धि (२) विरुद्ध कारणानुपलब्धि और (३) विरुद्ध स्वभावानुपलब्धि।

विरुद्ध कार्यानुपलब्धि के विषय में कहते हैं—

सूत्रार्थ—जैसे इस प्राणी में व्याधिविशेष है; क्योंकि निरामय चेष्टा की अनुपलब्धि है ॥ ८३ ॥

व्याधिविशेष के सद्भाव का विरोधी उसका अभाव है, उसका कार्य निरामय चेष्टा है, उसको यहाँ अनुपलब्धि है।

विरुद्ध कारणानुपलब्धि के विषय में कहते हैं—

सूत्रार्थ—इस प्राणी में दुःख है; क्योंकि इष्ट संयोग का अभाव है ॥ ८४ ॥

दुःख का विरोधी सुख है, उसका कारण इष्ट संयोग है, उसकी अनुपलब्धि।

विरुद्ध स्वभावानुपलब्धि के विषय में कहते हैं—

सूत्रार्थ—वस्तु अनेकान्तात्मक है; क्योंकि वस्तु का एकान्त स्वरूप पाया नहीं जाता है ॥ ८५ ॥

अनेकान्तात्मक साध्य का विरोधी नित्यत्व आदि एकान्त है, न कि

ज्ञानरूपयोपलम्भसम्भवात् । तस्य स्वरूपमवास्तवाकारस्तस्यानुपलब्धिः ।

ननु च व्यापकविरुद्धकार्यादीनां परम्परयाऽविरोधिकार्यादिलिङ्गानां च बहुलमुपलम्भसम्भवात्तान्यपि किमिति नाचार्यैरुदाहृतानीत्याशङ्क्यायामाह—

परम्परया सम्भवत्साधनमत्रैवान्तर्भावनीयम् ॥ ८६ ॥

अत्रैवैतेषु कार्यादिष्वित्यर्थः ।

तस्यैव साधनोस्योपलक्षणार्थमुदाहरणद्वयं प्रदर्शयति—

अभूदत्र चक्रे शिवकः स्थासात् ॥ ८७ ॥

एतच्च किंसञ्ज्ञिकं क्वान्तर्भवतीत्यारेकायामाह—

कार्यकार्यमविरुद्धकार्योपलब्धौ ॥ ८८ ॥

अन्तर्भावनीयमिति सम्बन्धः । शिवकस्य हि कार्यं छत्रकम्, तस्य कार्यं स्थास इति ।

एकान्त पदार्थ को विषय करने वाला विज्ञान; क्योंकि मिथ्याज्ञान के रूप से उसकी उपलब्धि संभव है। नित्यादि एकान्त का स्वरूप अवास्तविक है, अतः उसकी अनुपलब्धि है।

शंका—व्यापक विरुद्ध कार्यादि हेतु और परम्परा से अविरोधी कार्यादि हेतुओं का पाया जाना बहुलता से सम्भव है। उनके उदाहरण आचार्यों ने क्यों नहीं दिए ?

समाधान—इस प्रकार की शङ्का होने पर कहते हैं—

सूत्रार्थ—परम्परा से जो साधनरूप हेतु सम्भव हैं, उनका इन दो ही हेतुओं में अन्तर्भाव कर लेना चाहिए ॥ ८६ ॥

सूत्र में आए हुए 'अत्रैव' का तात्पर्य है—यहीं कार्यादि में।

उसी साधन के उपलक्षण के लिए दो उदाहरण दिखलाते हैं—

सूत्रार्थ—इस चक्र पर शिवक हो गया है; क्योंकि स्थास पाया जा रहा है ॥ ८७ ॥

इस हेतु की क्या संज्ञा है और इसका अन्तर्भाव कहाँ होता है ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

सूत्रार्थ—कार्य के कार्य रूप उक्त हेतु का अविरुद्ध कार्योपलब्धि में अन्तर्भाव करना चाहिए ॥ ८८ ॥

यहाँ 'अन्तर्भावनीयम्' पद जोड़ लेना चाहिए। शिवक का कार्य छत्रक है और उसका कार्य स्थास है।

दृष्टान्तद्वारेण द्वितीयहेतुमुदाहरति—

नास्त्यत्र गुहायां मृगकीडनं मृगारिसंशब्दनात् । कारण-विरुद्धकार्यं विरुद्धकार्योपलब्धौ यथा ॥ ८९ ॥

मृगक्रीडनस्य हि कारणं मृगस्तस्य विरोधी मृगारिस्तस्य कार्यं तच्छब्दनमिति । इदं यथा विरुद्धकार्योपलब्धावन्तर्भवति, तथा प्रकृतमपीत्यर्थः ।

बालव्युत्पत्त्यर्थं पञ्चावयवप्रयोग इत्युक्तम् । व्युत्पन्नम्प्रति कथं प्रयोगनियम इति शङ्कायामाह—

व्युत्पन्नप्रयोगस्तु तथोपपत्त्याऽन्यथानुपपत्त्यैव वा ॥ ९० ॥

व्युत्पन्नस्य व्युत्पन्नाय वा प्रयोगः, क्रियत इति शेषः । तथोपपत्त्या तथा साध्ये सत्येवोपपत्तिस्तयाऽन्यथानुपपत्त्यैव वाऽन्यथा साध्याभावेऽनुपपत्तिस्तया ।

तामेवानुमानमुद्रामुन्मुद्रयति—

अग्निमानयं देशस्तथैव धूमवत्त्वोपपत्तेर्धूमवत्त्वान्यथानुपपत्तेर्वा ॥ ९१ ॥

दृष्टान्त के द्वारा द्वितीय हेतु का उदाहरण देते हैं—

सूत्रार्थ—इस गुफा में मृग की क्रीडा नहीं है; क्योंकि सिंह का शब्द हो रहा है । यह कारणविरुद्ध कार्य रूप हेतु है, इसका विरुद्धकार्योपलब्धि में अन्तर्भाव करना चाहिए ॥ ८९ ॥

मृग की क्रीड़ा का कारण मृग है, उसका विरोधी सिंह है, उसका कार्य उसकी गर्जना है । यह जैसे विरुद्ध कार्योपलब्धि के अन्तर्भूत होता है, उसी प्रकार कार्य रूप हेतु का अविरुद्ध कार्योपलब्धि में अन्तर्भाव होता है ।

बाल व्युत्पत्ति के लिए अनुमान के पाँचों अवयवों का प्रयोग किया जा सकता है, ऐसा आपने कहा है । व्युत्पन्न पुरुष के प्रति प्रयोग का क्या नियम है, इस प्रकार की शंका होने पर कहते हैं—

सूत्रार्थ—व्युत्पन्न प्रयोग तथोपपत्ति अथवा अन्यथानुपपत्ति के द्वारा करना चाहिए ॥ ९० ॥

व्युत्पन्न का अथवा व्युत्पन्न के लिए प्रयोग करना चाहिए । सूत्र में 'क्रियत' पद शेष है । साध्य के होने पर ही साधन के होने को तथोपपत्ति कहते हैं और साध्य के अभाव में साधन के अभाव को अन्यथानुपपत्ति कहते हैं । उसके द्वारा व्युत्पन्न प्रयोग करना चाहिए ।

उसी अनुमानमुद्रा को प्रकट करते हैं—

सूत्रार्थ—यह प्रदेश अग्नि वाला है; क्योंकि तथैव अर्थात् अग्नि वाला

ननु तदतिरिक्त-दृष्टान्तादेरपि व्याप्तिप्रतिपत्तावुपयोगित्वात् व्युत्पन्नापेक्षया कथं तदप्रयोग इत्याह—

हेतुप्रयोगो हि यथा व्याप्तिग्रहणं विधीयते सा च तावन्मात्रेण व्युत्पन्नैरवधार्यते ॥ ९२ ॥

हि शब्दो यस्मादर्थे । यस्माद्यथा व्याप्तिग्रहणं व्याप्तिग्रहणानतिक्रमेणैव हेतुप्रयोगो विधीयते सा च तावन्मात्रेण व्युत्पन्नैस्तथोपपत्त्याऽन्यथानुपपत्त्या वाऽवधार्यते दृष्टान्तादिकमन्तरेणैवेत्यर्थः । यथा दृष्टान्तादेर्व्याप्तिप्रतिपत्तिम्प्रत्यनङ्गत्वं तथा प्राक् प्रपञ्चितमिति नेह पुनः प्रतन्यते ।

नापि दृष्टान्तादिप्रयोगः साध्यसिद्धयर्थं फलवानित्याह—

तावता च साध्यसिद्धिः ॥ ९३ ॥

चकार एवकारार्थे । निश्चितविपक्षासम्भवहेतुप्रयोगमात्रेणैव साध्यसिद्धिरित्यर्थः ।

होने पर ही धूमवाला हो सकता है । अग्नि के अभाव में धूमवाला नहीं हो सकता ॥ ९१ ॥

शङ्का—साध्य-साधन के अतिरिक्त दृष्टान्त आदि का प्रयोग भी व्याप्ति के ज्ञान कराने में उपयोगी है, फिर व्युत्पन्न पुरुषों की अपेक्षा से उनका अप्रयोग क्यों ? इसके विषय में (समाधान) कहते हैं—

सूत्रार्थ—जैसे व्याप्ति का ग्रहण हो जाय, उस प्रकार से हेतु का प्रयोग किया जाता है, अतः उतने मात्र से व्युत्पन्न पुरुष व्याप्ति का निश्चय कर लेते हैं ॥ ९२ ॥

हि शब्द यस्मात् अर्थ में है । जैसे व्याप्ति का ग्रहण हो जाय इस प्रकार व्याप्ति के ग्रहण का उल्लंघन न करते हुए हेतु का प्रयोग किया जाता है । वह व्याप्ति उतने मात्र से व्युत्पन्नों के द्वारा तथोपपत्ति अथवा अन्यथानुपपत्ति के द्वारा दृष्टान्तादिक के बिना निश्चित की जाती है, यह तात्पर्य है । जिस प्रकार दृष्टान्तादिक व्याप्ति के ज्ञान के प्रति कारण नहीं हैं, उसका कथन 'एतद्द्वयमेवानुमानाङ्गं' इत्यादि सूत्र की व्याख्या कर चुके हैं, अतः यहाँ पुनः विस्तार नहीं किया जाता है ।

दृष्टान्तादि का प्रयोग साध्य की सिद्धि के लिए फलवान् नहीं है, इसके विषय में कहते हैं—

सूत्रार्थ—उतने मात्र से ही साध्य की सिद्धि हो जाती है ॥ ९३ ॥

'च' शब्द एवकार के अर्थ में है । जिसका विपक्ष में रहना निश्चित

तेन पक्षप्रयोगोऽपि सफल इति दर्शयन्नाह—

तेन पक्षस्तदाधार-सूचनायोक्तः ॥ ९४ ॥

यतस्तथोपपत्त्यन्यथानुपपत्तिप्रयोगमात्रेण व्याप्तिप्रतिपत्तिस्तेन हेतुना पक्षस्तदाधारसूचनाय साध्यव्याप्तसाधनाधारसूचनायोक्तः । ततो यदुक्तं परेण—

तद्भावहेतुभावौ हि दृष्टान्ते तदवेदिनः ।
ख्याप्येते विदुषां वाच्यो हेतुरेव हि केवलः ॥ २२ ॥

इति तन्निरस्तम्; व्युत्पन्नं प्रति यथोक्तहेतुप्रयोगोऽपि पक्षप्रयोगाभावे साधनस्य नियताधारतानवधारणात् ।

अथानुमानस्वरूपं प्रतिपाद्येदानीं क्रमप्राप्तमागमस्वरूपं निरूपयितुमाह—

आप्तवचनादि-निबन्धनमर्थज्ञानमागमः ॥ ९५ ॥

रूप से असम्भव है, ऐसे हेतु के प्रयोगमात्र से ही साध्य की सिद्धि हो जाती है, यह अर्थ है ।

यथोक्त साधन से साध्य की सिद्धि होती है, अतः पक्ष का प्रयोग भी सफल है, इस बात को दिखलाते हुए कहते हैं—

सूत्रार्थ—साधन से व्याप्त साध्य रूप आधार की सूचना के लिए पक्ष कहा जाता है ॥ ९४ ॥

चूँकि तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति के प्रयोग मात्र से व्याप्ति की जानकारी हो जाती है, इस कारण उस आधार की सूचना के लिए—साध्य व्याप्त साधन के आधार की सूचना के लिए पक्ष का प्रयोग किया जाता है । अतः बौद्धों ने जो कहा है—

श्लोकार्थ—जो (अव्युत्पन्न) पुरुष साध्य व्याप्त साधन को नहीं जानते हैं, उनके लिए विज्ञजन दृष्टान्त (महानसादि) में साध्य-साधनभाव या पक्ष-हेतुभाव को कहते हैं, किन्तु विद्वानों के लिए केवल एक हेतु ही कहना चाहिए ॥ २२ ॥

उनके इस कथन का निराकरण कर दिया गया है । व्युत्पन्न पुरुष के प्रति यथोक्त हेतु का प्रयोग करने पर भी पक्ष-प्रयोग के अभाव में साधन के निश्चित नियत आधारता का निश्चय नहीं करता है ।

अब अनुमान के स्वरूप का निरूपण कर इस समय क्रम प्राप्त आगम का स्वरूप निरूपित करने के लिए कहते हैं—

सूत्रार्थ—आप्त के वचन आदि के निमित्त से होने वाले अर्थज्ञान को आगम कहते हैं ॥ ९५ ॥

यो यत्रावञ्चकः स तत्राऽऽप्तः। आप्तस्य वचनम्। आदिशब्देनाङ्गुल्यादिसंज्ञापरिग्रहः। आप्तवचनमादिर्यस्य तत्तथोक्तम्। तन्निबन्धनं यस्यार्थज्ञानस्येति। आप्तशब्दोपादानादपौरुषेयत्वव्यवच्छेदः। अर्थज्ञानमित्यनेनान्यापोहज्ञानस्याभिप्रायसूचनस्य च निरासः।

नन्वसम्भवीदं लक्षणम्; शब्दस्य नित्यत्वेनापौरुषेयात्वादाप्तप्रणीतत्वायोगात्। तन्नित्यत्वं च तदवयवानां वर्णानां व्यापकत्वान्नित्यत्वाच्च। न च तद्व्यापकत्वमसिद्धम्; एकत्र प्रयुक्तस्य गकारादेः प्रत्यभिज्ञया देशान्तरेऽपि ग्रहणात्। स एवायं

विशेष—'अर्थज्ञान आगम है' यह कहने पर प्रत्यक्षादि में अतिव्याप्ति हो जायगी, अतः उसके परिहार के लिए 'वाक्य निबन्धनं' कहा है। वाक्यनिबन्धन अर्थज्ञान आगम है, ऐसा कहने पर भी अपनी इच्छा से कुछ भी बोलने वाले, ठगने वाले लोगों के वाक्य, सोए हुए तथा उन्मत्त पुरुषों के वचनों से उत्पन्न होने वाले अर्थज्ञान में लक्षण के चले जाने से अतिव्याप्ति दोष होगा। अतः आप्त विशेषण लगाया है। आप्तवचन जिसमें कारण है, ऐसा ज्ञान आगम है, ऐसा कहने पर आप्त वाक्य जिसका कर्म है, ऐसे श्रावण प्रत्यक्ष में अतिव्याप्ति दोष हो जायगा, अतः उसके निराकरण के लिए अर्थ विशेषण दिया है। आप्तवचन जिसमें कारण है ऐसा अर्थज्ञान आगम है, ऐसा कहे जाने पर परार्थानुमान में अतिव्याप्ति हो जायगी, अतः उसके परिहार के लिए आदि पद ग्रहण किया गया है।

जो जहाँ अवञ्चक है, वह वहाँ आप्त है। आप्त का वचन आप्तवचन है। आदि शब्द से अङ्गुली आदि का संकेत ग्रहण करना चाहिए। आप्त के वचनादि जिस अर्थज्ञान के कारण हैं, वह आगम प्रमाण है। आप्त शब्द के ग्रहण से अपौरुषेय रूप वेद का निराकरण किया गया है। 'अर्थज्ञान' इस पद से अन्यापोह ज्ञान का तथा अभिप्राय के सूचक शब्द सन्दर्भ का निराकरण किया गया है। (जैसे किसी ने कहा 'घड़ा लाओ', तब जल लाने रूप अर्थ के अभिप्राय को मन में रखकर लाता है। उस समय उसके अभिप्राय की सार्थकता नहीं है, हो सकता है मँगाने वाले का तात्पर्य जल लाने से भिन्न घट से हो।)

मीमांसक—यह लक्षण असम्भव दोष से युक्त है। शब्द नित्य होने से अपौरुषेय है, अतः उसका आप्तप्रणीत होना नहीं बन सकता है। शब्दों की नित्यता उसके अवयवरूप वर्णों की व्यापकता और नित्य होने से सिद्ध है। वर्णों का व्यापकपना असिद्ध भी नहीं है। एकदेश में प्रयुक्त गकार आदि

गकार इति नित्यत्वमपि तयैवावसीयते, कालान्तरेऽपि तस्यैव गकारादेर्निश्चयात्। इतो वा नित्यत्वं शब्दस्य सङ्केतान्यथानुपपत्तेरिति।

तथाहि—गृहीतसङ्केतस्य शब्दस्य प्रध्वंसे सत्यगृहीतसङ्केतः शब्द इदानीमन्य एवोपलभ्यत इति तत्कथमर्थप्रत्ययः स्यात् ? न चासौ न भवतीति स एवायं शब्द इति प्रत्यभिज्ञानस्यान्यत्रापि सुलभत्वाच्च। न च वर्णानां शब्दस्य वा नित्यत्वे सर्वैः सर्वदा श्रवणप्रसङ्गः; सर्वदा तदभिव्यक्तेरसम्भवात्। तदसम्भवश्चाभिव्यञ्जकवायूनां प्रतिनियतत्वात्। न च तेषामनुपपन्नत्वम्; प्रमाणप्रतिपन्नत्वात्। तथाहि—वक्तृमुखनिकटदेशवर्त्तिभिः स्पार्शनेनाध्यक्षेण व्यञ्जका वायवो गृह्यन्ते। दूरदेशस्थितेन मुखसमीपस्थिततूलचलनादनुमीयन्ते। श्रोतृश्रोत्रदेशे शब्दश्रवणान्यथानुपपत्तेरर्थापत्त्यापि निश्चीयन्ते।

वर्ण का प्रत्यभिज्ञान से अन्य देश में भी ग्रहण किया जाता है कि यह वही गकार है। इसी प्रकार वर्णों की नित्यता भी मानी जाती है, कालान्तर में भी उसी गकारादि वर्ण का निश्चय किया जाता है। इस शब्द से यह पदार्थ ग्रहण करना चाहिये, इस प्रकार का सङ्केत अन्यथा नहीं हो सकता, इस अन्यथानुपपत्ति से शब्द नित्य सिद्ध होता है।

इसी बात को स्पष्ट करते हैं—

जिसका सङ्केत ग्रहण किया गया है, ऐसे शब्द के ध्वंस होने पर जिसका सङ्केत ग्रहण नहीं किया गया है, ऐसा शब्द इस समय अन्य ही प्राप्त होता है, तो अर्थ का निश्चय कैसे हो ? अर्थ का निश्चय न होता हो, ऐसा भी नहीं है। यह शब्द वही है, इस प्रकार का प्रत्यभिज्ञान अन्यत्र भी सुलभ है। ऐसा भी नहीं है कि वर्ण अथवा शब्द के नित्य मानने पर सभी लोगों के द्वारा सुनने का प्रसङ्ग आयेगा; क्योंकि वर्णों अथवा शब्दों की सदैव अभिव्यक्ति असम्भव है। उस असम्भवा का कारण यह है कि वर्णों और शब्दों की अभिव्यञ्जक वायु प्रतिनियत हैं। वर्णों या शब्दों की अभिव्यञ्जक वायु का न पाया जाना भी नहीं कह सकते; क्योंकि वायु का सद्भाव प्रमाणों से स्वीकृत है। इसी बात को स्पष्ट करते हैं—

वक्ता के मुख के निकट स्थित पुरुष स्पर्शन प्रत्यक्ष से व्यञ्जक वायु का ग्रहण करते हैं। दूर बैठे हुए पुरुष द्वारा (वक्ता के) मुख के समीप में स्थित वस्त्रादि के हिलने से उनका अनुमान किया जाता है तथा श्रोता के कर्णप्रदेश में शब्द के श्रवण की अन्यथानुपपत्ति रूप अर्थापत्ति के द्वारा भी उन वर्णों का निश्चय किया जाता है।

किञ्च—उत्पत्तिपक्षेऽपि समानोऽयं दोषः । तथाहि—वाय्वाकाशसंयोगा दसमवायिकारणादाकाशाच्च समवायिकारणाद्दिग्देशाद्यविभागेनोत्पद्यमानोऽयं शब्दो न सर्वैरनुभूयते, अपि तु नियत-दिग्देशस्थैरेव । तथाऽभिव्यज्यमानोऽपि नाप्यभिव्यक्तिसाङ्कर्यम्; उभयत्रापि समानत्वादेव । तथाहि—अन्यैस्तालवादि-संयोगैर्यथाऽन्यो वर्णो न क्रियते, तथा ध्वन्यन्तरसारिभिस्तालवादिभिरन्यो ध्वनि-र्नारभ्यते । इत्युत्पत्त्यभिव्यक्तयोः समानत्वे नैकत्रैव पर्यनुयोगावसर इति सर्वं सुस्थम् ।

हे नैयायिक ? तुमने अभिव्यक्ति पक्ष में वर्ण और शब्द की नित्यता मानने पर सदैव सबके श्रवण हो, इस प्रकार दूषण दिया है तो उत्पत्तिपक्ष में भी मेरे द्वारा उसी प्रकार का दोष दिया जाता है, इस प्रकार दोनों जगह समान दोष है। इसी बात को स्पष्ट करते हैं—वायु और आकाश के संयोग रूप असमवायि कारण से तथा आकाश रूप समवायिकारण से दिशा-देश आदि के अविभाग से उत्पन्न होने वाला यह शब्द सभी जनों के सुनने में नहीं आता है, अपितु नियत दिशा और देश में स्थित पुरुषों के द्वारा ही वह सुना जाता है। उसी प्रकार अभिव्यञ्जक वायु के द्वारा अभि-व्यक्त होने वाला भी शब्द सभी के सुनने में नहीं आता, अपितु नियत दिशा और देश में स्थित पुरुषों को वह सुनने में आता है। जैसे दीपक अन्धकार के प्रदेश में विद्यमान घट पटादि का प्रकाशक होता है, उसी प्रकार अभिव्यञ्जक कारणों के मिलने पर वर्ण और शब्दों की अभिव्यक्ति एक साथ हो जाना चाहिये, इस प्रकार अभिव्यक्ति का साङ्कर्य हो जायेगा, यह भी नहीं कह सकते; क्योंकि इस प्रकार का अभिव्यक्ति साङ्कर्य तो नित्य और अनित्य दोनों पक्षों में समान है। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार अन्य तालु आदि के संयोग से अन्य वर्ण उत्पन्न नहीं किया जा सकता, किन्तु तालवादि जिस शब्द का अनुसरण करते हैं, उसे अभि-व्यक्त करते हैं, उसी प्रकार अन्य ध्वनि का अनुसरण करने वाले तालु आदि से अन्य ध्वनि की अभिव्यक्ति नहीं की जा सकती। इस प्रकार उत्पत्ति पक्ष और अभिव्यक्ति पक्ष की समानता होने पर किसी एक-एक पक्ष में आक्षेप नहीं किया जा सकता (कहा भी है—जहाँ पर दोनों को समान दोष हो और उसका परिहार भी एक जैसा हो, उस अर्थ के निरूपण में किसी एक पर प्रश्न नहीं किया जा सकता है)। इस प्रकार हमारा (मीमांसकों का) सब कथन ठीक है।

माभूद्वर्णानां तदात्मकस्य वा शब्दस्य कूटस्थनित्यत्वम्। तथाप्यनादिपरम्पराऽऽयातत्वेन वेदस्य नित्यत्वात् प्रागुक्तलक्षणस्याव्यापकत्वम्। न च प्रवाहनित्यत्वमप्रमाणकमेवास्येति युक्तं वक्तुम्। अधुना तत्कर्तुरनुपलम्भादतीतानागतयोरपि कालयोस्तदनुमापकस्य लिङ्गस्याभावात्। तदभावोऽपि सर्वदाप्यतीन्द्रियसाध्यसाधनसम्बन्धस्येन्द्रियग्राह्यत्वायोगात्। प्रत्यक्षप्रतिपन्नमेव हि लिङ्गम्। 'अनुमानं हि गृहीतसम्बन्धस्यैकदेशसन्दर्शनात्, असन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिः इत्यभिधानात्। नाप्यर्थापत्तेस्तत्सिद्धिः, अनन्यथाभूतस्यार्थस्याभावात्। उपमानोपमेययोरप्रत्यक्षत्वाच्च नाप्युपमानं साधकम्। केवलमभाव[1]प्रमाणमेवावशिष्यते; तच्च तदभावसाधकमिति। न च पुरुषसद्भावबदस्यापि दुःसाध्यत्वात्संशयापत्तिः; तदभावसाधकप्रमाणानां सुलभत्वात्। अधुना हि तदभावः प्रत्यक्षमेव। अतीतानागतयोः

वर्णों की अथवा तदात्मक शब्द की कूटस्थनित्यता न हो, फिर भी अनादि परम्परा से आये हुए वेद की नित्यता के कारण आपका पूर्वोक्त आगम का लक्षण अव्यापक है। वेद की प्रवाहनित्यता अप्रामाणिक है, ऐसा कहना ठीक नहीं है। वर्तमानकाल में उसका कर्त्ता कोई प्राप्त नहीं होता, अतः अतीत और अनागतकाल में वेद के कर्त्ता के अनुमापक लिङ्ग का अभाव है। उसका अभाव भी इसलिये है कि अतीन्द्रिय साध्य और साधन का सम्बन्ध कभी भी इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता है। लिङ्ग तो प्रत्यक्ष के द्वारा परिज्ञात ही होता है। जिसने (साध्य और साधन के अविनाभावरूप) सम्बन्ध को ग्रहण किया है ऐसे पुरुष के ही (साधन रूप) एकदेश के देखने से परोक्ष पदार्थ में जो बुद्धि होती है, वह अनुमान है, ऐसा कहा गया है।

अर्थापत्ति प्रमाण से भी वेद के कर्त्ता की सिद्धि नहीं होती; क्योंकि अनन्यथाभूत पदार्थ का अभाव है। उपमान और उपमेय के अप्रत्यक्ष होने से उपमान भी साधक नहीं है। केवल एक अभाव प्रमाण ही अवशिष्ट रहता है। वह अभाव प्रमाण वेद के कर्त्ता के अभाव का साधक है। जिस प्रकार वेद के कर्त्तारूप पुरुष का सद्भाव सिद्ध करना दुःसाध्य है, उसी प्रकार वेद के कर्त्ता का अभाव सिद्ध करना दुःसाध्य है, अतः संशय की आपत्ति आती है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि वेद के कर्त्ता के अभाव के साधक प्रमाण सुलभ हैं। वर्तमानकाल में वेद के कर्त्ता का

---

१. प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते।
वस्त्वसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता॥ १॥

कालयोरनुमानं तदभावसाधकमिति । तथा च—

अतीतानागतौ कालौ वेदकारविवर्जितौ ।
कालशब्दाभिधेयत्वादिदानीन्तनकालवत् ॥ २३ ॥
वेदस्याध्ययनं सर्वं तदध्ययनपूर्वकम् ।
वेदाध्ययनवाच्यत्वादधुनाध्ययनं यथा ॥ २४ ॥ इति

तथा अपौरुषेयो वेदः, अनवच्छिन्नसम्प्रदायत्वे सत्यस्मर्यमाणकर्तृकत्वादाकाशवत् । अर्थापत्तिरपि प्रामाण्यलक्षणस्यार्थस्यानन्यथाभूतस्य दर्शनात्तदभावे निश्चीयते; धर्माद्यतीन्द्रियार्थविषयस्य वेदस्यावरदर्शिभिः कर्तुमशक्यात् । अतीन्द्रियार्थदर्शिनश्चाभावात्प्रामाण्यमपौरुषेयतामेव कल्पयतीति ।

अत्र प्रतिविधीयते—यत्तावदुक्तं वर्णानां व्यापित्वे नित्यत्वे च प्रत्यभिज्ञा प्रमाणमिति, तदसत्; प्रत्यभिज्ञायास्तत्र प्रमाणत्वायोगात् । देशान्तरेऽपि तस्यैव वर्णस्य सत्त्वे खण्डशः प्रतिपत्तिः स्यात् । न हि सर्वत्र व्याप्त्या वर्तमानस्यैकस्मिन्

अभाव प्रत्यक्ष ही है, अतीत और अनागतकाल अनुमान वेद के कर्त्ता के अभाव का साधक है । कहा भी है—

श्लोकार्थ—अतीत और अनागतकाल वेद को बनाने वाले पुरुष से रहित हैं; क्योंकि वे 'काल' शब्द के वाच्य हैं, जैसे कि इस समय का वर्तमानकाल ॥ २३ ॥

शङ्का—फिर वेद का अध्ययन कैसे सम्भव है ? इसके उत्तर में कहते हैं—

वेद का अध्ययन तदध्ययनपूर्वक है; क्योंकि वह वेदाध्ययन का वाच्य है । जैसे कि वर्तमानकाल का अध्ययन ॥ २४ ॥

तथा वेद अपौरुषेय है; क्योंकि विच्छेदरहित सम्प्रदाय के होने पर भी उसके कर्त्ता का स्मरण नहीं है, जैसे आकाश के कर्त्ता का स्मरण नहीं है । अर्थापत्ति भी प्रामाण्यलक्षण अनन्यथाभूत अर्थ के दर्शन से वेद के कर्त्ता के अभाव का निश्चय कराती है; क्योंकि धर्म आदि अतीन्द्रिय पदार्थों को विषय करने वाले वेद का अल्पज्ञ पुरुषों के द्वारा प्रणयन करना अशक्य है । अतीन्द्रिय पदार्थों के दर्शी (सर्वज्ञ) का अभाव होने से वेद की प्रमाणता उसकी अपौरुषेयता को ही सिद्ध करती है ।

उक्त कथन का उत्तर देते हैं—जो आपने कहा कि वर्णों के व्यापक और नित्य होने में प्रत्यभिज्ञान प्रमाण है, यह ठीक नहीं है; क्योंकि वर्णों के व्यापकत्व और नित्य होने में प्रत्यभिज्ञान के प्रमाणता नहीं है । यदि प्रमाणता हो तो दूसरे स्थान पर भी उसी एक वर्ण का सत्त्व मानने पर

प्रदेशे सामस्त्येन ग्रहणमुपपत्तियुक्तम्; अव्यापकत्वप्रसङ्गात् । घटादेरपि व्यापकत्व-प्रसङ्गश्च । शक्यं हि वक्तुमेवम्—घटः सर्वगतश्चक्षुरादिसन्निधानादनेकत्र देशे प्रतीयत इति ।

ननु घटोत्पादकस्य मृत्पिण्डादेरनेकस्योपलम्भादनेकत्वमेव । तथा महदणुपरि-माणसम्भवाच्चेति । तच्च वर्णेष्वपि समानम्; तत्रापि प्रतिनियततालवादिकारण-कलापस्य तीव्रादिधर्मभेदस्य च सम्भवाविरोधात् । तालवादीनां व्यञ्जकत्वमत्रैव निषेत्स्यत इत्यास्तां तावदेतत् ।

अथ व्यापित्वेऽपि सर्वत्र सर्वात्मना वृत्तिमत्त्वान्न दोषोऽयमिति चेन्न; तथा सति सर्वथैकत्वविरोधात् । न हि देशभेदेन युगपत्सर्वात्मना प्रतीयमानस्यैकत्वमुप-पन्नम्; प्रमाणविरोधात् । तथा च प्रयोगः—प्रत्येकं गकारादिवर्णोऽनेक एव; युग-

---

खण्ड-खण्ड प्राप्ति होगी। (किन्तु खण्डशः प्राप्ति नहीं होती है)। जो व्याप्ति से सब जगह वर्तमान हो, उसका एक प्रदेश में समस्त रूप से ग्रहण युक्तियुक्त नहीं है। एक प्रदेश में समस्त रूप से ग्रहण मानने पर अव्यापकपने का प्रसंग आता है। (वर्ण व्यापक भी हो और एक प्रदेश में सर्वात्मना विद्यमान भी हो तो) घटादि के भी व्यापकपने का प्रसंग आता है। फिर तो यह कहा जा सकता है—घट सर्वगत है; क्योंकि चक्षु आदि के सन्निधान से एक होते हुए भी अनेक स्थानों पर प्रतीति में आता है।

मीमांसक—घट के उत्पादक मिट्टी का पिण्ड, चक्र आदि अनेक कारणों की प्राप्ति होती है तथा महत् और अणु परिमाण भी पाया जाता है (अतः घट के अनेकता है)।

जैन—कारण का भेदपना तो वर्णों में भी समान है। उनमें भी प्रतिनियत तालु, कण्ठ आदि कारण समूह और तीव्र मन्द आदि धर्म भेद के सम्भव होने में कोई विरोध नहीं है।

तालु आदि के व्यञ्जकपने का यहीं निषेध किया जायेगा, अतः यह कथन यहीं रहने दीजिए।

मीमांसक—वर्णों की व्यापकता मानने पर भी सर्वत्र सर्वात्म रूप से उनके पाए जाने पर यह दोष नहीं आता है।

जैन—यह बात ठीक नहीं है। ऐसा होने पर वर्ण की एकता का विरोध आता है। तात्पर्य यह कि यदि व्यापक एक प्रदेश में सम्पूर्ण रूप से है, पुनः अन्यत्र प्रदेश में सम्पूर्ण रूप से है तो अनेकत्वपना प्राप्त हो गया। देशभेद से युगपत् सर्वात्म रूप से प्रतीत होने वाले वर्ण की एकता नहीं बन सकती; क्योंकि प्रमाण से विरोध आता है। तात्पर्य यह

पद्भिन्नदेशतया तथैव सर्वात्मनोपलभ्यमानत्वात्, घटादिवत्। न सामान्येन व्यभिचारः, तस्यापि सदृशपरिणामात्मकस्यानेकत्वात्। नापि पर्वताद्यनेकप्रदेशस्थतया युगपदनेकदेशस्थितपुरुषपरिदृश्यमानेन चन्द्रार्कादिना व्यभिचारः, तस्यातिदविष्ठतयैकदेशस्थितस्यापि भ्रान्तिवशादनेकदेशस्थत्वेन प्रतीतेः। न चाभ्रान्तस्य भ्रान्तेन व्यभिचारकल्पना युक्तेति। नापि जलपात्रप्रतिबिम्बेन, तस्यापि चन्द्रार्कादिसन्निधिमपेक्ष्य तथापरिणममानस्यानेकत्वात्। तस्मादनेकप्रदेशे युगपत्सर्वात्मनोपलभ्यमानविषयस्यैकस्यासम्भाव्यमानत्वात्तत्र प्रवर्तमानं प्रत्यभिज्ञानं न प्रमाणमिति स्थितम्।

तथा नित्यत्वमपि न प्रत्यभिज्ञानेन निश्चीयत इति। नित्यत्वं हि एकस्यानेकक्षणव्यापित्वम्। तच्चान्तराले सत्तानुपलम्भेन न शक्यते निश्चेतुम्। न च प्रत्यभिज्ञानबलेनैवान्तराले सत्तासम्भवः, तस्य सादृश्यादपि सम्भवाविरोधात्। न च

कि एक ही घड़ा प्रत्यक्ष से एकदेश में उपलभ्य होने पर वही अन्यत्र प्राप्त नहीं होता है, इसी प्रकार का वर्ण भी है, इस प्रकार प्रत्यक्षादि प्रमाण से विरोध आता है। प्रयोग इस प्रकार है—

गकार आदि प्रत्येक वर्ण अनेक ही हैं; क्योंकि एक साथ भिन्न-भिन्न देशों में प्रत्येक वर्ण अपने पूर्ण रूप से पाया जाता है, जैसे घटादि। सामान्य एक होते हुए भी अनेकत्र प्रतीति में आता है, अतः उससे उक्त हेतु में व्यभिचार आता है, ऐसा भी नहीं कह सकते; क्योंकि सदृश परिणामात्मक वह सामान्य भी अनेक प्रकार का होता है। पर्वतादि अनेक प्रदेश स्थित रूप से एक साथ अनेक देशस्थ पुरुषों के द्वारा दिखाई देने वाले एक चन्द्र या सूर्य आदि से हेतु में व्यभिचार आता है, यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि चन्द्र सूर्यादि के अति दूरवर्ती होने से एक देशस्थ भी चन्द्र-सूर्यादि को भ्रान्ति के वश अनेक देशस्थ रूप से प्रतीति होती है। अभ्रान्त की भ्रान्त से व्यभिचार कल्पना करना युक्त नहीं है। और न जल से भरे हुए पात्र में दिखाई देने वाले चन्द्र सूर्यादि के प्रतिबिम्ब से व्यभिचार आता है; क्योंकि चन्द्र सूर्यादि के सामीप्य की अपेक्षा कर जल के तथारूप से परिणत उस प्रतिबिम्ब के भी अनेकता है। इसलिए अनेक प्रदेश में एक साथ सर्वात्म रूप से उपलब्ध होने वाले गकारादि का एक होना असम्भव है, अतः उसके व्यापित्व में प्रवर्तमान प्रत्यभिज्ञान प्रमाण नहीं है, यह सिद्ध हुआ।

नित्यता का निश्चय भी प्रत्यभिज्ञान से नहीं होता है। एक वस्तु का अनेकक्षणव्यापी होना नित्यता है। वह अन्तराल में सत्ता के न पाए जाने से निश्चय नहीं की जा सकती है। और प्रत्यभिज्ञान के बल से

घटादावप्येवं प्रसङ्गः; तस्योत्पत्तावपरापरमृत्पिण्डान्तरलक्षणस्य कारणस्यासम्भाव्यमानत्वेनान्तराले सत्तायाः साधयितुं शक्यत्वात्। अत्र तु कारणानामपूर्वाणां व्यापारे सम्भावनाऽतो नान्तराले सत्तासम्भव इति।

यच्चान्यदुक्तम्—'सङ्केतान्यथानुपपत्तेः शब्दस्य नित्यत्वमिति', इदमप्यनात्मज्ञभाषितमेव; अनित्येऽपि योजयितुं शक्यत्वात्। तथाहि—गृहीतसङ्केतस्य दण्डस्य प्रध्वंसे सत्यगृहीतसङ्केत इदानीमन्य एव दण्डः समुपलभ्यत इति दण्डीति न स्यात्। तथा धूमस्यापि गृहीतव्याप्तिकस्य नाशे अन्यधूमदर्शनाद्वह्निविज्ञानाभावश्च। अथ सादृश्यात्तथा प्रतीतेर्न दोष इति चेदत्रापि सादृश्यवशादर्थप्रत्यये को दोषः? येन नित्यत्वेऽत्र दुरभिनिवेश आश्रीयते। तथा कल्पनायामन्तराले सत्त्वमप्यदृष्टं न कल्पितं स्यादिति।

यच्चान्यदभिहितम्—'व्यञ्जकानां प्रतिनियतत्वान्न युगपत् श्रुतिरिति, तदप्य-

---

अन्तराल में वर्णों की सत्ता पाया जाना सम्भव नहीं है, क्योंकि सादृश्य से भी प्रत्यभिज्ञान के सम्भव होने में कोई विरोध नहीं आता है। घटादिक में भी ऐसा प्रसंग नहीं आता; क्योंकि घट की उत्पत्ति में अन्य अन्य मृत्पिण्ड रूप लक्षण वाले कारण की असम्भावना से अन्तराल में सत्ता सिद्ध करना शक्य है। शब्द में तो अपूर्व कारणों के व्यापार की सम्भावना है, अतः अन्तराल में वर्णों की सत्ता सम्भव नहीं है।

और जो कहा गया कि संकेत अन्यथा नहीं हो सकता, अतः शब्द के नित्यता है, यह भी अनात्मज्ञ भाषित ही है; क्योंकि ऐसी योजना तो अनित्य दण्डादि में भी की जा सकती है। इसी को व्याख्या करते हैं—जिसका संकेत ग्रहण किया था, ऐसे दण्ड का विनाश हो जाने पर जिसका संकेत ग्रहण नहीं किया गया है, ऐसा अन्य ही दण्ड इस समय पाया जाता है अतः उस पुरुष को दण्डी नहीं कहा जाना चाहिए। तथा जिसकी व्याप्ति ग्रहण की है, ऐसे धूम के भी नाश हो जाने पर अन्य धूम के देखने से अग्नि का ज्ञान नहीं होना चाहिए। मीमांसक का यदि यह कहना है कि सादृश्य से उस प्रकार की प्रतीति होने में दोष नहीं है तो यहाँ शब्द में भी सादृश्य के वश पदार्थ का निश्चय होने में क्या दोष है? जिससे शब्द की नित्यता में दुराग्रह का आश्रय कर रहे हैं। सादृश्य के वश अर्थ की कल्पना करने पर अन्तराल में नहीं दिखाई देने वाले सत्त्व की भी कल्पना नहीं करनी पड़ेगी।

और अन्य जो कहा कि व्यञ्जक वायुओं के प्रत्येक वर्ण में निश्चित होने से एक साथ शब्दों का सुनना नहीं होता, यह बात भी अशिक्षित

शिक्षितलक्षितम्; समानेन्द्रियग्राह्येषु समानधर्मसु समानदेशेषु विषयिविषयेषु नियमायोगात्। तथाहि—श्रोत्रं समानदेश-समानेन्द्रियग्राह्य-समानधर्मापन्नानामर्थानां ग्रहणाय प्रतिनियतसंस्कारकसंस्कार्यं न भवति, इन्द्रियत्वात्, चक्षुर्वत्। शब्दा वा प्रतिनियतसंस्कारकसंस्कार्या न भवन्ति, समानदेश-समानेन्द्रियग्राह्य-समानधर्मापन्नत्वे सति युगपदिन्द्रियसम्बद्धत्वात्; घटादिवत्। उत्पत्तिपक्षेऽप्ययं दोषः समान इति न वाच्यम्; मृत्पिण्ड-दीपदृष्टान्ताभ्यां कारक-व्यञ्जकपक्षयोर्विशेषसिद्धेरित्यलमतिजल्पितेन।

यच्चान्यत्—प्रवाहनित्यत्वेन वेदस्यापौरुषेयत्वमिति तत्र किं शब्दमात्रस्यानादिनित्यत्वमुत विशिष्टानामिति? आद्यपक्षे य एव शब्दाः लौकिकास्त एव वैदिका इत्यल्पमिदमभिधीयते वेद एवापौरुषेय इति। किन्तु सर्वेषामपि शास्त्राणामपौरुषेयतेति। अथ विशिष्टानुपूर्विका एव शब्दा अनादित्वेनाभिधीयन्ते; तेषामवगतार्थाना-

---

पुरुष के कथन के समान प्रतीत होती है; क्योंकि समान एक कर्णेन्द्रिय से ग्रहण किये जाने वाले, उदात्त, अनुदात्त आदि समान धर्म वाले, आकाश लक्षण समान देश वाले विषय (शब्द)—विषयी (कर्णेन्द्रिय) में प्रतिनियत कारण होने से अभिव्यक्ति के नियम का अयोग होने से एक साथ ग्रहण होता है। इसी बात को स्पष्ट करते हैं—

कर्णेन्द्रिय समान देश, समान इन्द्रियग्राह्य और समान धर्म वाले अर्थों (गकारादि शब्दों) के ग्रहण करने के लिए प्रतिनियत पृथक्-पृथक् लक्षण वाली वायु के संस्कार से संस्कारित नहीं होती है; क्योंकि वह इन्द्रिय है, जैसे—चक्षु। अथवा शब्द प्रतिनियत संस्कारों से संस्कारित नहीं होते हैं; क्योंकि समान देश, समान इन्द्रियग्राह्य और समान धर्म वाले होकर एक साथ श्रोत्र इन्द्रिय से सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं; जैसे—घटादि। उत्पत्ति पक्ष में भी यह दोष समान है, यह नहीं कहना चाहिये; क्योंकि मिट्टी का पिण्ड और दीपक के दृष्टान्त से कारक और व्यञ्जक पक्ष में विशेषता सिद्ध है, अतः अधिक कहने से बस।

और मीमांसकों ने जो प्रवाह की नित्यता से वेद की अपौरुषेयता कही, उस पर हमारा प्रश्न है कि वेद के अपौरुषेयत्व में क्या शब्द मात्र के अनादि नित्यता है या विशिष्ट शब्दों के? आदि पक्ष में जो शब्द लौकिक हैं, वे ही वैदिक हैं। अतः आप अल्प ही यह कहते हैं कि वेद ही अपौरुषेय हैं। अपितु समस्त शास्त्रों की अपौरुषेयता कहना चाहिए। यदि विशिष्ट अनुक्रम से आए शब्द ही अनादि कहे जाते हैं तो उनमें से अवगत शब्दों

मनवगतार्थानां वा अनादिता स्यात् ? यदि तावदुत्तरः पक्षस्तदाऽज्ञानलक्षणमप्रामाण्यमनुषज्यते । अथ आद्य पक्ष आश्रीयते, तद्व्याख्यातारः किञ्ज्ञिज्ञा भवेयुः सर्वज्ञा वा ? प्रथमपक्षे दुरधिगमसम्बन्धानामप्यन्यथाऽप्यर्थस्य कल्पयितुं शक्यत्वात् मिथ्यात्वलक्षणमप्रामाण्यं स्यात् । तदुक्तम्—

अयमर्थो नायमर्थ इति शब्दा वदन्ति न ।
कल्प्योऽयमर्थः पुरुषैस्ते च रागादिविप्लुताः ॥ २५ ॥

किञ्ज्ञ—किञ्ज्ञिज्ञव्याख्यातार्थाविशेषाद् 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इत्यस्य 'खादेच्छ्वमांसम्' इत्यपि वाक्यार्थः किं न स्यात्, संशयलक्षणमप्रामाण्यं वा ।

अथ सर्वविद्विदितार्थ एव वेदोऽनादिपरम्पराऽऽयात इति चेत् 'हन्त धर्मे चोदनैव प्रमाणम्' इति हतमेतत्; अतीन्द्रियार्थप्रत्यक्षीकरणसमर्थस्य पुरुषस्य सद्भावे च तद्वचनस्यापि चोदनावत्तदवबोधकत्वेन प्रामाण्याद्वेदस्य पुरुषाभावसिद्धेस्तत्प्रतिबन्धकं स्यात् ।

के अनादिता है या अनवगत शब्दों के ? यदि उत्तरपक्ष स्वीकार करते हैं तो अज्ञान लक्षण प्रामाण्य का प्रसङ्ग प्राप्त होता है। यदि पहले पक्ष का आश्रय लेते हैं तो उसके व्याख्याता या तो अल्पज्ञ होंगे या सर्वज्ञ ? प्रथम पक्ष में जिन वैदिक वाक्यों के अर्थ का सम्बन्ध कठिनाई से जाना जा सकता है, उनके अर्थ की अल्पज्ञ अन्यथा भी कल्पना कर सकते हैं, इससे मिथ्यात्वलक्षण अप्रामाण्य प्राप्त होता है। वही कहा गया है—

श्लोकार्थ—(मेरा) यह अर्थ है और यह अर्थ नहीं है, यह शब्द नहीं कहते हैं। यह अर्थ पुरुषों के द्वारा कल्पित है और वे पुरुष राग, द्वेष और मोह से बाधित हैं ॥२५॥

दूसरी बात यह है अल्पज्ञ पुरुष के द्वारा व्याख्यान किए गए अर्थ विशेष से 'स्वर्ग की कामना वाला अग्नि होत्र का हवन करे', इस वाक्य का अर्थ 'कुत्ते का मांस खाए', यह क्यों न हो, इस प्रकार संशय लक्षण वाली प्रमाणता क्यों न हो ?

यदि कहो कि सर्वज्ञ के द्वारा ज्ञात ही वेद अनादि परम्परा से आया है तो खेद की बात है कि यज्ञादि धर्म में वेद वाक्य ही प्रमाण हैं, यह कथन नष्ट हो जाता है। क्योंकि धर्मादि अतीन्द्रिय पदार्थों के प्रत्यक्ष करने में समर्थ पुरुष का सद्भाव होने पर अतीन्द्रिय पदार्थ को प्रत्यक्ष करने में समर्थ पुरुष के वचन भी वेद वाक्य के समान अतीन्द्रिय पदार्थ के धर्म के अवबोधक होने से प्रमाणता को प्राप्त होंगे। इस प्रकार यह वाक्य वेद की अपौरुषेयता का प्रतिबन्धक होगा।

अथ तद्व्याख्यातृणां किञ्चिज्ज्ञत्वेऽपि यथार्थव्याख्यानपरम्परायां अनवच्छिन्न-सन्तानत्वेन सत्यार्थं एव वेदोऽवसीयत इति चेन्न; किञ्चिज्ज्ञानामतीन्द्रियार्थेषु निःसंशयव्याख्यानायोगादन्धेनाऽऽकृष्यमाणस्यान्धस्यानिष्टदेशपरिहारेणाभिमतपथप्रापणानुपपत्तेः ।

किञ्च—अनादिव्याख्यानपरम्पराऽऽगतत्वेऽपि वेदार्थस्य गृहीतविस्मृतसम्बन्ध-वचनाकौशलदुष्टाभिप्रायतया व्याख्यानस्यान्यथैव करणादविसंवादायोगादप्रामाण्यमेव स्यात् । दृश्यन्ते ह्यधुनातना अपि ज्योतिःशास्त्रादिषु रहस्यं यथार्थमवयन्तोऽपि दुरभिसन्धेरन्यथा व्याचक्षाणाः । केचिज्ज्ञानन्तोऽपि वचनाकौशलादन्यथोपदिशन्तः । केचिद्विस्मृतसम्बन्धा अयाथातथ्यमभिदधाना इति । कथमन्यथा भावना-विधिनियोग-वाक्यार्थविप्रतिपत्तिर्वेदे स्यान्मनु-याज्ञवल्क्यादीनां श्रुत्यर्थानुसारिस्मृतिनिरूपणायां वा । तस्मादनादिप्रवाहपतितत्वेऽपि वेदस्यायथार्थत्वमेव स्यादिति स्थितम् ।

वेद के व्याख्याता अल्पज्ञ हैं, यथार्थ व्याख्यान की परम्परा से जिसकी सन्तान अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है, ऐसा वेद सत्यार्थ रूप में ही जाना जा रहा है, यदि आपका कथन यह हो तो यह भी ठीक नहीं है। अल्पज्ञ पुरुष अतीन्द्रिय पदार्थों के विषय में निःसन्देह व्याख्यान नहीं कर सकते। जैसे कि अन्धे के द्वारा खींचा जाता हुआ अन्धा अनिष्ट देश को छोड़कर अभीष्ट देश को नहीं पहुँच सकता।

दूसरी बात यह है कि वेद का अर्थ अनादिकाल से चली आ रही व्याख्यान परम्परा द्वारा आया हुआ मान भी लें तो भी गुरु से गृहीत अर्थ का सम्बन्ध विस्मृत हो जाने से या वचन की अकुशलता से अथवा दुष्ट अभिप्राय से यदि अर्थ का व्याख्यान अन्यथा कर दिया जाय तो उसमें यथार्थ तत्त्व की प्रकाशता का अभाव होने से अविसंवादकता न रहने से वह व्याख्यात अर्थ अप्रमाण हो जायगा।

एतत्काल सम्बन्धी भी व्याख्याता देखे जाते हैं जो ज्योतिषशास्त्रादि के यथार्थ रहस्य को जानते हुए भी दुष्ट अभिप्राय से अन्यथा व्याख्या करते हैं। कोई-कोई जानते हुए भी वचन कौशल न होने से अन्यथा उपदेश देते हैं। कोई-कोई वाक्यार्थ का सम्बन्ध भूल जाने के कारण तथ्य को अयथार्थ कहते हुए देखे जाते हैं। अन्यथा वेद में भावना, विधि और नियोग रूप वाक्यार्थ का विवाद कैसे हो सकता था अथवा मनु, याज्ञवल्क्य आदि की श्रुति के अर्थ का अनुसरण करने वाली स्मृति की निरूपणाओं में विभिन्नता कैसे होती ? इसलिए अनादि कालीन आचार्य

परम्परा रूप प्रवाह से समागत होने पर भी वेद के अयथार्थता ही है, यह बात स्थित हुई।

विशेष—भावनावादी भाट्ट कहते हैं कि सर्वत्र भावना ही वेदवाक्य का अर्थ प्रतीति में आ रहा है। भावना के २ भेद हैं—शब्द भावना और अर्थ भावना। शब्द के व्यापार को शब्द भावना कहते हैं। 'अग्निष्टोमेन' इत्यादि के द्वारा पुरुष का व्यापार होता है। उस पुरुष के व्यापार से धातु का अर्थ सिद्ध होता है और उससे फल होता है अर्थात् पुरुष के व्यापार में शब्द का व्यापार है तथा धात्वर्थ में पुरुष का व्यापार है, वही भावना है, धातु का शुद्ध अर्थ भावना नहीं है, अन्यथा विधि ही अर्थ हो जावेगा। सकलव्यापिनी 'करोति' क्रिया लक्षण वाली क्रिया सभी धातुओं में संभव है, वही सर्वव्यापिनी क्रिया भावना है। 'पचति, पपाच, पक्ष्यति' इन क्रियाओं में भी पाकं करोति इत्यादि अर्थ ही व्याप्त है। अतः "करोति" क्रिया का अर्थ ही वेदवाक्य का अर्थ है। यह "करोति" क्रिया का अर्थ सामान्य रूप है और यज्यादि उसके विशेष रूप हैं। यह सामान्य क्रिया-कर्ता के व्यापार रूप है, इसे ही अर्थभावना कहते हैं। शब्द का व्यापार भावना है, वह पुरुष के व्यापार को कराती है, अतः वह भावना ही वेद-वाक्य का विषय है[1]।

विधिवादियों का कहना है कि विधि ही सर्वत्र वेदवाक्य में प्रधान है; क्योंकि वही प्रवृत्ति का अङ्ग है, किन्तु प्रतिषेध प्रवृत्ति का अङ्ग नहीं है, अतः वह प्रधान भी नहीं है। कहीं जलादि में प्रवृत्ति करने की इच्छा करते हुए सभी पुरुष विधि-जलादि के अस्तित्व को ही खोजते हैं, वहाँ जलादि में पररूप के प्रतिषेध की अन्वेषणा के होने पर परिसमाप्ति नहीं होती है, क्योंकि पररूप तो अनन्त हैं, उनका कहीं जलादि में प्रतिषेध करना अशक्य ही है अर्थात् विवक्षित वस्तु में पररूप के अभाव का विचार करने पर कहीं भी परिसमाप्ति होना सम्भव नहीं है, क्योंकि पररूप तो अनन्त हैं, उनका किसी भी वस्तु में प्रतिषेध करना शक्य नहीं हो सकता है[2]।

"अग्निष्टोमादि वाक्य से मैं नियुक्त हुआ हूँ", इस प्रकार से निरवशेष योग को नियोग कहते हैं। वहाँ भी किंचित् चिद् भावना रूप कार्य

१. अष्टसहस्री टीका, प्र० भाग (आर्यिका ज्ञानमती जी द्वारा लिखित सारांश पृ० १७०-१७१)

२. अष्टसहस्री, प्र० भाग पृ० ८७।

यच्चोक्तम् 'अतीतानागतावित्यादि' तदपि स्वमतनिर्मूलनहेतुत्वेन विपरीत-साधनात्तदाभासमेवेति । तथाहि—

अतीतानागतौ कालौ वेदार्थज्ञविवर्जितौ ।
कालशब्दाभिधेयत्वादधुनातनकालवत् ॥२६॥ इति

सम्भव नहीं है, क्योंकि आपके यहाँ नियोग का अनेक वक्ताओं ने ग्यारह प्रकार से किया है।

१. कोई कहते हैं कि जो लिङ्, लोट् और तव्य प्रत्यय का अर्थ है, शुद्ध है, अन्य निरपेक्ष है एवं कार्यरूप (यज्ञरूप) है, वही नियोग है।

२. वाक्यान्तर्गत कर्मादि अवयवों से निरपेक्ष शुद्ध प्रेरणा ही नियोग है।

३. प्रेरणा सहित कार्य ही नियोग है।

४. कार्य सहित प्रेरणा को नियोग कहते हैं; क्योंकि कार्य के बिना कोई पुरुष प्रेरित नहीं होता है।

५. कार्य को ही उपचार से प्रवर्तक कहकर उसे नियोग कहते हैं।

६. प्रेरणा और कार्य का सम्बन्ध ही नियोग है।

७. प्रेरणा और कार्य का समुदाय ही नियोग है।

८. इन दोनों से विनिर्मुक्त स्वभाव ही नियोग है।

९. यन्त्रारूढ़—याग लक्षण कार्य में लगा हुआ जो पुरुष है, वही नियोग है।

१०. भोग्य-भविष्यत् रूप ही नियोग है।

११. पुरुष ही नियोग है[1]।

भावनावादी भाट्ट हैं, विधिवादी ब्रह्माद्वैतवादी हैं और नियोगवादी प्रभाकर हैं। क्या कारण है कि भाट्टों के मत में भावना ही वाक्यार्थ है, ब्रह्माद्वैतवादियों के मत में विधि ही वाक्यार्थ है और प्राभाकरों के मत में नियोग ही वाक्यार्थ है ? इन तीनों में मतवैभिन्न क्यों है ? अल्पज्ञ होने के कारण वेद के या वेद के अर्थ का ठीक परिज्ञान न होने से मनु, याज्ञवल्क्य आदि ने अन्यथा प्रतिपादन किया है; क्योंकि उनमें मतभेद है।

और जो अपने "अतीतानागतौ" इत्यादि श्लोक कहा है वह भी मीमांसक मत के निर्मूलन का कारण होने से विपरीत अर्थ का साधन करने से अनुमानाभास ही है। इसी बात को स्पष्ट करते हैं।

श्लोकार्थ—अतीत और अनागत काल वेदार्थ के जानने वाले से

---

१. अष्टसहस्री, प्र० भाग (आर्यिका ज्ञानमती जी कृत टीका पृ० ४७ (नियोग-वाद के खण्डन का सारांश)

किञ्च—कालशब्दाभिधेयत्वमतीतानागतयोः कालयोर्ग्रहणे सति भवति। तद्ग्रहणं च नाध्यक्षतस्तयोरतीन्द्रियत्वात्। अनुमानतस्तद्ग्रहणेऽपि न साध्येन सम्बन्धस्तयोर्निश्चयेतुं पार्यते; प्रत्यक्षगृहीतस्यैव तत्सम्बन्धाभ्युपगमात्। न च कालाख्यं द्रव्यं मीमांसकस्यास्ति। प्रसंगसाधनाददोष इति चेन्न; परम्प्रति साध्यसाधनयोर्व्याप्यव्यापकभावाभावात्। इदानीमपि देशान्तरे वेदकारस्याष्टकादेः सौगतादिभिरभ्युपगमात्।

रहित हैं; क्योंकि अतीत और अनागत काल काल शब्द के वाच्य हैं। जो काल शब्द का वाच्य होता है, वह वेदार्थज्ञ से रहित होता है, जैसे कि वर्तमान काल वेदार्थज्ञ से रहित है ॥२६॥

दूसरी बात यह है कि अतीत और अनागत कालों के ग्रहण करने पर ही वे काल शब्द के वाच्य हो सकते हैं। अतीत और अनागत कालों का ग्रहण प्रत्यक्ष से तो होता नहीं है; क्योंकि वे दोनों ही अतीन्द्रिय हैं? यदि कहा जाय कि अनुमान से उन दोनों कालों का ग्रहण होता है (जैसे कि अतीत और अनागत काल हैं;) क्योंकि वे काल हैं, जैसे—वर्तमान-काल। चूँकि मध्यवर्ती वर्तमान काल देखा जाता है, अतः उसके पहले और पीछे होने वाले अतीत और अनागत काल का भी सद्भाव सिद्ध है। इस प्रकार के अनुमान से काल का ग्रहण हो जाने पर भी उन दोनों कालों का वेदकार विवर्जित रूप साध्य के साथ सम्बन्ध निश्चित करना संभव नहीं है। (काल शब्द अभिधेय है, अतीत और अनागत काल होने से, वर्तमान काल के समान, इस अनुमान रूप साध्य से काल शब्दाभिधेय के साथ अतीत अनागत कालपने का सम्बन्ध निश्चित करना सम्भव नहीं है)। जो प्रत्यक्ष से गृहीत है, ऐसे साधन के ही साध्य और साधन का सम्बन्ध स्वीकार किया गया है। मीमांसक मत में काल नामक द्रव्य नहीं है। (मीमांसक मत में काल द्रव्य स्वीकार न होने से अतीत और अनागत वेद को बनाने वाले से रहित हैं; क्योंकि वे काल शब्द के वाच्य हैं, इस अनुमान में, क्योंकि वे काल शब्द के वाच्य हैं', यह साधन स्वरूप से ही न होने से यह हेतु स्वरूपासिद्ध है, यह भाव है)। प्रसंग साधन से कोई दोष नहीं है, यदि ऐसा कहो तो यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि पर के प्रति (वेद का कर्त्ता है ऐसा कहने वाले के प्रति) साध्य और साधन में (वेद-कार विवर्जित्व और काल शब्दाभिधेयत्व में) व्याप्य और व्यापक भाव का अभाव है। अर्थात् इस समय यदि वेद के कर्त्ता का ग्रहण नहीं होता

यदप्यपरं—'वेदाध्ययनमित्यादि' तदपि विपक्षेऽपि समानम्—

भारताध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम् ।
तदध्ययनवाच्यत्वादधुनाध्ययनं यथा ॥२७॥ इति

यच्चान्यदुक्तम्—'अनवच्छिन्नसम्प्रदायत्वे सत्यस्मर्यमाणकर्तृकत्वादिति, तत्र जीर्णकूपारामादिभिर्व्यभिचारनिवृत्त्यर्थमनवच्छिन्नसम्प्रदायत्वविशेषणेऽपि विशेष्यस्यास्मर्यमाणकर्तृकत्वस्य विचार्यमाणस्यायोगादसाधनत्वम् । कर्तुरस्मरणं हि वादिनः प्रतिवादिनः सर्वस्य वा ? वादिनश्चेदनुपलब्धेरभावाद्वा ? आद्ये पक्षे पिटकत्रयेऽपि स्यादनुपलब्धेरविशेषात् । तत्र परैः तत्कर्तुरङ्गीकारान्नो चेदत एवात्रापि न

है तो अतीत और अनागत काल में भी कर्त्ता का ग्रहण नहीं होना चाहिए। (साध्य-साधन में व्याप्य-व्यापक भाव की सिद्धि होने पर व्याप्य का स्वीकार व्यापक के स्वीकार के बिना नहीं बन सकता, इस प्रकार जहाँ कहा जाता है वह प्रसंग साधन है)।

वर्तमान काल के दृष्टान्त के बल से व्याप्य-व्यापकभाव बन जायगा, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि इस समय भी देशान्तर में सौगत आदि ने अष्टक आदि को वेद का कर्त्ता स्वीकार किया है।

और जो आपने "वेदाध्ययनमित्यादि" श्लोक कहा है, वह विपक्ष अर्थात् पौरुषेय पक्ष में भी समान है—

श्लोकार्थ—महाभारत का सर्व अध्ययन गुरु के अध्ययन पूर्वक है; क्योंकि वह अध्ययन पद का वाच्य है; जैसे कि वर्तमान काल का अध्ययन ॥ २७ ॥

और जो कहा गया है कि वेदाध्ययन की अविच्छिन्न परम्परा होने पर उसके कर्त्ता का स्मरण नहीं है, इस हेतु में जीर्ण, शीर्ण, कूप, उद्यान आदि से होने वाले व्यभिचार की निवृत्ति के लिए अनवच्छिन्न सम्प्रदायत्व विशेषण के लगाने पर भी विशेष पद जो अस्मर्यमाण कर्तृकत्व है, वह विचार किए जाने पर सिद्ध नहीं होता है। कर्त्ता का स्मरण वादी को नहीं या प्रतिवादी को नहीं या सभी को नहीं ? यदि वादी को नहीं तो क्या उसकी उपलब्धि नहीं होने से वादी को कर्त्ता का अस्मरण है अथवा अभाव होने से वादी को कर्त्ता का स्मरण नहीं है ? आदि पक्ष में त्रिपिटक में भी अपौरुषेयता प्राप्त हो जायगी; क्योंकि वेद के समान उसके कर्त्ता की भी उपलब्धि नहीं है। यदि कोई कहे कि पिटकत्रय का तो बौद्धों ने कर्त्ता स्वीकार किया है, अतः उन्हें अपौरुषेय नहीं माना जा सकता तो हमारा कहना है कि वेद का किसी ने कर्त्ता स्वीकार किया अतः वेद भी

तदस्तु । अभावादिति चेदस्मात्तदभावसिद्धावितरेतराश्रयत्वम्—सिद्धे हि तदभावे तन्निबन्धनं तदस्मरणमस्माच्च तदभाव इति । प्रामाण्यान्यथानुपपत्तेस्तदभावान्नेतरेतराश्रयत्वमिति चेन्न; प्रामाण्येनाप्रामाण्यकारणस्यैव पुरुषविशेषस्य निराकरणात् पुरुषमात्रस्यानिराकृतेः । अत्रातीन्द्रियार्थदर्शिनोऽभावादन्यस्य च प्रामाण्यकारणत्वानुपपत्तेः सिद्ध एव सर्वथा पुरुषाभाव इति चेत्कुतः सर्वज्ञाभावो विभावित ? प्रामाण्यान्यथानुपपत्तेरिति चेदितरेतराश्रयत्वम् । कर्तुरस्मरणादिति चेच्चक्रकप्रसङ्गः ।

अपौरुषेय नहीं माना जा सकता । कर्त्ता का अभाव होने से स्मरण नहीं है, यदि यह पक्ष लिया जाय तो कर्त्ता के अस्मरण से वेद के कर्त्ता का अभाव सिद्ध करने में इतरेतराश्रय दोष प्राप्त होता है । वेद के कर्त्ता का अभाव सिद्ध होने पर उसके निमित्त से वेद के कर्त्ता का अस्मरण सिद्ध हो और जब वेद कर्त्ता का अस्मरण सिद्ध हो, तब वेद के कर्त्ता का अभाव सिद्ध हो । यदि कहो कि प्रामाण्य की अन्यथानुपपत्ति से वेद के कर्त्ता का अभाव होने पर उस वेद के प्रमाणता नहीं बन सकती, अतएव इतरेतराश्रय दोष नहीं आता है सो यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि प्रामाण्य की अन्यथानुपपत्ति से तो अप्रमाणता के कारणभूत पुरुषविशेष का ही निराकरण किया गया है, उससे पुरुषमात्र का निराकरण नहीं होता ।

मीमांसक—अतीन्द्रिय पदार्थों को देखने वाले सर्वज्ञ का अभाव है और अन्य अल्पज्ञ पुरुष के प्रमाणता का कारणपना नहीं बनता है, अतः पुरुष का अभाव सर्वथा सिद्ध है ।

जैन—आपने सर्वज्ञ का अभाव कैसे जान लिया ? प्रामाण्यान्यथानुपपत्ति से कहें तो इतरेतराश्रय दोष आता है अर्थात् जब सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध हो जाय, तब वेद की प्रामाण्यान्यथानुपपत्ति सिद्ध हो और जब प्रामाण्यान्यथानुपपत्ति सिद्ध हो, तब सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध हो । यदि वेद के कर्त्ता का स्मरण न होने से सर्वज्ञ का अभाव कहें तो चक्रक नाम के दोष का प्रसंग आता है । (बार-बार उन्हीं बातों के दुहराने को चक्रक दोष कहते हैं, (जैसे चक्र घूमने पर उसके आरे बार-बार घूमकर सामने आते हैं । वेद के कर्त्ता का स्मरण न होने से सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध हो, सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध होने पर वेद के प्रामाण्य की अन्यथानुपपत्ति सिद्ध हो, वेद के प्रामाण्य की अन्यथानुपपत्ति सिद्ध होने पर कर्त्ता का अभाव सिद्ध हो, इस प्रकार पुनः-पुनः प्रसंग आने से एक की भी सिद्धि न होने पर चक्रक नामक दोष होता है । तीन बार अथवा बार बार घूमना चक्रक दोष है ।)

अभावप्रमाणादिति चेन्न; तत्साधकस्यानुमानस्य प्राक् प्रतिपादितत्वादभाव-प्रमाणोत्थानायोगात् प्रमाणपञ्चकाभावेऽभावप्रमाणप्रवृत्तेः ।

प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते ।
वस्त्वसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता ॥२८॥

इति परैरभिधानात् । ततो न वादिनः कर्तुरस्मरणमुपपन्नम् । नापि प्रतिवादिनोऽसिद्धेः । तत्र हि प्रतिवादी स्मरत्येव कर्तारमिति । नापि सर्वस्य, वादिनो वेदकर्तुरस्मरणेऽपि प्रतिवादिनः स्मरणात् ।

ननु प्रतिवादिना वेदेऽष्टकादयो बहवः कर्तारः स्मर्यन्ते, अतस्तत्स्मरणस्य विवादविषयस्याप्रामाण्यादभवेदेव सर्वस्य कर्तुरस्मरणमिति चेन्न; कर्तृविशेषविषय एवासौ विवादो न कर्तृसामान्ये । अतः सर्वस्य कर्तुरस्मरणमप्यसिद्धम् । 'सर्वात्म-ज्ञानरहितो वा कथं सर्वस्य कर्तुरस्मरणमवैति ? तस्मादपौरुषेयत्वस्य वेदे व्यवस्था-

---

मीमांसक—अभाव प्रमाण से सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध होता है ।

जैन—यह बात ठीक नहीं है । सर्वज्ञ के साधक अनुमान का पूर्व में प्रतिपादन किया जा चुका है, अतः अभाव प्रमाण के उत्थान का योग नहीं है । पाँचों प्रमाणों के अभाव में अभाव प्रमाण की प्रवृत्ति होती है ।

श्लोकार्थ—जिस वस्तु के स्वरूप में प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणों की प्रवृत्ति नहीं होती है, वहाँ वस्तु की असत्ता जानने के लिये अभाव प्रमाण को प्रमाणता है ॥ २८ ॥

ऐसा मीमांसकों ने कहा है । अतः वादी के कर्त्ता का अस्मरण तो बनता नहीं है । न ही प्रतिवादी के बनता है; क्योंकि असिद्ध हेतु है । प्रतिवादी तो वेद के कर्त्ता का स्मरण करते ही हैं । सभी के (वादी और प्रतिवादी दोनों के) ही कर्त्ता का स्मरण नहीं है, यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि वादी के वेद के कर्त्ता का स्मरण न होने पर भी प्रतिवादी के तो वेद के कर्त्ता का स्मरण है ही ।

शङ्का—चूँकि प्रतिवादी के द्वारा वेद में अष्टक आदि बहुत से कर्त्ताओं का स्मरण किया जाता है, अतः विवाद के विषयभूत उनका स्मरण अप्रामाण्य होने से सभी के कर्त्ता का अस्मरण ही मानना चाहिये ।

समाधान—यह बात ठीक नहीं है । यह विवाद कर्त्ता—विशेष के विषय में ही है, न कि कर्त्ता सामान्य के विषय में । अतः सभी के कर्त्ता का अस्मरण भी असिद्ध है । समस्त आत्माओं के ज्ञान से रहित मीमांसक कैसे सभी के कर्त्ता का अस्मरण जानता है ? अतः वेद में अपौरुषेयता की

पयितुमशक्यत्वान्न तल्लक्षणस्याव्यापकत्वमसम्भवितत्वं वा सम्भवति। पौरुषेयत्वे पुनः प्रमाणानि बहूनि सन्त्येव।

सजन्ममरणर्षिगोत्रचरणादिनामश्रुते-
रनेकपदसंहितप्रतिनियमसन्दर्शनात्।
फलार्थिपुरुषप्रवृत्तिनिवृत्तिहेत्वात्मनां,
श्रुतेश्च मनुसूत्रवत्पुरुषकर्तृकैव श्रुतिः ॥२९॥ इति वचनात्

अपौरुषेयत्वेऽपि वा न प्रामाण्यं वेदस्योपपद्यते; तद्धेतूनां गुणानामभावात्।

ननु न गुणकृतमेव प्रामाण्यम्; किन्तु दोषाभावप्रकारेणापि। स च दोषाश्रय-पुरुषाभावेऽपि निश्चीयते, न गुणसद्भाव एवेति। तथा चोक्तम्—

शब्दे दोषोद्भवस्तावद्वक्त्रधीन इति स्थितम्।
तदभावः क्वचित्तावद् गुणवद्वक्तृकत्वतः ॥३०॥

व्यवस्था करना अशक्य होने से पूर्वोक्त आगम लक्षण के अव्यापकता और असम्भवता रूप दोष सम्भव नहीं हैं। वेद की पौरुषेयता के विषय में बहुत से प्रमाण हैं ही॥

श्लोकार्थ—जन्म और मरण सहित ऋषियों के गोत्र, आचरण आदि के नाम वेद सूक्तों में सुने जाते हैं। अनेक पदों के समूह रूप पृथक्-पृथक् छन्द रचना आदि के प्रतिनियम भी वेद में देखे जाते हैं, फलार्थी पुरुषों के लिए 'स्वर्ग का इच्छुक अग्निष्टोम से यज्ञ करे, इत्यादि प्रवृत्ति रूप और प्याज न खावें, मदिरा न पिये, गौ का पैर से स्पर्श न करे इत्यादि निवृत्ति वाक्य भी वेद में सुने जाते हैं, अतः अनुस्मृति के समान श्रुति और वेद वाक्य भी पुरुषकर्तृक ही हैं, ऐसा पात्रकेसरी स्वामी ने बृहत् पञ्च नमस्कार नामक स्तोत्र में कहा है॥ २९॥

वेद को अपौरुषेय मान भी लिया जाय तो भी वेद की प्रमाणता नहीं बनती है, क्योंकि प्रमाणता के कारणभूत गुणों का अभाव है।

शङ्का—प्रमाणता गुणकृत ही नहीं होती, किन्तु दोष के अभावरूप प्रकार से भी प्रमाणता होती है। वह दोष का अभाव दोष के आश्रय पुरुष के अभाव में भी निश्चय किया जाता है, न कि गुण के सद्भाव में ही। जैसा कि कहा है—

श्लोकार्थ—शब्द में दोष का उत्पन्न होना तो वक्ता के अधीन है, यह बात सिद्ध है। दोष का अभाव कहीं पर गुणवान् वक्तापने के अधीन

तद्गुणैरपकृष्टानां शब्दे सङ्क्रान्त्यसम्भवात् ।
यद्वा वक्तुरभावेन न स्युर्दोषा निराश्रयाः ॥३१॥

इति तदप्ययुक्तम्; पराभिप्रायापरिज्ञानात् । नास्माभिर्वक्तुरभावे वेदस्य प्रामाण्याभावः समुद्भाव्यते; किन्तु तद्व्याख्यात्तृणामतीन्द्रियार्थदर्शनादिगुणाभावे । ततो दोषाणामनपोदितत्वान्न प्रामाण्यनिश्चय इति । ततोऽपौरुषेयत्वेऽपि वेदस्य प्रामाण्यनिश्चययायोगान्नानेन लक्षणस्याव्यापित्वमसम्भवित्वं वेत्यलमतिजल्पितेन ।

ननु शब्दार्थयोः सम्बन्धाभावादन्यापोहमात्राभिधायित्वादाप्तप्रणीतादपि शब्दात्कथं वस्तुभूतार्थाधिगम इत्यत्राह—

सहजयोग्यतासङ्केतवशाद्धि शब्दादयो वस्तुप्रतिपत्तिहेतवः ॥९६॥

सहजा स्वभावभूता योग्यता शब्दार्थयोर्वाच्यवाचकशक्तिः, तस्यां सङ्केतस्त-

---

है; क्योंकि वक्ता के गुणों से दूर किए गए पुनः शब्द में आना असम्भव है। अथवा वक्ता के अभाव से दोषों का अभाव सिद्ध होता है, क्योंकि दोष निराश्रय नहीं रह सकते ॥ ३०-३१ ॥

समाधान—यह कहना भी अयुक्त है, क्योंकि आपने जैनों के अभिप्राय को नहीं समझा है। हम जैन वक्ता के अभाव में वेद के प्रामाण्य का अभाव नहीं मानते हैं, किन्तु उस वेद के व्याख्याताओं के अतीन्द्रिय पदार्थों को देखने आदि गुणों का अभाव है तथा गुणों के अभाव से दोषों का निराकरण न होने से वेद के प्रामाण्य का निश्चय नहीं किया जा सकता। अतः अपौरुषेयता होने पर भी वेद की प्रमाणता का निश्चय न होने से अपौरुषेय वेद के द्वारा हमारे आगम के लक्षण में न अव्यापकत्व दोष है और न असम्भवपना है। अतः अधिक बोलने से बस।

बौद्ध—शब्द और अर्थ में सम्बन्ध का अभाव होने से अन्य शब्द अन्य के निषेध मात्र को कहने वाला है, अतः आप्त प्रणीत भी शब्द से कैसे वस्तुभूत अर्थ की जानकारी होती है ?, इसके विषय में कहते हैं—

विशेष—बौद्धों का कहना है कि नाम जात्यादि योजनात्मक पदार्थ नहीं है। वाच्य वाचक रूप सम्बन्ध परतन्त्रता के कारण है, सिद्ध वस्तु में परतन्त्रता क्या है ? अतः समस्त पदार्थों का तत्त्वतः सम्बन्ध नहीं है। बौद्धों की इस प्रकार की शङ्का होने पर कहते हैं—

सूत्रार्थ—सहज योग्यता के होने पर संकेत के वश से शब्दादि वस्तु का ज्ञान कराने के कारण हैं ॥ ९६ ॥

सहजा = स्वभावभूता योग्यता = शब्द और अर्थ की वाच्य-वाचक

द्वयाद् हि स्फुटं शब्दादयः प्रागुक्ता वस्तुप्रतिपत्तिहेतव इति ।

उदाहरणमाह—

यथा मेर्वादयः सन्ति ॥९७॥

ननु य एव शब्दाः सत्यर्थे दृष्टास्त एवार्थाभावेऽपि दृश्यन्ते तत्कथमर्थाभिधायकत्वमिति ? तदप्ययुक्तम्; अनर्थकेभ्यः शब्देभ्योऽर्थवतामन्यत्वात् । न चान्यस्य व्यभिचारेऽन्यस्यासौ युक्तोऽप्रतिसङ्गात् । अन्यथा गोपालघटिकान्तर्गतस्य धूमस्य पावकस्य व्यभिचारे पर्वतादिधूमस्यापि तत्प्रसङ्गात् । 'यत्नतः परीक्षितं कार्यं कारणं नातिवर्तते' इत्यन्यत्रापि समानम् । सुपरीक्षितो हि शब्दोऽर्थं न व्यभिचरतीति ।

तथा चान्यापोहस्य शब्दार्थत्वकल्पनं प्रयासमात्रमेव । न चान्यापोहः शब्दार्थो

भाव रूप शक्ति, उसके होने पर संकेत के वश से स्पष्ट रूप से पहले कहे गए शब्दादिक वस्तु का ज्ञान कराने में कारण होते हैं। (यहाँ आदि शब्द से अङ्गुलि का संकेत आदि गृहीत होते हैं)।

उदाहरण कहते हैं—

सूत्रार्थ—जैसे–मेरु आदि हैं ॥ ९७ ॥

शङ्का—जो ही शब्द पदार्थ के होने पर उनके वाचक देखे जाते हैं, वे ही शब्द पदार्थ के अभाव में भी आकाश कमल आदि के वाचक देखे जाते हैं तो वे अर्थ का कथन करने वाले कैसे माने जा सकते हैं ?

समाधान—यह कथन ठीक नहीं है। (रामादि नहीं हैं, फिर भी उसके वाचक शब्द विद्यमान हैं, अतः शब्द अर्थ के वाचक कैसे हैं ? यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि उनसे उनका अस्तित्व सिद्ध नहीं किया जा रहा है, अपितु स्वरूप का प्रतिपादन किया जा रहा है, अतः दोष नहीं है।); क्योंकि अनर्थक शब्दों से सार्थक शब्द भिन्न हैं। अन्य के व्यभिचार में अन्य के व्यभिचार की परिकल्पना करना युक्त नहीं है, नहीं तो अतिप्रसङ्ग दोष लग जायेगा। यदि ऐसा होने लगे तो ऐन्द्रजालिक के घड़े के अन्तर्गत धुयें के होने पर भी अग्नि का अभाव होने से व्यभिचार होने से पर्वतादि के धुयें के व्यभिचार का प्रसङ्ग आ जायेगा। 'यत्न से परीक्षित कार्य कारण का उल्लंघन नहीं करता है, यह बात अन्यत्र भी (शब्द में भी) समान है। सुपरीक्षित शब्द अर्थ का व्यभिचारी नहीं होता है।

तथा अन्यापोह के (अन्य के निषेध के) शब्दार्थपने की कल्पना प्रयास

व्यवतिष्ठते, प्रतीतिविरोधात् । न हि गवादिशब्दश्रवणादगवादिव्यावृत्तिः प्रतीयते । ततः सास्नादिमत्यर्थे प्रवृत्तिदर्शनादगवादिबुद्धिजनकं तत्र शब्दान्तरं मृग्यम् । अथैकस्मादेव गोशब्दादर्थद्वयस्यापि सम्भावनान्नार्थः शब्दान्तरेणेति चेन्नैवम्; एकस्य परस्परविरुद्धार्थद्वयप्रतिपादनविरोधात् । किञ्च गोशब्दस्यागोव्यावृत्तिविषयत्वे प्रथममगौरिति प्रतीयेत । न चैवम्, अतो नान्यापोहः शब्दार्थः ।

किञ्च—अपोहाख्यं सामान्यं वाच्यत्वेन प्रतीयमानं पर्युदासरूपं प्रसज्यरूपं वा ? प्रथमपक्षे गोत्वमेव नामान्तरेणोक्तं स्यात्; अभावाभावस्य भावान्तरस्वभावेन व्यवस्थितत्वात् । कश्चायमश्वादिनिवृत्तिलक्षणो भावोऽभिधीयते ? न तावत्-

---

मात्र ही है । अन्यापोह शब्दार्थ नहीं ठहरता है, क्योंकि प्रतीति से विरोध आता है । गवादि शब्द के श्रवण से अगवादि की व्यावृत्ति प्रतीत नहीं होती है । गो आदि शब्द के सुनने से सास्नादिमान् अर्थ में प्रवृत्ति देखे जाने से जो अगवादि बुद्धि का जनक है ऐसा अन्य शब्द (गो शब्द से भिन्न शब्द) वहाँ पर (गवादि में) ढूंढ़ना चाहिए । यदि कहो कि एक ही गो शब्द से (विधि निषेध रूप) दो अर्थ की सम्भावना होने से अतः अन्य शब्द से कोई प्रयोजन नहीं है तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि एक ही शब्द के परस्पर विरोधी दो अर्थों का प्रतिपादन मानने में विरोध है । (अर्थात् एकान्तवादियों के यहाँ एक ही शब्द का गवादि का अस्तित्व और अगवादि का निषेध रूप दो अर्थ मानने में विरोध है) । दूसरी बात यह है कि गो शब्द (गो शब्द का गोपिण्ड रूप भावार्थ यदि विषय न हो) को जो गो नहीं है ऐसे अश्वादि व्यावृत्ति का विषय माने जाने पर आपके अभिप्राय के अनुसार पहले अगो की प्रतीति होना चाहिए । चूँकि ऐसा प्रतीत नहीं होता है, अतः अन्यापोह शब्द का अर्थ नहीं है ।

दूसरी बात यह है कि वाच्य रूप से प्रतीयमान अपोह नामक सामान्य पर्युदास रूप है अथवा प्रसज्य रूप है ? (नञ् दो प्रकार के कहे गए हैं—पर्युदास और प्रसज्य । सदृश् पदार्थ को ग्रहण करने वाला पर्युदास है और निषेध करने वाला प्रसज्य है ।) प्रथम पक्ष में गोत्व ही अन्य नाम से कही जाती है । (अन्यापोह की शब्दार्थपने रूप से वाच्यता हो तो सिद्ध साध्यता होती है, क्योंकि जब गोनिवृत्ति लक्षण सामान्य गो शब्द से आपके द्वारा कहा जाता है तभी हम लोग गोत्व नामक भावलक्षण सामान्य को गो शब्द से वाच्य कहते हैं), क्योंकि अभाव का अभाव भावान्तर स्वभाव से व्यवस्थित होता है अर्थात् अगो निवृत्ति लक्षण अभाव

स्वलक्षणरूपस्तस्य सकलविकल्पवाग्गोचरातिक्रान्तत्वात् । नापि शाबलेयादिव्यक्तिरूपः; तस्यासामान्यत्वप्रसङ्गात् । तस्मात् सकलगोव्यक्तिष्वनुवृत्तप्रत्ययजनकं तत्रैव प्रत्येकं परिसमाप्त्या वर्तमानं सामान्यमेव गोशब्दवाच्यम् । तस्यापोह इति नामकरणे नाममात्रं भिद्यते, नार्थत इति, अतो नाद्यः पक्षः श्रेयान् । नापि द्वितीयः; गोशब्दादेः क्वचिद्बाह्येऽर्थे प्रवृत्त्ययोगात् । तुच्छाभावाभ्युपगमे परमतप्रवेशानुषङ्गाच्च ।

किञ्च—गवादयो ये सामान्यशब्दा ये च शाबलेयादयस्तेषां भवदभिप्रायेण पर्यायता स्यात्; अर्थभेदाभावाद् वृक्षपादपादिशब्दवत् । न खलु तुच्छाभावस्य भेदो युक्तः; वस्तुन्येव संसृष्टत्वैकत्वनानात्वादिविकल्पानां प्रतीतेः । भेदे वा

भावान्तर से गोपने से व्यवस्थित होता है। यह अश्वादिनिवृत्ति लक्षण-भाव कौन कहा जाता है ? (तात्पर्य यह कि गोपिण्ड रूप पदार्थ ही पदार्थ है। अगो शब्द से महिषादि का अभाव नहीं कहा जाता है, अपितु गौ ही कहा जाता है)। स्वलक्षण तो पदार्थ माना नहीं जा सकता, क्योंकि वह समस्त विकल्प रूप वचनों का विषय होने से वचन अगोचर है। शाबलेय आदि व्यक्ति रूप गोपदार्थ भी अपोह का विषय नहीं माना जा सकता है अन्यथा अपोह के असामान्यपने (विशेषपने) का प्रसंग प्राप्त होता है। अतः समस्त गो व्यक्तियों में अनुवृत्ति प्रत्यय का जनक और उन्हीं में एक एक व्यक्ति के प्रति पूर्ण रूप से वर्तमान गोत्व सामान्य को ही गो शब्द का वाच्य मानना चाहिए। उसका 'अपोह', यह नाम करने पर नाम मात्र का ही भेद रहेगा, अर्थ से कोई भेद नहीं रहेगा। अतः (पर्युदास रूप) प्रथम पक्ष श्रेयस्कर नहीं है। प्रसज्य रूप द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि गो शब्द की किसी बाहिरी पदार्थ में प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। प्रसज्य रूप अपोह को तुच्छाभाव रूप मानने पर परमत (नैयायिक मत) में प्रवेश का प्रसंग आ जायगा।

दूसरा दोष यह भी है कि गो आदि जो सामान्य शब्द हैं, और शाबलेय आदि जो विशेष शब्द हैं, वे आपके अभिप्राय से एक अर्थ के वाची हो जायँगे। (द्रव्य, गुण, क्रिया रूप भेद होता है। शाबलेयत्व गुण है, उससे भेद होता है, इस प्रकार का लोक व्यवहार है, परन्तु आपके अभिप्राय से तुच्छ अभाव भेद नष्ट ही है); क्योंकि वृक्ष, पादप आदि शब्द के समान अर्थ में भेद नहीं रहेगा। तुच्छ अभाव (निःस्वभाव रूप अपोह) का भेद युक्त नहीं है (आपके मत में प्रसज्य निषेध के अङ्गीकार करने से वस्तु

अभावस्य वस्तुतापत्तिः; तल्लक्षणत्वाद् वस्तुत्वस्य। न चापोह्यलक्षणसम्बन्धिभेदाद् भेदः; प्रमेयाभिधेयादिशब्दानामप्रवृत्तिप्रसङ्गात्। व्यवच्छेद्यस्यातद्रूपेणाप्यप्रमेयादि-रूपत्वे[1] ततो व्यवच्छेदायोगात् कथं तत्र सम्बन्धिभेदाद् भेदः ?

किञ्च—शाबलेयादिष्वेकोऽपोहो न प्रसज्येत; किन्तु प्रतिव्यक्ति भिन्न एव स्यात्। अथ शाबलेयादयस्तन्न भिन्दन्ति, तर्ह्यश्वादयोऽपि भेदका माभूवन्। यस्यान्तरङ्गाः शाबलेयादयो न भेदकास्तस्याश्वादयो भेदका इत्यतिसाहसम्। वस्तुनोपि सम्बन्धिभेदाद् भेदो नोपलभ्यते, किमुतावस्तुनि। तथाहि—एक एव देवदत्तादिः कटककुण्डलादिभिरभिसम्बद्धयमानो न नानात्वमास्तिघ्नुवानः समुप-लभ्यत इति। भवतु वा सम्बन्धिभेदाद् भेदस्तथापि न वस्तुभूतसामान्यमन्तरेणा-

---

नहीं है); क्योंकि यथार्थ वस्तु में ही अन्य से संयुक्तपना, एकत्वपना, नाना-पना आदि विकल्पों की प्रतीति होती है। यदि अभाव में भेद माना जायगा तो अभाव के वस्तुपने की प्राप्ति होगी; क्योंकि भेदात्मकता ही वस्तुत्व का लक्षण है। अपोह्यलक्षण सम्बन्धी के भेद से अभाव में भेद माना नहीं जा सकता अन्यथा प्रमेय, अभिधेय आदि शब्दों की अप्रवृत्ति का प्रसङ्ग प्राप्त होगा। प्रमेय आदि शब्दों का व्यवच्छेद योग्य जो अप्रमेयत्व आदि है, वह यदि अतद्रूप से अर्थात् अप्रमेय आदि रूप से अप्रमेय है तो अप्रमेयादि से प्रमेय आदि का व्यवच्छेद नहीं बन सकेगा, इसलिए प्रमेय, अभिधेय इत्यादि शब्द वाच्य अपोह में सम्बन्धी के भेद से भेद कैसे माना जा सकेगा ?

दूसरी बात यह है कि शाबलेय आदि में एक ही अपोह नहीं रह सकेगा, किन्तु प्रत्येक व्यक्ति को भिन्न-भिन्न ही अपोह मानना पड़ेगा। यदि कहो कि शाबलेय आदि गायें अपोह में भेद नहीं करती हैं तो फिर अश्वा-दिक अपोह में भेद करने वाले नहीं होना चाहिए। जिस अगोव्यावृत्ति रूप अपोह के अन्तरंग शाबलेय आदि भेदक नहीं, उसके अश्वादि भेदक हैं, यह कहना अति साहस है। पदार्थ का भी सम्बन्धी के भेद से भेद नहीं पाया जाता है तो अपोह रूप अवस्तु की तो बात ही क्या कहना ? इसे ही स्पष्ट करते हैं—एक ही देवदत्त आदि कटक, कुण्डल आदि से सम्बन्ध को प्राप्त होकर नानापन को प्राप्त हुआ नहीं पाया जाता है। अथवा सम्बन्धी के भेद से अपोह में भेद हो भी, तथापि परमार्थ रूप गोत्वादि

---

१. इदं प्रमेयं न भवतीति ज्ञात्वा अप्रमेयत्वम्, तदा प्रमेयत्वं न भवति ज्ञानविषयं भवति तदपेक्षयाऽप्रमेयरूपेण प्रमेयता। अपोहस्याप्रमेयादेः।

न्यापोहाश्रयः सम्बन्धी भवतां भवितुमर्हति। तथाहि—यदि शाबलेयादिषु वस्तुभूतसामान्याभावोऽश्वादिपरिहारेण तत्रैव विशिष्टाभिधानप्रत्ययौ कथं स्याताम्। ततः सम्बन्धिभेदाद् भेदमिच्छतापि सामान्यं वास्तवमङ्गीकर्तव्यमिति।

किञ्च—अपोहशब्दार्थपक्षे सङ्केत एवानुपपन्नः; तद्ग्रहणोपायासम्भवात्। न प्रत्यक्षं तद्ग्रहणसमर्थम्, तस्य वस्तुविषयत्वात्। अन्यापोहस्य चावस्तुत्वात्। अनुमानमपि न तत्सद्भावमवबोधयति; तस्य कार्यस्वभावलिङ्गसम्पाद्यत्वात्। अपोहस्य निरुपाख्येयत्वेनानर्थक्रियाकारित्वेन च स्वभावकार्ययोरसम्भवात्। किञ्च गोशब्दस्यागोपोहाभिधायित्वेऽगौरित्यत्र गोशब्दस्य किमभिधेयं स्यात्? अज्ञातस्य विधिनिषेधयोरनधिकारात्। अगोव्यावृत्तिरिति चेदितरेतराश्रयत्वम्—अगोव्यवच्छेदो हि गोनिश्चये भवति, स चागौर्गोनिवृत्त्यात्मा गौश्चागोव्यवच्छेदरूप इति। अगौरित्यत्रोत्तरपदार्थोऽप्यनयैव दिशा चिन्तनीयः। नन्वगौरित्यत्रान्य एव विधि-

---

सामान्य के बिना अपोह का आश्रयभूत सम्बन्धी आप बौद्धों के यहाँ होने योग्य नहीं है। इसी को स्पष्ट करते हैं—यदि शाबलेय आदि में वस्तुभूत सामान्य का अभाव है तो घोड़ा आदि के परिहार से गौ में ही विशिष्ट शब्द का उच्चारण और ज्ञान कैसे हो सकेगा? चूँकि सामान्य को न मानने पर विवक्षित अपोह आश्रय सम्बन्धी सिद्ध नहीं होता है, अतः सम्बन्धी के भेद से भेद की इच्छा करने वाले सौगत को सामान्य वास्तविक रूप से अङ्गीकार करना चाहिए।

दूसरी बात यह है कि अपोह ही शब्दार्थ है, इस पक्ष में सङ्केत ही नहीं बन सकता है, क्योंकि अपोह को ग्रहण करने का उपाय असम्भव है। प्रत्यक्ष प्रमाण अपोह को ग्रहण करने में समर्थ नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष वस्तु को विषय करता है। अन्यापोह अवस्तु रूप है। अनुमान भी उस अपोह के सद्भाव का ज्ञान नहीं कराता है, क्योंकि अनुमान कार्य और स्वभाव रूप लिङ्ग से उत्पन्न होता है। अपोह के निरुपाख्य होने और जल धारण आदि अर्थक्रियाकारित्व के अभाव के कारण क्रमशः स्वभाव और कार्यहेतु असम्भव है। दूसरी बात यह है कि गो शब्द के अगो व्यावृत्ति का वाचक मानने पर 'अगौ' ऐसे वाक्य प्रयोग के समय गो शब्द का क्या वाच्य होगा? अज्ञात पदार्थ के विधि और निषेध का अधिकार नहीं होता है। यदि गो शब्द का अगोव्यावृत्ति अर्थ ग्रहण करेंगे तो इतरेतराश्रय दोष होगा। अगोव्यवच्छेद गो का निश्चय होने पर होता है। वह अगौ गोनिवृत्ति रूप है और गौ अगो व्यवच्छेद रूप है। 'अगौ', यहाँ गो यह उत्तर पद है, उसका अर्थ इसी दिशा से विचारना चाहिए। 'अगौ' ऐसा

रूपो गोशब्दाभिधेयस्तदाऽपोहः शब्दार्थ इति विघटेत। तस्मादपोहस्योक्तयुक्त्या विचार्यमाणस्यायोगान्नान्यापोहः शब्दार्थ इति स्थितम्—'सहजयोग्यतासङ्केतवशाच्छब्दादयो वस्तुप्रतिपत्तिहेतवः' इति।

स्मृतिरनुपहतेयं प्रत्यभिज्ञानवज्ञा,
प्रमितिनिरतचिन्ता लैङ्गिकं सङ्गतार्थम्।
प्रवचनमनवद्यं निश्चितं देववाचा
रचितमुचितवाग्भिस्तथ्यमेतेन गीतम् ॥ ९ ॥

इति परीक्षामुखस्य लघुवृत्तौ परोक्षप्रपञ्चस्तृतीयः समुद्देशः।

कहने पर गो शब्द का वाच्य विधि रूप अन्य ही हैं, जो कि अगो की निवृत्ति रूप नहीं है, तब तो शब्द का वाच्य अपोह है, यह धारणा विघटित हो जाती है। इस प्रकार उक्त युक्ति से विचारा गया अपोह सिद्ध नहीं होता, इसलिए अन्य का अपोह शब्द का अर्थ नहीं है, यह स्थित हुआ। गो आदि शब्द अपनी सहज योग्यता और पुरुष के सङ्केत के वश वस्तु का ज्ञान कराने में कारण हैं।

श्लोकार्थ—अतः सिद्ध हुआ कि स्मृति निर्दोष है, प्रत्यभिज्ञान अवज्ञा करने योग्य नहीं है, तर्क प्रमिति का ज्ञान कराने में निरत है, लैङ्गिक अनुमान सङ्गत अर्थ वाला है और प्रवचन निर्दोष है, यह बात अकलङ्कदेव की वाणी से माणिक्यनन्दि ने निश्चित की। तथा उचित वाणी से उन्होंने (सूत्र रूप) रचा तथा मुझ अनन्तवीर्य ने यह तथ्य गाया ॥९॥

इस प्रकार परीक्षामुख की लघुवृत्ति में परोक्ष प्रमाण का विवेचन करने वाला तृतीय समुद्देश समाप्त हुआ।

●

चतुर्थः समुद्देशः

अथ स्वरूपसङ्ख्याविप्रतिपत्तिं निराकृत्य विषयविप्रतिपत्तिनिरासार्थमाह—

सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः ॥१॥

तस्य प्रमाणस्य ग्राह्योऽर्थो विषय इति यावत्। स एव विशिष्यते सामान्य-विशेषात्मा। सामान्य-विशेषौ वक्ष्यमाणलक्षणौ, तावात्मानौ यस्येति विग्रहः। तदुभयग्रहणमात्मग्रहणं च केवलस्य सामान्यस्य विशेषस्य तदुभयस्य वा स्वतन्त्रस्य प्रमाणविषयत्वप्रतिषेधार्थम्।

तत्र सन्मात्रदेहस्य परमब्रह्मणो निरस्तत्वात्तदितरद्विचार्यते। तत्र साङ्ख्यैः प्रधानं सामान्यमुक्तम्—

त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ॥ ३२ ॥

इति वचनात्।

चतुर्थ समुद्देश

प्रमाण के स्वरूप और संख्या विषयक विवाद का निराकरण करके अब विषय विप्रतिपत्ति का निराकरण करने के लिए कहते हैं—

सूत्रार्थ—सामान्य-विशेषात्मक पदार्थ प्रमाण का विषय है ॥१॥

उस प्रमाण के ग्राह्य पदार्थ को तदर्थ कहते हैं, वह प्रमाण का विषय है। वह पदार्थ सामान्य विशेषात्मक विशेषण से विशिष्ट है। सामान्य और विशेष जिनके लक्षण हम आगे कहेंगे, वे दोनों जिसकी आत्मा हैं, यह विग्रह है। सामान्य और विशेष इन दोनों पदों का ग्रहण तथा आत्म-पद का ग्रहण केवल सामान्य, केवल विशेष और स्वतन्त्र सामान्य विशेष की प्रमाण विषयता के निषेध के लिए है।

इन तीनों मतों में से सत्ता मात्र देह वाले परम ब्रह्म का ('सावरण' इत्यादि सूत्र के व्याख्यान के अवसर पर पूर्वमीमांसक के साथ सर्वज्ञ के विषय में विवाद के समय) निराकरण किया जा चुका है अतः उससे भिन्न (सांख्याभिमत प्रकृति रूप) के विषय में विचार किया जाता है। सांख्यों ने प्रकृति रूप प्रधान को सामान्य कहा है—

श्लोकार्थ—व्यक्त तथा अव्यक्त दोनों ही त्रिगुणात्मक (सुख दुःख मोहात्मक) अपृथक् या अभिन्न, विषय, सर्वसाधारण, जड़ तथा परिणामी हैं। पुरुष उन दोनों से विपरीत भी है, एवं सदृश भी ॥३२॥

तत्त्व केवलं प्रधानं महदादिकार्यनिष्पादनाय प्रवर्तमानं किमप्यपेक्ष्य प्रवर्तते, निरपेक्ष्य वा। प्रथमपक्षे तन्निमित्तं वाच्यम्, यदपेक्ष्य प्रवर्तते। ननु पुरुषार्थ एव

विशेष—अविवेकी अर्थात् जैसे प्रधान अपने से अभिन्न या अपृथक् है, उसी प्रकार महद् इत्यादि व्यक्त भी प्रधान से अभिन्न होने के कारण उससे अपृथक् हैं। अथवा अविवेकि का तात्पर्य यहाँ पर कार्य 'मिलकर उत्पन्न करना' है। कोई भी तत्त्व अकेला अपना कार्य उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होता, किन्तु दूसरे के साथ मिलकर ही समर्थ होता है। इसलिए किसी भी एक तत्त्व से किसी कार्य की किसी भी एक प्रकार से उत्पत्ति सम्भव नहीं।

जिन विज्ञानवादी बौद्धों का यह कहना है कि विज्ञान ही सुख दुःख तथा मोह उत्पन्न करने वाले शब्द इत्यादि विषयों का आकार या रूप धारण कर लेता है, सुखादि स्वभाव वाले शब्द आदि इससे भिन्न या पृथक् कोई पदार्थ नहीं है, उनके उत्तर में कारिका में "विषयः" यह शब्द आया है। जिसका अर्थ है ग्राह्य अर्थात् विज्ञान से पृथक् स्वतन्त्र रूप से ग्रहण करने योग्य। इसलिए उन्हें 'सामान्य' अर्थात् साधारण कहा, जिसका भाव यह हुआ कि वे अनेक पुरुषों से ग्रहण किए जाते हैं। प्रधान, बुद्धि इत्यादि सभी पदार्थ जड़ हैं। 'प्रसवधर्मि' अर्थात् जिसमें 'परिणाम' धर्म (नित्य) विद्यमान रहे। कारिकाकार का अभिप्रेत है कि व्यक्त तथा प्रधान सदृश एवं भिन्न परिणामों से कभी भी वियुक्त नहीं रहते। जैसे व्यक्त इन धर्मों से युक्त है, वैसे ही प्रधान भी। पुरुष इन दोनों से विपरीत (अर्थात् निर्गुण, विवेकी या असंहत, अविषय, असाधारण अर्थात् प्रतिपिण्ड विभिन्न, चेतन तथा अपरिणामी) है। परन्तु प्रधान की ही भाँति पुरुष में भी कारणहीनता और नित्यता इत्यादि और इसी प्रकार व्यक्त की ही भाँति अनेक इत्यादि विद्यमान हैं, तब पुरुष इन दोनों से विपरीत है, यह कैसे कहा गया? इसीलिए 'पुरुष उनके सदृश भी है'—ऐसा कहा। तात्पर्य यह है कि यद्यपि इसमें कारणहीनता इत्यादि समान धर्म हैं तथापि निर्गुणत्व इत्यादि विरुद्ध धर्म भी हैं।

जैन—वह अद्वितीय प्रधान महदादि कार्य के निष्पादन के लिए प्रवृत्त होता हुआ क्या कुछ अपेक्षा करके प्रवृत्त होता है या अपेक्षा किए बिना ही प्रवृत्त होता है। प्रथम पक्ष में जो कुछ भी अपेक्षा करके प्रवृत्त होता है, वह निमित्त प्रतिपादित करना चाहिए।

तत्र कारणम्; पुरुषार्थेन हेतुना प्रधानं प्रवर्तते। पुरुषार्थश्च द्वेधा; शब्दाद्युपलब्धिर्गुणपुरुषान्तरविवेकदर्शनं वा; इत्यभिधानादिति चेत्सत्यम्। तथा प्रवर्तमानमपि बहुधानकं पुरुषकृतं कञ्चिदुपकारं समासादयत्प्रवर्तेत, अनासादयद्वा ? प्रथमपक्षे स उपकारस्तस्माद्भिन्नोऽभिन्नो वा ? यदि भिन्नस्तदा तस्येति व्यपदेशाभावः सम्बन्धाभावात् तदभावश्च; समवायादेरनभ्युपगमात्। तादात्म्यं च भेदविरोधीति। अथाभिन्न उपकार इति पक्ष आश्रीयते तदा प्रधानमेव तेन कृतं स्यात्। अथोपकारनिरपेक्षमेव प्रधानं प्रवर्तते, तर्हि मुक्तात्मानम्प्रत्यपि प्रवर्तेताविशेषात्। एतेन निरपेक्षप्रवृत्तिपक्षोऽपि प्रत्युक्तस्तत एव। किञ्च सिद्धे प्रधाने सर्वमेतदुपपन्नं स्यात्। न च तत्सिद्धिः कुतश्चिन्निश्चीयत इति।

सांख्य—पुरुषार्थ ही प्रवृत्ति में कारण है। पुरुषार्थ हेतु से प्रधान प्रवृत्त होता है। पुरुषार्थ दो प्रकार का होता है—(१) शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श को ग्रहण करना और (२) गुण और पुरुषान्तर के विवेक को देखना।

जैन—आपका कहना सत्य है, किन्तु हमारा प्रश्न है कि इस प्रकार से प्रवृत्ति करता हुआ भी वह प्रधान पुरुषकृत किसी उपकार को लेकर प्रवृत्ति करता है या पुरुषकृत किसी उपकार को नहीं लेकर प्रवृत्ति करता है ? प्रथम पक्ष में वह उपकार प्रधान से भिन्न है या अभिन्न ? यदि भिन्न है तो यह उपकार प्रधान का है, ऐसा कथन नहीं हो सकेगा। सम्बन्ध का अभाव होने पर उपकार का भी अभाव है; क्योंकि आपने समवाय और संयोग आदि सम्बन्ध तो माने नहीं हैं। यदि तादात्म्य सम्बन्ध मानते हैं तो वह सम्बन्ध भेद का विरोधी है। यह उपकार है, यह प्रधान है, इस प्रकार का भेद नहीं होगा। यदि उपकार प्रधान से अभिन्न है, ऐसा पक्ष लेते हैं तो प्रधान ही उस उपकार के द्वारा किया हुआ मानना पड़ेगा (ऐसी स्थिति में नित्यत्व की हानि होगी)।

सांख्य—पुरुषकृत उपकार से निरपेक्ष ही प्रधान प्रवृत्त होता है।

जैन—तब तो प्रधान को मुक्त आत्मा के प्रति भी प्रवृत्ति करना चाहिए; क्योंकि वहाँ भी उपकार निरपेक्षता समान ही है। इससे पुरुषकृत उपकार की अपेक्षा के बिना ही प्रधान प्रवृत्ति करता है, यह पक्ष भी खण्डित समझना चाहिए। दूसरी बात यह है कि प्रधान नामक तत्त्व सिद्ध होने पर यह सब कथन युक्ति-युक्त सिद्ध हो सके, किन्तु उसकी सिद्धि किसी भी प्रमाण से निश्चित नहीं है।

ननु कार्याणामेकान्वयदर्शनादेककारणप्रभवत्वं भेदानां परिमाणदर्शनाच्चेति। तदप्यचारुचर्वितम्; सुखदुःखमोहरूपतया घटादेरन्वयाभावादन्तस्तत्त्वस्यैव तथोपलम्भात्। अथान्तस्तत्त्वस्य न सुखादिपरिणामः, किन्तु तथापरिणममानप्रधानसंसर्गादात्मनोऽपि तथा प्रतिभास इति। तदप्यनुपपन्नम्; अप्रतिभासमानस्यापि संसर्गकल्पनायां तत्त्वेयत्ताया निश्चेतुमशक्तेः। तदुक्तम्—

संसर्गादविभागश्चेदयोगोलकवह्निवत्।
भेदाभेदव्यवस्थैवमुच्छिन्ना सर्ववस्तुषु ॥ ३३ ॥ इति

यदपि परिमाणाख्यं साधनम्, तदप्येकप्रकृतिकेषु घटघटीशरावोदञ्चनादिष्वनेकप्रकृतिकेषु पटकुटमकुटशकटादिषु चोपलम्भादनैकान्तिकमिति न ततः प्रकृतिसिद्धिः। तदेवं प्रधानग्रहणोपायासम्भवात्सम्भवे वा ततः कार्योदयायोगाच्च।

सांख्य—महदादि कार्यों के एक रूप अन्वय के देखे जाने से तथा महत् आदि भेदों का परिमाण पाया जाने से उनका एक कारण से उत्पन्न होना सिद्ध है। तात्पर्य यह है कि जैसे छोटे बड़े परिमाण वाले घट, घटी, सकोरा आदि का मिट्टी से अन्वय पाया जाता है, उसी प्रकार महत् अहंकार आदि के भी एक प्रकृति का अन्वय देखा जाता है तथा भेदों में परिमाण पाया जाने से प्रधान सिद्ध है।

जैन—यह कथन भी असुन्दर है; क्योंकि सुख, दुःख और मोह रूपपने से घटादि के अन्वय का अभाव होने से अन्तस्तत्त्वरूप आत्मा या चेतन पुरुष के ही सुख दुःख की उपलब्धि होती है।

सांख्य—अन्तस्तत्त्व रूप चेतन का सुखादि परिणाम नहीं है, किन्तु सुख दुःखादि रूप से परिणमन करने वाले प्रधान के संसर्ग से आत्मा के भी सुख दुःखादि रूप से प्रतिभास होता है।

जैन—यह कथन भी ठीक नहीं है; क्योंकि अप्रतिभासमान भी प्रधान की आत्मा के साथ संसर्ग की कल्पना करने पर तत्त्वों की संख्या का निश्चय करना अशक्य हो जायगा। जैसा कि कहा है—

श्लोकार्थ—यदि लोहे के गोले और अग्नि के समान संसर्ग से प्रधान और आत्मा में अभेद माना जाय तो सब वस्तुओं में भेद और अभेद की व्यवस्था ही नष्ट हो जायगी ॥३३॥

जो आपने परिमाण नामक हेतु दिया है, वह एक प्रकृतिक घट, घटी, शराव, उदञ्चन आदि में तथा अनेक प्रकृतिक पट, कुट, मुकुट आदि में पाए जाने से अनैकान्तिक है, अतः उससे प्रधान की सिद्धि नहीं होती है। इस प्रकार प्रधान के ग्रहण का उपाय असम्भव है अथवा सम्भव भी मान

यदुक्तं परेण—

प्रकृतेर्महान् ततोऽहङ्कारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः ।
तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि ॥ ३४ ॥

इति सृष्टिक्रमः,

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्या प्रकृतिविकृतयः सप्त ।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥ ३५ ॥

लिया जाय तो भी प्रकृति से (घटादि) कार्यों की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। जैसा कि सांख्य ने कहा है—

श्लोकार्थ—प्रकृति से महत् या बुद्धितत्त्व, महत् से अहंकार और अहंकार से पंच तन्मात्रायें तथा ग्यारह इन्द्रियाँ इन सोलह तत्त्वों का समूह उत्पन्न होता है। इन सोलह के समूह में अन्तर्भूत पाँच तन्मात्राओं से पाँच महाभूत (आकाशादि) उत्पन्न होते हैं ॥३४॥

विशेष—प्रकृति अव्यक्त है। महत् का अर्थ बुद्धि है। अहंकार अभिमान को कहते हैं। चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसन तथा त्वक् नामक पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ पाँच कर्मेन्द्रियाँ कही गई हैं। इनमें मन दोनों प्रकार की इन्द्रिय है। यह संकल्प करने वाला है। तन्मात्र अर्थात् सूक्ष्म शब्दादि। तन्मात्र में आए हुए मात्र पद का अर्थ यह है कि इनमें अनुभव योग्य सुख, दुःख, मोह इत्यादि विशेषतायें नहीं होती हैं। शब्द तन्मात्र से शब्द गुण वाला आकाश, शब्द तन्मात्र से युक्त स्पर्श तन्मात्र से शब्द और स्पर्श गुणों वाला वायु, शब्द और स्पर्श तन्मात्राओं से युक्त रूप तन्मात्र से शब्द, स्पर्श और रूप गुणों वाला तेजस्, शब्द स्पर्श और रूप तन्मात्राओं से युक्त रस तन्मात्र से शब्द, स्पर्श, रूप एवं रस गुणों वाला जल तथा शब्द, स्पर्श, रूप और रस तन्मात्रों से युक्त से गन्ध तन्मात्र शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध गुणों वाली पृथिवी उत्पन्न होती है।

यह सृष्टि का क्रम है।

श्लोकार्थ—मूल प्रकृति किसी का विकार अथवा कार्य नहीं है, महत् इत्यादि सात तत्त्व अहंकार का कारण और मूल प्रकृति का कार्य दोनों ही हैं। १६ तत्त्वों का समुदाय तो केवल कार्य ही है। पुरुष न कारण ही है और न कार्य ही ॥३५॥

विशेष—सांख्य शास्त्र के अन्तर्गत चार प्रकार के पदार्थ हैं। कोई

इति स्वरूपाख्यानं च वन्ध्यासुतसौरूप्यवर्णनमिवासद्विषयत्वादुपेक्षामर्हति; अमूर्त्तस्याऽऽकाशस्य मूर्तस्य पृथिव्यादेश्चैककारणकत्त्वायोगाच्च । अन्यथा अचेतनादपि पञ्चभूतकदम्बकाच्चैतन्यसिद्धेश्चार्वाकमतसिद्धिप्रसङ्गात् साङ्ख्यगन्ध एव न भवेत् । सत्कार्यवादप्रतिषेधश्चान्यत्र विस्तरेणोक्त इति नेहोच्यते; सङ्क्षेपस्वरूपादस्येति ।

तथा विशेषा एव तत्त्वम्; तेषामसमानेतरविशेषेभ्योऽशेषात्मना विश्लेषात्मकत्वात् सामान्यस्यैकस्यानेकत्र व्याप्त्या वर्तमानस्य सम्भवाभावाच्च । तस्यैकव्यक्ति-

---

पदार्थ केवल कारण रूप है, कोई केवल कार्य रूप है, कोई कारण और कार्य दोनों है, कोई दोनों में से एक भी नहीं। मूल प्रकृति कार्य से भिन्न अर्थात् केवल कारण है। जो कार्यों को उत्पन्न करती है, वही प्रकृति है। इसे प्रधान भी कहते हैं, जो कि सत्त्व, रजस् और तमस् गुणों की साम्यावस्था का नाम है। यह कारण ही है, कार्य नहीं। यह क्यों ? इसके उत्तर में कहा है कि यह सकल कार्यों की मूल है। इसका भी मूल मानने पर अनवस्था दोष होगा। महत्, अहंकार और पञ्च तन्मात्र ये सात कारण और कार्य दोनों हैं। प्रकृति और विकृति का अर्थ है—कारण और कार्य। ये सात हैं जो इस प्रकार हैं—महत् तत्त्व अहंकार का कारण और मूल प्रकृति का कार्य है, इस प्रकार अहंकार तत्त्व पाँच तन्मात्राओं और ग्यारह इन्द्रियों का कारण और महत् तत्त्व का कार्य है। इसी प्रकार पाँच तन्मात्र आकाश इत्यादि पाँच स्कूल भूतों के कारण तथा अहङ्कार के कार्य हैं। सोलह तत्त्वों (आकाशादि पाँच स्थूल भूत तथा ११ इन्द्रियाँ) का समुदाय केवल कार्य ही है, कारण नहीं। पुरुष न कारण है और न कार्य है।

इस प्रकार स्वरूप का कथन वन्ध्यासुत के सौन्दर्य वर्णन के समान असत् को विषय करने से उपेक्षा के योग्य है; क्योंकि अमूर्त आकाश और मूर्त पृथिवी आदि का एक कारण से उत्पन्न होना सम्भव नहीं है। अन्यथा अचेतन भी पञ्चभूतों के समूह से चार्वाक मत को सिद्धि के प्रसङ्ग से सांख्यमत की गन्ध भी नहीं रहेगी। सत्कार्यवाद का प्रतिषेध अन्यत्र (प्रमेयकमलमार्त्तण्ड में) विस्तार से कहा गया है, अतः यहाँ पर नहीं कहा जाता है; क्योंकि यह ग्रन्थ संक्षेप स्वरूप वाला है।

सांख्याभिमत सामान्य का निराकरण होने पर बौद्ध कहता है कि विशेष ही वस्तु का स्वरूप है। जैसे सामान्य का प्रतिपादन सांख्यों ने किया है, उसी प्रकार बौद्धों ने परमाणुरूप पर्यायें स्वीकृत की हैं। ये परमाणु प्रतिक्षण विनाशशील, अनित्य, निरंश और परस्पर सम्बन्धरहित हैं। वे विजातीय और सजातीय विशेषों से समस्त रूप से भिन्न स्वरूप वाले हैं;

निष्ठस्य सामस्त्येनोपलब्धस्य तथैव व्यक्त्यन्तरेऽनुपलम्भप्रसङ्गात्। उपलम्भे वा तन्नानात्वापत्तेर्युगपद् भिन्नदेशतया सामस्त्येनोपलब्धेस्तद्व्यक्तिवत्; अन्यथा व्यक्तयोऽपि भिन्ना माभूवन्निति। ततो बुद्ध्यभेद एव सामान्यम्। तदुक्तम्—

एकत्र दृष्टो भावो हि क्वचिन्नान्यत्र दृश्यते।
तस्मान्न भिन्नमस्त्यन्यत् सामान्यं बुद्ध्यभेदतः॥ ३६॥ इति

ते च विशेषाः परस्परासम्बद्धा एव, तत्सम्बन्धस्य विचार्यमाणस्यायोगात्। एकदेशेन सम्बन्धे अणुषट्केन युगपद् योगादणोः षडंशतापत्तेः। सर्वात्मनाभिसम्बन्धे पिण्डस्याणुमात्रकत्वापत्तेः। अवयविनिषेधाच्चासम्बद्धत्वमेषामुपपद्यत एव। तन्निषेधश्च वृत्तिविकल्पादिबाधनात्। तथाहि अवयवा अवयविनि वर्तन्त इति नाभ्युप-

---

क्योंकि नैयायिकादि के अनुसार माना गया, अनेक व्यक्तियों सर्वात्म रूप से व्याप्त होकर वर्तमान किसी एक सामान्य रूप तत्त्व के सम्भव होने का अभाव है। जैसे वह सामान्य रूप पदार्थ एक व्यक्तिनिष्ठ होकर सामस्त्य रूप उपलब्ध हो रहा है, उसी प्रकार उसके उसी प्रकार ही सामस्त्य रूप से व्यक्त्यन्तर अर्थात् अन्य व्यक्ति में प्राप्त न होने का प्रसङ्ग है। सामान्य प्राप्त भी हो तो नानापने की आपत्ति प्राप्त होती है; क्योंकि वह एक साथ भिन्न-भिन्न देशवर्ती व्यक्तियों में सम्पूर्ण रूप से पाया जाता है। अन्यथा व्यक्तियाँ भी भिन्न-भिन्न न हों। इसलिए सर्वत्र गो व्यक्तियों में बुद्धि का अभेद ही सामान्य है। जैसा कि कहा गया है—

श्लोकार्थ—एक स्थान पर देखा गया पदार्थ कहीं अन्यत्र दिखाई नहीं देता है, इसलिए बुद्धि के अभेद से भिन्न अन्य कोई सामान्य नहीं है॥३६॥

नैयायिक मत को दोष देकर बौद्ध कहते हैं कि वे विशेष परस्पर में सम्बन्ध से रहित ही हैं; क्योंकि उनका सम्बन्ध विचार किए जाने पर सिद्ध नहीं होता है। (सम्बन्ध एक देश से होता है या सर्वात्मना, इस प्रकार की शङ्का होने पर कहते हैं) एकदेश से सम्बन्ध मानने पर छह परमाणुओं के साथ एक साथ योग होने से परमाणु के छह अंश होने की आपत्ति प्राप्त होती है। सर्वात्मना सम्बन्ध मानने पर परमाणुओं के परस्पर में प्रवेश हो जाने से अणुमात्रपने की आपत्ति आती है। और अवयवी के निषेध से उन विशेषों के असम्बद्धपना भी प्राप्त होता है। अवयवी का निषेध वृत्तिविकल्प अर्थात् अवयवी का अवयवों में विचार करने तथा अनुमान से बाधा आने के कारण किया जाता है। इसी बात को स्पष्ट करते हैं—

गतम् । अवयवी चावयवेषु वर्तमानः किमेकदेशेन वर्तते, सर्वात्मना वा ? एकदेशेन वृत्तावयवान्तरप्रसङ्गः । तत्राप्येकदेशान्तरेणावयविनो वृत्तावनवस्था । सर्वात्मना वर्तमानोऽपि प्रत्यवयवं स्वभावभेदेन वर्तेत, आहोस्विदेकरूपेणेति ? प्रथमपक्षे अवयविबहुत्वापत्तिः । द्वितीयपक्षे तु अवयवानामेकरूपत्वापत्तिरिति । प्रत्येकं परिसमाप्त्या वृत्तावप्यवयविबहुत्वमिति ।

तथा यद्दृश्यं सन्नोपलभ्यते तन्नास्त्येव; यथा गगनेन्दीवरम् । नोपलभ्यते चावयवेष्ववयवीति । तथा यद्ग्रहे यद्बुद्धयभावस्तत्ततो नार्थान्तरम्, यथा वृक्षाग्रहे वनमिति । ततश्च निरंशा एवान्योन्यासंस्पर्शिणो रूपादिपरमाणवः, ते च एकक्षणस्थायिनो न नित्याः; विनाशं प्रत्यन्यानपेक्षणात् । प्रयोगश्च—यो यद्भावं

अवयव अवयवी में रहते हैं, ऐसा तो नैयायिकों ने माना नहीं है तथा अवयवी अवयवों में रहता हुआ क्या एकदेश से रहता है या सम्पूर्ण रूप से रहता है । एकदेश से रहने पर उसके दूसरे भी अवयव होने का प्रसंग आता है । दूसरे अवयवों में भी अन्य देश से अवयवी की वृत्ति मानने पर अनवस्था दोष प्राप्त होता है । यदि कहें कि सम्पूर्ण रूप से अवयवी अवयवों में रहता है तो हमारा प्रश्न है कि एक-एक अवयव के प्रति स्वभावभेद से अर्थात् अनेक स्वभावों से रहेगा अथवा एक रूप से रहेगा ? प्रथम पक्ष में अवयवियों के बहुत होने की आपत्ति आती है । द्वितीय पक्ष मानने पर अवयवों के एक रूप होने की आपत्ति आती है । एक-एक अवयव के प्रति अवयवी के सम्पूर्ण रूप से वृत्ति मानने पर अवयवियों के बहुत होने की आपत्ति आती है ।

अवयवों में अवयवी नहीं है; क्योंकि देखने योग्य होने पर भी उपलब्ध नहीं होता है । जो देखने योग्य होते हुए भी नहीं उपलब्ध होता है, वह नहीं है, जैसे—आकाश कुसुम । अवयवों में अवयवी उपलब्ध नहीं होता है । तथा अवयवों से अवयवी भिन्न नहीं है; क्योंकि अवयवों के ग्रहण न होने पर 'यह अवयवी है', ऐसी बुद्धि उत्पन्न नहीं होती है । जिसके अग्रहण में जिसकी बुद्धि का अभाव है, वह उससे भिन्न नहीं है । जैसे वृक्ष के ग्रहण न होने पर वन का अभाव है । प्रथम अनुमान से अवयवों में अवयवी का अभाव सिद्ध किया, इस अवयवी के निषेध से उस प्रकार के सम्बन्ध का निषेध किया, इस प्रकार हेतु द्वय से रूपादि परमाणु निरंश और परस्पर में असंस्पर्शी ही हैं और वे एकक्षण स्थायी हैं, नित्य नहीं हैं; क्योंकि वे अपने विनाश के प्रति किसी अन्य की अपेक्षा नहीं रखते । इसका

प्रत्यन्यानपेक्षः स तत्स्वभावनियतः; यथाऽन्त्या कारणसामग्री स्वकार्ये । नाशो हि मुद्गरादिना क्रियमाणास्ततो भिन्नोऽभिन्नो वा क्रियते ? भिन्नस्य करणे घटस्य स्थितिरेव स्यात् । अथ विनाशसम्बन्धान्नष्ट इति व्यपदेश इति चेद् भावाभावयोः कः सम्बन्धः ? न तावत्तादात्म्यम्; तयोर्भेदात् । नापि तदुत्पत्तिरभावस्य कार्याधारत्वाघटनात् । अभिन्नस्य करणे घटादिरेव कृतः स्यात् । तस्य च प्रागेव निष्पन्नत्वाद् व्यर्थं करणमित्यन्यानपेक्षत्वं सिद्धमिति विनाशस्वभावनियतत्वं साधयत्येव । सिद्धे चानित्यानां तत्स्वभावनियतत्वे तदितरेषामात्मादीनां विमत्यधिकरणभावापन्नानां सत्त्वादिना साधनेन तद्-दृष्टान्ताद्भवत्येव क्षणस्थितिस्वभावत्वम् । तथाहि—यत्सत्तत्सर्वमेकक्षणस्थितिस्वभावम्; यथा घटः । सन्तश्चामी भावा इति ।

अनुमान प्रयोग इस प्रकार है—जो जिस (विनाश) भाव के प्रति अपेक्षारहित है, वह तत्स्वभावनियत (विनाशस्वभावनियत) है। जैसे अन्त्य तन्तु संयोग लक्षण अन्त्य कारण सामग्री अपने कार्य पटोत्पत्ति में किसी अन्य कारण से निरपेक्ष है। मुद्गरादि से किया जाने वाला नाश घटादि रूप स्वकार्य से भिन्न किया जाता है या अभिन्न किया जाता है। विनाश के भिन्न करने पर घड़े की स्थिति हो रहेगी। यदि कहें कि विनाश के सम्बन्ध से 'घट नष्ट हुआ, ऐसा कहा जाता है तो हमारा प्रश्न है कि भाव अभाव (घट और विनाश) में क्या सम्बन्ध है ? तादात्म्य सम्बन्ध तो हो नहीं सकता; क्योंकि भाव और अभाव में भेद है। तदुत्पत्ति सम्बन्ध भी नहीं कह सकते; क्योंकि अभाव के कार्य का आधारपना घटित नहीं होता है। मुद्गरादि से घड़े से अभिन्न अभाव के करने पर घड़े आदि ही किए सिद्ध होते हैं। घड़े के पहले ही निष्पन्न होने से करना व्यर्थ है, इस प्रकार अन्य की अपेक्षा सिद्ध है। इस प्रकार विनाश स्वभाव की नियतता को सिद्ध करती है। अनित्य परमाणुओं के विनाश स्वभावनियतता सिद्ध होने पर उनसे भिन्न आत्मा आदि के विवादापन्न सत्त्वादि हेतुओं के द्वारा घड़ा आदि विशेष के दृष्टान्त से एक क्षण स्थिति वाले स्वभावपने की सिद्ध होती ही है। इसी बात को स्पष्ट करते हैं—जो सत् होता है, वह सब एकक्षण स्थिति स्वभावरूप है, जैसे—घड़ा। (परमार्थ रूप से घट क्षणिक है, पृथुबुध्नोदराकार रूप से देखा जाता हुआ घड़ा कुछ काल तक स्थायी दिखाई देता है, शीघ्र विनाशी दिखाई नहीं देता है, इस प्रकार की भ्रान्ति अविद्या के वश होती है)। और ये परमाणु रूप पदार्थ सत् हैं।

अथवा सत्त्वमेव विपक्षे बाधकप्रमाणबलेन दृष्टान्तनिरपेक्षमशेषस्य वस्तुनः क्षणिकत्वमनुमापयति । तथाहि—सत्त्वमर्थक्रियया व्याप्तम्, अर्थक्रिया च क्रम-यौगपद्याभ्याम्; ते च नित्यान्निवर्त्तमाने स्वव्याप्यामर्थक्रियामादाय निवर्तेते । सापि स्वव्याप्यं सत्त्वमिति नित्यस्य क्रम-यौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात् सत्त्वासम्भावनं विपक्षे बाधकप्रमाणमिति । न हि नित्यस्य क्रमेण युगपद्वा सा सम्भवति; नित्य-स्यैकनैव स्वभावेन पूर्वापरकालभाविकार्यद्वयं कुर्वतः कार्याभेदकत्वात् तस्यैकस्वभाव-त्वात् तथापि कार्यनानात्वेऽन्यत्र कार्यभेदात्कारणभेदकल्पना विफलैव स्यात् । तादृशमेकमेव किञ्चित् कारणं कल्पनीयं येनैकस्वभावेनैकेनैव चराचरमुत्पद्यत इति ।

अथ स्वभावनानात्वमेव तस्य कार्यभेदादिष्यत इति चेत्तर्हि ते स्वभावास्तस्य

(अब बहिर्व्याप्ति रूप अनुमान से सिद्धि करते हैं)—अथवा सत्त्व ही विपक्ष रूप नित्य में बाधक प्रमाण के बल से (नित्य पदार्थ नहीं है; क्योंकि उसमें क्रम से या एक साथ अर्थक्रियाकारिता का अभाव है, इस प्रकार बाधक प्रमाण के बल से) दृष्टान्त के बिना ही समस्त वस्तुओं के क्षणिकपने का अनुमान कराता है। इसको ही स्पष्ट करते हैं—सत्त्व अर्थ क्रिया से व्याप्त है। अर्थक्रिया क्रम तथा यौगपद्य से व्याप्त है। वे क्रम और यौगपद्य नित्य पदार्थ से निवृत्ति होते हुए अपने साथ व्याप्त अर्थक्रिया को लेकर निवृत्त होते हैं। वह अर्थक्रिया भी अपने व्याप्य सत्त्व को साथ में लेकर निवृत्त होती है, इस प्रकार नित्य का क्रम और युगपत् अर्थक्रिया से विरोध है, (नित्य पदार्थ नहीं है; क्योंकि उसमें क्रम से और युगपत् अर्थक्रिया का अभाव है। जैसे—खरविषाण)। सत्त्व की असम्भा-वना (नित्य रूप) विपक्ष में बाधक प्रमाण है। नित्य पदार्थ के क्रम से और एक साथ अर्थक्रिया संभव नहीं होती है। (एक स्वभाव अथवा अनेक स्वभाव रूप विकल्पद्वय को मन में रखकर क्रम से अर्थक्रिया का निराकरण करते हुए कहते हैं)। नित्य के एक ही स्वभाव से पूर्वापर-कालभावी दो पदार्थों को करते हुए, वह कार्य का भेदक नहीं हो सकता; क्योंकि नित्य पदार्थ एक स्वभाव वाला होता है, तथापि कार्यों का नानापन मानने पर अन्य जगह अर्थात् अनित्य पदार्थों में कार्य के भेद से कारण के भेद की कल्पना करना विफल हो जायगी। अतः उस प्रकार के किसी एक कारण की कल्पना करनी योग्य है, जिससे कि एक स्वभाव वाले एक ही पदार्थ से चराचर जगत् उत्पन्न हो जाय।

नैयायिकों का कहना है कि यदि नित्य पदार्थ के स्वभाव का नानापन

सर्वदा सम्भविनस्तदा कार्यसाङ्कर्यम् । नो चेत् तदुत्पत्तिकारणं वाच्यम् ? तस्मादेव तदुत्पत्तौ तत्स्वभावानां सदा सम्भवात्सैव कार्याणां युगपत्प्राप्तिः । सहकारिक्रमापेक्षया तत्स्वभावानां क्रमेण भावान्नोक्त दोष इति चेत्तदपि न साधुसङ्गतम्; समर्थस्य नित्यस्य परापेक्षायोगात् । तैः सामर्थ्यकरणे नित्यताहानिः । तस्मादभिन्नमेव सामर्थ्यं तैर्विधीयत इति न नित्यताहानिरिति चेत्तर्हि नित्यमकिञ्चित्करमेव स्यात्, सहकारिजनितसामर्थ्यस्यैव कार्यकारित्वात् । तत्सम्बन्धात्तस्यापि कार्यकारित्वे तत्सम्बन्धस्यैकस्वभावत्वे सामर्थ्यनानात्वाभावान्न कार्यभेदः । अनेकस्वभावत्वेऽक्रमवत्त्वे च कार्यवत्तस्यापि साङ्कर्यमिति सर्वमावर्तत इति चक्रकप्रसङ्गः । तस्मान्न क्रमेण कार्यकारित्वं नित्यस्य । नापि युगपत् ; अशेषकार्याणां युगपदुत्पत्तौ द्वितीयक्षणे कार्याकरणादनर्थक्रियाकारित्वेनावस्तुत्वप्रसङ्गात् । इति नित्यस्य क्रमयोगपद्याभावः

ही कार्य के भेद से मानते हैं तो हमारा प्रश्न है कि वे स्वभाव उस नित्य पदार्थ के सर्वदा सम्भव हैं तो कार्यों की सङ्करता प्राप्त होती है, यदि सर्वदा सम्भव नहीं है तो उन स्वभावों की उत्पत्ति का कारण कहना चाहिए। उस नित्य पदार्थ से ही उन स्वभावों की उत्पत्ति मानने पर उन स्वभावों के सदा सम्भव होने से कार्यों की युगपत् प्राप्ति होती है। यदि कहें कि निमित्त कारणों के क्रम की अपेक्षा नित्य पदार्थों के स्वभाव क्रम से उत्पन्न होने के कारण उक्त दोष नहीं है तो यह भी ठीक तरह से सङ्गत नहीं है; क्योंकि जो नित्य समर्थ है, वह दूसरे की अपेक्षा नहीं कर सकता। सहकारी कारणों के द्वारा नित्य के भी सामर्थ्य करना मानने पर नित्यता की हानि होती है। अतः सहकारियों के द्वारा भिन्न ही सामर्थ्य की जाती है, इस प्रकार नित्यता की हानि नहीं होती है, यदि ऐसा कहें तो नित्य अकिञ्चित्कर ही होता है, क्योंकि सहकारियों से उत्पन्न सामर्थ्य ही कार्यकारी होती है। सहकारी कारणों से उत्पन्न हुई सामर्थ्य के सम्बन्ध से नित्य पदार्थ के भी कार्यकारी मानने पर उस सम्बन्ध का एक स्वभाव मानने पर सामर्थ्य के नानापने के अभाव होने से कार्यभेद नहीं होगा। सामर्थ्य के सम्बन्ध को अनेक स्वभाव वाला मानने पर अक्रम रूप से सम्बद्ध होने से घड़े आदि कार्यों के समान उस सामर्थ्य के भी सङ्करपना प्राप्त होगा। इस प्रकार समस्त दोषों के आवर्तन से चक्रक दोष हो जायगा। अतः नित्य पदार्थ क्रम से कार्य नहीं करता है।

नित्य पदार्थ एक साथ भी कार्य नहीं करता है। समस्त कार्यों की एक साथ उत्पत्ति मानने पर द्वितीय क्षण में कार्य के न करने से अर्थक्रियाकारिता का अभाव हो जायगा, वैसी दशा में उसके अवस्तुपने का प्रसंग

सिद्ध एवेति सौगताः प्रतिपेदिरे। तेऽपि न युक्तवादिनः; सजातीयेतरव्यावृत्तात्मनां विशेषाणामनंशानां ग्राहकस्य प्रमाणस्याभावात्। प्रत्यक्षस्य स्थिरस्थूलसाधारणाकारवस्तुग्राहकत्वेन निरंशवस्तुग्रहणायोगात्। न हि परमाणवः परस्परासम्बद्धाश्चक्षुरादिबुद्धौ प्रतिभान्ति, तथा सत्यविवादप्रसङ्गात्।

अथानुभूयन्त एव प्रथमं तथाभूताः क्षणाः, पश्चात्तु विकल्पवासनाबलादन्तरादन्तरालानुपलम्भलक्षणाद् बाह्याच्चाविद्यमानोऽपि स्थूलाद्याकारो विकल्पबुद्धौ चकास्ति। स च तदाकारेणानुरज्यमानः स्वव्यापारं तिरस्कृत्य प्रत्यक्षव्यापारपुरःसरत्वेन प्रवृत्तत्वात् प्रत्यक्षायत इति। तदप्यतिबालविलसितम्; निर्विकल्पक-बोधस्यानुपलक्षणात्। गृहीते हि निर्विकल्पकेतरयोर्भेदे अन्याकारानुरागस्यान्यत्र कल्पना युक्ता स्फटिकजपाकुसुमयोरिव, नान्यथेति।

आता है। इस प्रकार नित्य पदार्थ के क्रम से और एक साथ कार्य का अभाव सिद्ध ही है, ऐसा बौद्ध लोग प्रतिपादन करते हैं।

इस प्रकार कहने वाले बौद्ध भी युक्तिवादी नहीं हैं; क्योंकि सजातीय-विजातीय भिन्न-भिन्न स्वरूप वाले अंश रहित विशेषों के ग्राहक प्रमाण का अभाव है। प्रत्यक्ष प्रमाण तो स्थिर, स्थूल और साधारण आकार वाले पदार्थ का ग्राहक है, अतः वह निरंश वस्तु को ग्रहण नहीं कर सकता। परस्पर असम्बद्ध परमाणु चक्षु आदि इन्द्रियों की बुद्धि में प्रतिभासित नहीं होते हैं। यदि प्रतिभासित होते तो फिर विवाद का प्रसङ्ग ही नहीं आता।

बौद्ध—इन्द्रिय और पदार्थ का सम्बन्ध होने के बाद सर्वप्रथम निरंश परमाणु ही प्रतिभासित होते हैं, पीछे विकल्प की वासना रूप अन्तरंग कारण से और बाहरी अन्तराल के नहीं पाये जाने रूप बहिरंग कारण से अविद्यमान भी स्थिर-स्थूल आदि आकार विकल्पबुद्धि में प्रतिभासित होते हैं और वह विकल्प उस निर्विकल्प प्रत्यक्ष के आकार से अनुरंजित होकर अपने विकल्प रूप अस्पष्ट व्यापार को तिरस्कृत कर स्पष्ट रूप प्रत्यक्ष व्यापार पूर्वक प्रवृत्त होने से प्रत्यक्ष के समान प्रतिभासित होता है।

जैन—बौद्धों का कथन भी अति बाल-चेष्टा के समान है; क्योंकि किसी को भी निर्विकल्प ज्ञान का अनुभव नहीं होता है। निर्विकल्प और सविकल्प के भेद गृहीत होने पर ही अन्य निर्विकल्प के आकार की अन्यत्र कल्पना करना युक्त है। जैसे पूर्व में स्फटिक वस्तु के निश्चित होने पर स्फटिक में जपाकुसुम की कल्पना युक्त है, अन्यथा नहीं। (निर्विकल्प

एतेन तयोर्युगपद्वृत्तेर्लघुवृत्तेर्वा तदेकत्वाध्यवसाय इति निरस्तम्; तस्यापि कोशपानप्रत्येयत्वादिति। केन वा तयोरेकत्वाध्यवसायः? न तावद्विकल्पेन, तस्याविकल्पवार्तानभिज्ञत्वात्। नाप्यनुभवेन; तस्य विकल्पागोचरत्वात्। न च तदुभयाविषयं तदेकत्वाध्यवसाये समर्थमतिप्रसङ्गात्। ततो न प्रत्यक्षबुद्धौ तथाविधविशेषावभासः। नाप्यनुमानबुद्धौ, तदविनाभूतस्वभावकार्यलिङ्गाभावात्। अनुपलम्भोऽसिद्ध एव, अनुवृत्ताकारस्य स्थूलाकारस्य चोपलब्धेरुक्तत्वात्।

और सविकल्प में भेद के न ग्रहण करने पर निर्विकल्प आकार की सविकल्प में अनुरागता युक्त नहीं है)।

सविकल्प में निर्विकल्प के आकार के निराकरण द्वारा उन दोनों (सविकल्प और निर्विकल्प) में युगपत् वृत्ति से (यदि दोनों में एकत्व का अध्यवसाय माना जाय तो लम्बी पूरी के भक्षण आदि में रूपादि पाँचों का ज्ञान एक साथ होने से उनमें भी अभेद का अध्यवसाय माना जाना चाहिए) अथवा लघुवृत्ति से (क्रमवृत्त्व होने पर भी) उस निर्विकल्प और सविकल्प की एकता का निश्चय होता है, इस कथन का भी निराकरण हो गया। (यदि लघुवृत्ति से अभेद का अध्यवसाय (निश्चय) माना जाय तो गधे के रेंकने इत्यादि में भी अभेद का अध्यवसाय हो)। उनका यह कथन सौगन्ध खाने के समान है। (जिस प्रकार सौगन्ध खाकर बलात् विश्वास दिलाया जाता है, उसी प्रकार उनका कथन है।) अथवा निर्विकल्प और सविकल्प के एकत्व का निश्चय किस ज्ञान से होगा? विकल्प से तो हो नहीं सकता; क्योंकि विकल्प ज्ञान अविकल्प की वार्ता से अनभिज्ञ है। अनुभव रूप निर्विकल्प प्रत्यक्ष से भी नहीं हो सकता; क्योंकि विकल्प अनुभव के अगोचर है। और उन दोनों को ही विषय न करने वाला निर्विकल्प और सविकल्प का निश्चय कराने में समर्थ नहीं है, अन्यथा अतिप्रसंग दोष आ जायगा। अतः प्रत्यक्ष ज्ञान में परस्पर असम्बद्ध परमाणु विशेष प्रतिभासित नहीं होते हैं। और अनुमान ज्ञान में भी उनका प्रतिभास होता है; क्योंकि परस्पर असम्बद्ध परमाणुओं के अविनाभावी स्वभावलिङ्ग और कार्यलिङ्ग का अभाव है। अनुपलम्भ हेतु तो असिद्ध ही है (यदि कहा जाय कि स्थिर, स्थूल और साधारण आकार वाले पदार्थ के नहीं पाए जाने से (परमाणुरूप) विशेष ही तत्त्व है, सो यह कथन असिद्ध है; क्योंकि अनुवृत्त आकार की और स्थूल आकार की उपलब्धि के विषय में हम कह चुके हैं। (यदि अनुवृत्त आकार और

यद्यपि 'परमाणूनामेकदेशेन सर्वात्मना वा सम्बन्धो नोपपद्यत इति' तत्रानभ्युपगम एव परिहारः; स्निग्धरूक्षाणां सजातीयानां विजातीयानां च द्व्यधिकगुणानां कथञ्चित्स्कन्धाकारपरिणामात्मकस्य सम्बन्धस्याभ्युपगमात्।

स्थूल आकार के अनुपलम्भ के बल से अनुपलब्धि हो तो निरंश परमाणुओं की सिद्धि हो, अन्यथा न हो; क्योंकि प्रत्यक्ष से स्थूलादि आकार की प्रतीति होती है)।

जो आप बौद्धों ने कहा कि परमाणुओं का एकदेश अथवा सर्वदेश से सम्बन्ध नहीं बनता है, उस विषय में जैनों का वैसा नहीं मानना ही परिहार है। स्निग्ध और रूक्ष, सजातीय और विजातीय दो अधिक गुण वाले परमाणुओं का कथञ्चित् स्कन्ध के आकार से परिणत होने रूप सम्बन्ध को जैन मानते हैं।

विशेष—बाह्य और आभ्यन्तर कारण से जो स्नेह पर्याय उत्पन्न होती है, उससे पुद्गल स्निग्ध कहलाता है। रूखेपन के कारण पुद्गल रूक्ष कहा जाता है। स्निग्ध और रूक्ष गुण वाले दो परमाणुओं का परस्पर संश्लेषलक्षण बन्ध होने पर द्व्यणुक नाम का स्कन्ध बनता है। इसी प्रकार संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश वाले स्कन्ध उत्पन्न होते हैं। जिस प्रकार जल तथा बकरी, गाय, भैंस और ऊँट के दूध और घी में उत्तरोत्तर अधिक रूप से स्नेह गुण रहता है तथा पांशु, कणिका और शर्करा आदि में उत्तरोत्तर न्यून रूप से रूक्ष गुण रहता है, उसी प्रकार परमाणुओं में भी न्यूनाधिक रूप से स्निग्ध और रूक्ष गुण का अनुमान होता है। जिनका शक्त्यंश निकृष्ट होता है, वे जघन्य गुण वाले कहलाते हैं। उन जघन्य गुण वालों का बन्ध नहीं होता है। समान शक्त्यंश होने पर तुल्य जाति वालों का बन्ध नहीं होता है। दो अधिक आदि शक्त्यंश वालों का तो बन्ध होता है। समानजातीय या असमानजातीय दो अधिक आदि शक्त्यंश वालों का बन्ध होता है, दूसरों का नहीं। जैसे—दो स्निग्ध शक्त्यंश वाले परमाणु का एक स्निग्ध शक्त्यंश वाले परमाणु के साथ, दो स्निग्ध शक्त्यंश वाले परमाणु के साथ और तीन स्निग्ध शक्त्यंश वाले परमाणु के साथ बन्ध नहीं होता, चार स्निग्ध शक्त्यंश वाले परमाणुओं के साथ अवश्य बन्ध होता है। तथा दो रूप शक्त्यंश वाले परमाणु का एक, दो और तीन रूक्ष शक्त्यंश वाले परमाणु के साथ बन्ध नहीं होता। चार रूक्ष शक्त्यंश वाले परमाणु के साथ अवश्य बन्ध होता है। कहा भी है—

यच्चावयविनि वृत्तिविकल्पादि बाधकमुक्तम्; तत्रावयविनो वृत्तिरेव यदि नोपपद्यते; तदा न वर्तत इत्यभिधातव्यम्। नैकदेशादिविकल्पस्तस्य विशेषानान्तरीयकत्वात्। तथाहि—'नैकदेशेन वर्तते, नापि सर्वात्मना' इत्युक्ते प्रकारान्तरेण वृत्तिरित्यभिहितं स्यात्। अन्यथा न वर्तत इत्येव वक्तव्यमिति विशेषप्रतिषेधस्य शेषाभ्यनुज्ञानरूपत्वात् कथञ्चित्तादात्म्यरूपेण वृत्तिरित्यवसीयते; तत्र यथोक्तदोषाणमनवकाशात्। विरोधादिदोषश्चाग्रे प्रतिषेत्स्यत इति नेह प्रतन्यते।

यच्चैकक्षणस्थायित्वे साधनम्—'यो यद्भावं प्रतीत्याद्युक्तम्', तदप्यसाधनम्; असिद्धादिदोषदुष्टत्वात्। तत्रान्यानपेक्षत्वं तावदसिद्धम्, घटाद्य-

---

"णिद्धस्स णिद्धेण दुराधिएण लुक्खस्स लुक्खेण दुराधिएण।
णिद्धस्स लुक्खेण हवेइ बंधो जहण्णवज्जो विसमे समे वा॥"

स्निग्ध का दो अधिक शक्त्यंश वाले स्निग्ध के साथ बन्ध होता है। रूक्ष का दो अधिक शक्त्यंश वाले रूक्ष के साथ बन्ध होता है तथा स्निग्ध का रूक्ष के साथ सम या विषम गुणों के होने पर इसी नियम से बन्ध होता है, किन्तु जघन्य शक्त्यंश वाले का बन्ध सर्वथा वर्जनीय है।

(सर्वार्थसिद्धि ५/३३–३६ की व्याख्या)

जो अवयवी में वृत्तिविकल्प आदि बाधक कहे हैं सो अवयवों में अवयवी की वृत्ति ही यदि नहीं बनती है तो अवयवी अवयवों में रहता ही नहीं है, ऐसा कहना चाहिये। एकदेश से रहता है या सर्वदेश से रहता है, इत्यादि विकल्प नहीं कहना चाहिये; क्योंकि एकदेशादि विकल्प के अन्य विकल्प विशेष के साथ अविनाभाव पाया जाता है। इसे ही स्पष्ट करते हैं—

अवयवी अवयवों में न एकदेश से रहता है और न सर्वदेश से, ऐसा कहे जाने पर अन्य प्रकार से रहता है, ऐसा कहा गया समझना चाहिए। अन्यथा अवयवों में अवयवी सर्वथा रहता ही नहीं, ऐसा कहना चाहिए; क्योंकि विशेष का निषेध शेष के अङ्गीकार रूप होता है, अतः कथञ्चित् तादात्म्य रूप से अवयवी की अवयवों में वृत्ति है, ऐसा निश्चय होता है। अवयवी के अवयवों में तादात्म्य रूप से रहने पर जो आपने कहे हैं, उन दोषों का अवकाश ही नहीं रह जाता है। विरोध आदि दोषों का आगे निषेध किया जायगा, अतः यहाँ पर विस्तार नहीं करते हैं।

और जो बौद्धों ने पदार्थों के एकक्षणस्थायी रहने में साधन कहा है—जो जिस भाव के प्रति अन्य की अपेक्षा रहित है, वह विनाशस्वभावी है,

भावस्य मुद्गरादिव्यापारान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात् तत्कारणत्वोपपत्तेः। कपालादिपर्यायान्तरभावो हि घटादेरभावः; तुच्छाभावस्य सकलप्रमाणगोचरातिक्रान्तरूपत्वात्।

किञ्च—अभावो यदि स्वतन्त्रो भवेत्तदाऽन्यानपेक्षत्वं विशेषणं युक्तम्। न च सौगतमते सोऽस्तीति हेतुप्रयोगानवतार एव। अनैकान्तिकं चेदम्; शालिबीजस्य कोद्रवाङ्कुरजननं प्रति अन्यानपेक्षत्वेऽपि तज्जननवस्वभावानियतत्वात्। तत्स्वभावत्वे सतीति विशेषणान्न दोष इति चेन्न; सर्वथा पदार्थानां विनाशस्वभावासिद्धेः। पर्यायरूपेणैव हि भावानामुत्पादविनाशावङ्गीक्रियेते, न द्रव्यरूपेण।

समुदेति विलयमृच्छति भावो नियमेन पर्ययनयस्य।
नोदेति नो विनश्यति भावनयार्लिगितो नित्यम् ॥ ३७ ॥

इति वचनात्।

वह भी असाधन है; क्योंकि वह असिद्ध आदि दोषों से दूषित है। उस अनुमान में अन्यानपेक्षत्व रूप हेतु असिद्ध है, घट आदि के अभाव का मुद्गर आदि के व्यापार के साथ अन्वय-व्यतिरेकपना पाए जाने से विनाश के प्रति मुद्गरादि के व्यापार की कारणता बन जाती है। (कपालादि की उत्पत्ति के प्रति मुद्गरादि का व्यापार है, अभाव के प्रति नहीं, ऐसी आशंका होने पर कहते हैं) कपालादि अन्य पर्याय का होना ही घट आदि का अभाव कहलाता है अत्यन्ताभावरूप निःस्वभाव किसी भी प्रमाण का विषय नहीं है।

दूसरी बात यह है कि अभाव यदि स्वतन्त्र (कारणनिरपेक्ष) हो, तब अन्यानपेक्षत्व विशेषण युक्त है, किन्तु बौद्धमत में स्वतन्त्र रूप से अभाव है नहीं, अतः विनाश के प्रति अन्य हेतु की अपेक्षा न रहने से हेतु के प्रयोग का अवतार ही नहीं है। यह हेतु अनैकान्तिक भी है (शालि बीज कोद्रों के अंकुरोत्पत्ति के प्रति अपेक्षा से रहित है, परन्तु शालिबीज में कोद्रव के अंकुरजनन की सामर्थ्य नहीं है, अतः साध्य के अभाव में भी साधन का सद्भाव होने से यह हेतु अनैकान्तिक है)। शालिबीज कोद्रवांकुर के जनन के प्रति अन्य की अपेक्षा नहीं रखता है, क्योंकि उसकी उसे उत्पन्न करने की सामर्थ्य ही नहीं है। बौद्ध कहते हैं कि समस्त पदार्थ विनाश स्वभावनियत हैं। विनाश स्वभाव होने पर ऐसा विशेषण अन्यानपेक्षत्व हेतु का कर देने पर उक्त दोष नहीं रहेगा, यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि पदार्थों का विनाश स्वभाव असिद्ध है। पर्यायार्थिकनय से ही पदार्थों का उत्पाद और विनाश स्वीकार किया जाता है, द्रव्यार्थिकनय से नहीं।

श्लोकार्थ—पर्यायार्थिकनय के नियम से पदार्थ उत्पन्न होता है और

न हि निरन्वयविनाशे पूर्वक्षणस्य ततो मृताच्छिखिनः केकायितस्येवोत्तरक्षणस्योत्पत्तिर्घटते । द्रव्यरूपेण कथञ्चिदत्यक्तरूपस्यापि सम्भवात् न सर्वथा भावानां विनाशस्वभावत्वं युक्तम् । न च द्रव्यरूपस्य ग्रहीतुमशक्यत्वादभावः; तद्ग्रहणोपायस्य प्रत्यभिज्ञानस्य बहुलमुपलम्भात् । तत्प्रामाण्यस्य च प्रागेवोक्तत्वात्, उत्तरकार्योत्पत्त्यन्यथानुपपत्तेश्च सिद्धत्वात् ।

यच्चान्यत्साधनं सत्त्वाख्यं तदपि विपक्षवत्स्वपक्षेऽपि समानत्वान्न साध्यसिद्धिनिबन्धनम् । तथाहि—सत्त्वमर्थक्रियया व्याप्तम्, अर्थक्रिया च क्रमयौगपद्याभ्याम् ते च क्षणिकान्निवर्तमाने स्वव्याप्यामर्थक्रियामादाय निवर्तेते । सा च निवर्तमाना स्वव्याप्यसत्त्वमिति नित्यस्येव क्षणिकस्यापि खरविषाणवदसत्त्वमिति न तत्र सत्त्वव्यवस्था । न च क्षणिकस्य वस्तुनः क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधोऽसिद्धः; तस्य देशकृतस्य कालकृतस्य वा क्रमस्यासम्भवात् । अवस्थितस्यै-

---

नाश को प्राप्त होता है, किन्तु द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा पदार्थ न उत्पन्न होता है और न विनष्ट होता है, किन्तु नित्य ही रहता है ॥३७॥

इस प्रकार आगमन में कहा गया है ।

पूर्व क्षण का निरन्वय विनाश मानने पर पूर्व क्षण से उत्तर क्षण की उत्पत्ति घटित नहीं होती है, जिस प्रकार मरे हुए मोर से वाणी नहीं निकल सकती है । द्रव्य रूप से कथञ्चित् अत्यक्त रूप पदार्थ के भी सम्भव होने से पदार्थों का सर्वथा विनाशस्वभावपना युक्त नहीं है । ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि द्रव्य रूप का ग्रहण करना अशक्य होने से अभाव है । द्रव्य को ग्रहण करने का उपायभूत प्रत्यभिज्ञान बहुलता से पाया जाता है । प्रत्यभिज्ञान का प्रामाण्य पहले ही कह चुके हैं । यदि द्रव्य रूप से अन्वित न हो तो उत्तर कार्य की उत्पत्ति भी न हो । इस प्रकार की अन्यथानुपपत्ति से द्रव्यरूप की सिद्धि होती है ।

क्षणिकत्व की सिद्धि के लिए जो सत्त्व नामका हेतु कहा है, वह भी विपक्ष (नित्य) के समान स्वपक्ष (अनित्य) में भी समान होने से साध्य की सिद्धि में कारण नहीं है । इसी बात को स्पष्ट करते हैं—

सत्त्व अर्थक्रिया से व्याप्त है । अर्थक्रिया क्रम और यौगपद्य से व्याप्त है । वे क्रम और यौगपद्य क्षणिक से निवृत्त होते हुए स्वव्याप्य अर्थक्रिया को लेकर निवृत्त होते हैं और वह अर्थक्रिया निवृत्त होती हुई स्वव्याप्य सत्त्व को लेकर निवृत्त होती है । इस प्रकार नित्य के समान क्षणिक पदार्थ का भी खरविषाण के समान असत्त्व सिद्ध है । इस प्रकार क्षणिक पक्ष में सत्त्व की व्यवस्था सिद्ध नहीं होती है । क्षणिक वस्तु का क्रम और यौगपद्य से अर्थक्रिया का विरोध असिद्ध नहीं है; क्योंकि क्षणिक वस्तु के

कस्य हि नानादेशकालकलाव्यापित्वं देशक्रमः कालक्रमश्चाभिधीयते। न च क्षणिकेसोऽस्ति।

यो यत्रैव स तत्रैव यो यदैव तदैव सः।
न देशकालयोर्व्याप्तिर्भावानामिह विद्यते ॥ ३८ ॥

इति स्वयमेवाभिधानात्।

न च पूर्वोत्तरक्षणानामेकसन्तानापेक्षया क्रमःसम्भवति; सन्तानस्य वास्तवत्वे तस्यापि क्षणिकत्वेन क्रमायोगात्। अक्षणिकत्वेऽपि वास्तवत्वे तेनैव सत्त्वादिसाधनमनैकान्तिकम्। अवास्तवत्वे न तदपेक्षः क्रमो युक्त इति। नापि यौगपद्येन तत्रार्थक्रिया सम्भवति; युगपदेकेन स्वभावेन नानाकार्यकरणे तत्कार्यैकत्वं स्यात्। नानास्वभावकल्पनायां ते स्वभावास्तेन व्यापनीयाः। तत्रैकेन स्वभावेन तद्व्याप्तौ तेषामेकरूपता। नानास्वभावेन चेदनवस्था। अथैकत्रैकस्योपादानभाव एवान्यत्र

देशकृत और कालकृत क्रम का होना असम्भव है। अवस्थित एक पदार्थ के नाना देश में व्याप्त होकर रहने को देशक्रम और नाना काल कलाओं में व्याप्त होकर रहने को कालक्रम कहते हैं। क्षणिक पदार्थ में वह सम्भव नहीं है।

श्लोकार्थ—जो पदार्थ जिस देश में उत्पन्न हुआ है, वह वहीं विनष्ट होता है और जो पदार्थ जिस काल में उत्पन्न हुआ है, वह भी उसी समय विनाश को प्राप्त होता है। इसलिए पदार्थों की क्षणिक पक्ष में देशक्रम और कालक्रम की अपेक्षा देश और काल की व्याप्ति नहीं है ॥३८॥

इस प्रकार बौद्धों ने स्वयं कहा है।

पूर्व और उत्तर क्षणों का एक सन्तान की अपेक्षा क्रम सम्भव नहीं है। सन्तान को वास्तव मानने पर उस सन्तान के भी क्षणिक होने से क्रम नहीं बनता है। सन्तान नित्य मानने पर भी सन्तान में ही सत्त्वादि साधन अनैकान्तिक हो जाता है। सन्तान के अवास्तविकपने के होने पर सन्तान की अपेक्षा क्रम युक्त नहीं है। एक साथ भी क्षणिक पदार्थ में अर्थक्रिया सम्भव नहीं है। युगपत् एक स्वभाव से क्षणिक के नाना कार्य करने पर उन कार्यों के एकत्व सिद्ध होता है। नाना स्वभाव से क्रिया करता है, ऐसी कल्पना करने पर वे स्वभाव उस क्षणिक वस्तु के साथ व्याप्त होकर रहने चाहिए। उनमें एक स्वभाव से क्षणिक पदार्थ के नाना स्वभावों की व्याप्ति मानने पर उन नाना स्वभावों के एकरूपता आपत्ति प्राप्त होती है। यदि नाना स्वभाव से क्षणिक पदार्थ के साथ

सहकारिभाव इति न स्वभावभेद इष्यते, तर्हि नित्यस्यैकस्यापि वस्तुनः क्रमेण नानाकार्यकारिणः स्वभावभेदः कार्यसाङ्कर्यं वा माभूत् । अक्रमात् क्रमिणामनुत्पत्तेर्नैवमिति चेदेकानंशकारणाद्युगपदनेककारणसाध्यानेककार्यविरोधादक्रमिणोऽपि न क्षणिकस्य कार्यकारित्वमिति ।

किञ्च—भवत्पक्षे सतोऽसतो वा कार्यकारित्वम् ? सतः कार्यकर्तृत्वे सकलकालकलाव्यापिक्षणानामेकक्षणवृत्तिप्रसङ्गः । द्वितीयपक्षे खरविषाणदेरपि कार्यकारित्वम्, असत्त्वाविशेषात् । सत्त्वलक्षस्य व्यभिचारश्च । तस्मान्न विशेषैकान्तपक्षः श्रेयान् ।

नाना स्वभावों की व्याप्ति मानते हैं तो अनवस्था दोष आता है । (नाना स्वभाव से यदि नानास्वभावों की व्याप्ति होती है तो नानास्वभाव किससे व्यापनीय होंगे ? दूसरे नाना स्वभाव से कहो तो अनवस्था दोष आता है; क्योंकि इससे तो दूसरे-दूसरे नाना स्वभावों की कल्पना करनी पड़ेगी ।

यदि बौद्धों द्वारा कहा जाय कि एक जगह (रूपक्षणादि में) एक उत्तरक्षण का उपादान भाव ही अन्य रसक्षणादि में सहकारिभाव है, अतः हमें स्वभाव भेद इष्ट नहीं है तो नित्य एक ही वस्तु के क्रम से नाना कार्य करने पर स्वभाव भेद या एक साथ अनेक कार्यों की प्राप्ति रूप कार्य साङ्कर्य भी नहीं मानना चाहिए । यदि कहा जाय कि अक्रम रूप नित्य पदार्थ से क्रम वाले कार्यों की उत्पत्ति नहीं हो सकती है तो हमारा कहना है कि एक निरंश क्षणिक रूप कारण से युगपत् अनेक कारण साध्य अनेक कार्यों के होने का विरोध है, अतः अक्रम से भी क्षणिक पदार्थ के कार्यकारीपना नहीं बनता है ।

दूसरी बात यह है कि आपके क्षणिक पक्ष में सत् के कार्य कारित्व है या असत् के । सत् के कार्यकारीपना मानने पर काल की सब कलाओं में व्याप्त अनेक क्षण रूप कार्यों के एकक्षणवर्तीपने का प्रसंग आएगा । दूसरा पक्ष मानने पर खरविषाणादि के भी कार्यकारित्व हो जायगा; क्योंकि असत् की अपेक्षा दोनों समान हैं । सत्त्व का जो अर्थक्रियाकारित्व लक्षण है, वह असत्व में भी सम्भव होने से सत्वलक्षण व्यभिचरित होता है; क्योंकि असत्त्व में भी अर्थक्रिया घटित हो रही है । अतः अनित्य, निरंश, परस्पर असम्बद्ध परमाणुओं के कार्यकारित्व का अभाव होने से विशेषैकान्त पक्ष श्रेयस्कर नहीं है ।

नापि सामान्यविशेषौ परस्परानपेक्षाविति यौगमतमपि युक्तियुक्तमवभाति, तयोरन्योन्यभेदेद्वयोरन्यतरस्यापि व्यवस्थापयितुमशक्तेः। तथाहि—विशेषास्तावद् द्रव्यगुणकर्मात्मानः, सामान्यं तु परापरभेदाद् द्विविधम्। तत्र परसामान्यात्सत्तालक्षणाविशेषाणां भेदेऽसत्त्वापत्तिरिति। तथा च प्रयोगः—द्रव्यगुणकर्माण्यसद्रूपाणि, सत्त्वादत्यन्तं भिन्नत्वात् प्रागभावादिवदिति। न सामान्यविशेषसमवायैर्व्यभिचारः तत्र स्वरूपसत्त्वस्याभिन्नस्य परैरभ्युपगमात्।

सामान्य और विशेष परस्पर निरपेक्ष हैं. यह यौगमत भी युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता है। निरपेक्ष सामान्य और विशेष में परस्पर अभेद मानने पर दोनों में किसी एक की भी व्यवस्था करना सम्भव नहीं है। इसी बात को स्पष्ट करते हैं—विशेष तो द्रव्य, गुण और कर्मस्वरूप हैं और सामान्य पर और अपर दो प्रकार का होता है। (सामान्य की आधार भूत व्यक्तियाँ यहाँ पर विशेष शब्द से ग्रहण की जाती हैं, नित्य द्रव्य में रहने वाले अन्त्य विशेष यहाँ विशेष शब्द से ग्रहण नहीं किए जाते हैं।) उनमें से सत्ता लक्षण वाले पर सामान्य से विशेषों के सर्वथा भेद मानने पर उनके असत्त्व की आपत्ति आती है। इसका अनुमान प्रयोग इस प्रकार है—द्रव्य, गुण और कर्म ये तीनों पदार्थ असद् रूप हैं; क्योंकि सत्त्व से अत्यन्त भिन्न है, जैसे कि प्रागभाव आदि सत्त्व से अत्यन्त भिन्न हैं। 'सत्त्व से अत्यन्त भिन्न हैं', इस हेतु में सामान्य, विशेष और समवाय से व्यभिचार नहीं आता है; क्योंकि उनमें अभिन्न स्वरूप सत्त्व को यौगों ने माना है।

विशेष—सामान्य दो प्रकार का कहा गया है—(१) पर (२) अपर। द्रव्यादि तीन में रहने वाली सत्ता पर रूप से कही जाती है। पर से भिन्न जो जाति है, वही अपर रूप से कही जाती है। द्रव्यत्वादिक जाति परापर कही जाती है। व्यापक होने से वह पर होती है और व्याप्य होने से अपर भी होती है। बहुत बड़े देश में व्यापित्व परत्व है, अल्पदेश व्यापित्व अपर है।

अभाव चार प्रकार का होता है—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, इतरेतराभाव और अत्यन्ताभाव। दूध में दही आदिक नहीं है, यह प्रागभाव है। दही में दूध नहीं है, यह प्रध्वंसाभाव का उदाहरण है। तादात्म्य सम्बन्ध से अवच्छिन्न प्रतियोगिताक अन्योन्याभाव है। जैसे घड़ा वस्त्र नहीं है। त्रैकालिक संसर्गावच्छिन्न प्रतियोगिताक अत्यन्ताभाव है। जैसे इस भूतल पर घड़ा नहीं है।

ननु द्रव्यादीनां प्रमाणोपपन्नत्वे धर्मिग्राहकप्रमाणबाधितो हेतुर्येन हि प्रमाणेन द्रव्यादयो निश्चीयन्ते तेन तत्सत्त्वमपीति। अथ न प्रमाणप्रतिपन्ना द्रव्यादयस्तर्हि हेतोराश्रयासिद्धिरिति तदयुक्तम्; प्रसङ्गसाधनात्। प्रागभावादौ हि सत्त्वाद् भेदोऽसत्त्वेन व्याप्त उपलभ्यते, ततश्च व्याप्यस्य द्रव्यादावभ्युपगमो व्यापकाभ्युपगमनान्तरीयक इति प्रसङ्गसाधनेऽस्य दोषस्याभावात्।

एतेन द्रव्यादीनामप्यद्रव्यादित्वं द्रव्यत्वादेर्भेदे चिन्तितं बोद्धव्यम्। कथं वा षण्णां पदार्थानां परस्परं भेदे प्रतिनियतस्वरूपव्यवस्था? द्रव्यस्य हि द्रव्यमिति व्यपदेशस्य द्रव्यत्वाभिसम्बन्धाद्विधाने ततः पूर्वं द्रव्यस्वरूपं किञ्चिद्वाच्यम्; येन सह द्रव्यत्वाभिसम्बन्धः स्यात्? द्रव्यमेव स्वरूपमिति चेन्न; तद्व्यपदेशस्य द्रव्यत्वाभिसम्बन्धनिबन्धनतया स्वरूपत्वायोगात्। सत्त्वं निजरूपमिति चेन्न; तस्यापि सत्तासम्बन्धनादेव तद्व्यपदेशकरणात्। एवं गुणादिष्वपि वाच्यम्।

यौग—(द्रव्यादि प्रमाण प्राप्त हैं या प्रमाण प्राप्त नहीं है, इस प्रकार दो विकल्पों का आश्रय लेकर दोष उपस्थित करते हैं)। द्रव्यादि यदि प्रमाण से परिगृहीत हैं तो सत्त्व से अत्यन्त भिन्न होने के कारण यह हेतु प्रमाण बाधित है। जिस प्रमाण से द्रव्यादिक निश्चय किये जाते हैं, उसी प्रमाण से उन द्रव्यादिकों का सत्त्व भी निश्चय करना चाहिए। यदि द्रव्यादिक प्रमाण से परिगृहीत नहीं है तो हेतु आश्रयासिद्ध हो जाता है।

जैन—यह कहना अयुक्त है; क्योंकि यहाँ पर हमने प्रसंग साधन किया है। प्रागभाव आदि में सत्त्व से जो भेद है, वह असत्व से व्याप्त पाया जाता है इसलिए सत्व से भेद रूप व्याप्य का द्रव्यादिक में जो अङ्गीकार है, वह व्यापक जो असत्व उसमें अंगीकार के साथ अविनाभावी है, इस प्रकार प्रसंग साधन करने पर प्रमाणबाधित आदि दोषों का अभाव है।

इसी कथन से (पर सामान्य से विशेषों के भिन्न मानने पर उनके असत्व समर्थन से) द्रव्यादिक के भी अद्रव्यत्व आदिपना द्रव्यत्व आदि से भेद मानने पर विचार कर लिये गए जानना चाहिए। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय इन छह पदार्थों का परस्पर भेद मान लेने पर प्रतिनियत स्वरूप वाली व्यवस्था कैसे होगी? द्रव्य के द्रव्य ऐसा निर्देश द्रव्यत्व के सम्बन्ध से करने पर द्रव्यत्व के सम्बन्ध से पूर्व द्रव्य का क्या स्वरूप था, उसके विषय में कुछ कहना चाहिए, जिसके साथ द्रव्यत्व का सम्बन्ध हो सके। यदि आप कहें कि द्रव्य का द्रव्य ही स्वरूप है तो यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि उसका द्रव्य यह नाम तो सत्ता के सम्बन्ध से

केवलं सामान्यविशेषसमवायानामेव स्वरूपसत्त्वेन तथाव्यपदेशोपपत्तेस्तत्त्रयव्यवस्थैव स्यात् ।

ननु जीवादिपदार्थानां सामान्यविशेषात्मकत्वं स्याद्वादिभिरभिधीयते, तयोश्च वस्तुनोर्भेदाभेदाविति तौ च विरोधादिदोषोपनिपातान्नैकत्र सम्भविनाविति । तथाहि—भेदाभेदयोर्विधिनिषेधयोरेकत्राभिन्ने वस्तुन्यसम्भवः शीतोष्णस्पर्शयोरिति १ । भेदस्यान्यदधिकरणमभेदस्य चान्यदिति वैयधिकरण्यम् २ । यमात्मानं पुरोधाय भेदो यं च समाश्रित्याभेदः, तावात्मानौ भिन्नौ चाभिन्नौ च । तत्रापि तथापरिकल्पनादनवस्था ३ । येन रूपेण भेदस्तेन भेदश्चाभेदश्चेति सङ्करः ४ । येन भेदस्तेनाभेदो येनाभेदस्तेन भेद इति व्यतिकरः ५ । भेदाभेदात्मकत्वे च वस्तुनोऽसाधारणाकारेण निश्चेतुमशक्तेः संशयः ६ । ततश्चाप्रतिपत्तिः ७ । ततोऽभावः ८ । इत्यनेकान्तात्मकमपि न सौस्थ्यमाभजतीति केचित् ।

होता है । द्रव्य के समान गुणादिक में भी कथन करना चाहिए । केवल सामान्य, विशेष और समवाय इन तीन पदार्थों के स्वरूप सत्त्व से 'सत्' व्यवहार बन जाता है, अतः सामान्य, विशेष और समवाय इन तीन पदार्थों की ही व्यवस्था सिद्ध होती है ।

यौग—स्याद्वादी लोग जीवादि पदार्थों को सामान्य-विशेषात्मक कहते हैं । उस सामान्य और विशेष का वस्तु से भेद भी कहते हैं और अभेद भी कहते हैं । वे दोनों विरोध आदि दोषों के आने से एक वस्तु में सम्भव नहीं हैं । भेद और अभेद ये दोनों विधि और निषेध स्वरूप हैं, इसलिए उनका एक अभिन्न वस्तु में रहना असम्भव है, जैसे कि शीत और उष्ण स्पर्श का एक साथ वस्तु में रहना असम्भव है । (अतः भिन्न और अभिन्न के एक वस्तु में रहने में विरोध है) ॥१॥ भेद का अधिकरण अन्य है और अभेद का अधिकरण अन्य है, अतः वैयधिकरण्य दोष है ॥२॥ जिस स्वरूप को मुख्य कर भेद है और जिसका आश्रय लेकर अभेद है, वे दोनों स्वरूप भिन्न भी हैं और अभिन्न भी हैं । उनमें भी भेद और अभेद की कल्पना करने से अनवस्था दोष है ॥३॥ जिस रूप से भेद है, उस रूप से भेद और अभेद दोनों होने से सङ्कर दोष है ॥४॥ जिस रूप से भेद है, उससे अभेद है और जिससे अभेद है, उससे भेद है, इस प्रकार व्यतिकर दोष आता है ॥५॥ वस्तु के भेदाभेदात्मक होने पर असाधारण आकार से निश्चय करना संभव न होने से संशय दोष है ॥६॥ संशय होने के कारण वस्तु का ज्ञान नहीं होने से अप्रतिपत्ति दोष है ॥७॥ अप्रतिपत्ति न होने से अभाव नाम का दोष भी आता है ॥८॥ इस प्रकार वस्तु को अनेकान्तात्मक

तेऽपि न प्रातीतिकवादिनः; विरोधस्य प्रतीयमानयोरसम्भवात् । अनुपलम्भसाध्यो हि विरोधः, तत्रोपलभ्यमानयोः को विरोधः । यच्च शीतोष्णस्पर्शयोर्वेति दृष्टान्ततयोक्तम्, तच्च धूपदहनाद्येकन्वयिनः शीतोष्णस्पर्शस्वभावस्योपलब्धेरयुक्तमेव; एकस्य चलाचलरक्तारक्तावृतानावृताद्विरुद्धधर्माणां युगपदुपलब्धेश्च प्रकृतयोरपि न विरोध इति । एतेन वैयधिकरण्यमप्यपास्तम्; तयोरेकाधिकरणत्वेन प्रतीतेः । अत्रापि प्रागुक्तनिदर्शनान्येव बोद्धव्यानि । यच्चानवस्थानं दूषणं तदपि स्याद्वादिमतानभिज्ञैरेवापादितम् । तत्मतं हि सामान्यविशेषात्मके वस्तुनि सामान्यविशेषावेव भेदः; भेदध्वनिना तयोरेवाभिधानात् द्रव्यरूपेणाभेद इति द्रव्यमेवाभेदः; एकानेकात्मकत्वाद्वस्तुनः । यदि वा भेदनयप्राधान्येन वस्तु-

---

मानना भी स्वस्थता को प्राप्त नहीं होता है, ऐसा कुछ (यौगादि) लोगों ने कहा है ।

जैन—उपर्युक्त कथन करने वाले भी यथार्थवादी नहीं हैं; क्योंकि यथार्थ रूप से प्रतीत होने वाले सामान्य-विशेष या भेद-अभेद में विरोध का होना असम्भव है । विरोध तो अनुपलम्भसाध्य होता है, उपलम्भमान भेद और अभेद में क्या विरोध है ? जो आपने शीत और उष्ण स्पर्श को दृष्टान्त रूप में कहा है, वह कथन धूप दहन वाले घट आदि एक अवयवी के शीत और उष्ण स्वभाव की उपलब्धि होने के कारण अयुक्त ही है। एक ही वस्तु के चल-अचल, रक्त-अरक्त, आवृत-अनावृत आदि विरोधी धर्मों की एक साथ उपलब्धि होने से अतः प्रकृत सामान्य-विशेष और भेदाभेद में विरोध नहीं है । एक ही वस्तु में भेद और अभेद के विरोध का परिहार करने से वैयधिकरण्य का भी निराकरण कर दिया; क्योंकि उन भेद और अभेद एकाधिकरण के रूप में प्रतीति होती है । वैयधिकरण्य के निराकरण के प्रकरण में भी पहले कहे गए आदि दृष्टान्त समझना चाहिए। और जो अनवस्था नामक दोष दिया गया है, वह भी उन लोगों द्वारा दिया गया है जो स्याद्वाद मत से अनभिज्ञ हैं । स्याद्वादियों का मत है कि सामान्य विशेषात्मक वस्तु में सामान्य और विशेष ही भेद है; क्योंकि भेद रूप ध्वनि के द्वारा उन दोनों सामान्य-विशेषों का कथन किया जाता है । द्रव्यार्थिक नय की प्रधानता से अभेद है, यथार्थ में द्रव्य ही अभेद है; क्योंकि एकानेकात्मक है—द्रव्यदृष्टि से वस्तु एक रूप है और पर्यायदृष्टि से वस्तु अनेक रूप है, यह भाव है । अथवा भेदनय की प्रधानता से वस्तु के अनन्त धर्म होने से अनवस्था दोष नहीं आता है । इसी को स्पष्ट करते हैं—जो सामान्य है और जो विशेष है, उन दोनों से अनुवृत्त और व्यावृत्त

धर्माणामानन्त्यान्नानवस्था। तथा हि—यत्सामान्यं यश्च विशेषस्तयोरनुवृत्त-व्यावृत्ताकारेण भेदः; तयोश्चार्थक्रियाभेदात्, तद्भेदश्च शक्तिभेदात् सोऽपि सहकारिभेदादित्यनन्तधर्माणामङ्गीकरणात् कुतोऽनवस्था ? तथा चोक्तम्—

मूलक्षतिकरीमाहुरनवस्थां हि दूषणम्।
वस्त्वानन्त्येऽप्यशक्तौ च नानवस्था विचार्यते ॥ ३९ ॥ इति

यौ च सङ्कर-व्यतिकरौ तावपि मेचकज्ञाननिदर्शनेन सामान्यविशेषदृष्टान्तेन च परिहृतौ। अथ तत्र तथा प्रतिभासनं परस्यापि वस्तुनि तथैव प्रतिभासोऽस्तु;

आकार से भेद है और अनुवृत्त-व्यावृत्ताकार का भेद अर्थक्रिया के भेद से है—गो गो, इस प्रकार का उदाहरण अनुवृत्ताकार का है, श्याम शुक्ल नहीं होता है, यह उदाहरण व्यावृत्ताकार का है। अर्थक्रिया का भेद उन दोनों की शक्तियों के भेद से है, वह शक्तिभेद भी सहकारिभेद से है। इस प्रकार अनन्त धर्मों के अङ्गीकार करने से अनवस्था कहाँ से हो सकती है ? जैसा कि कहा गया है—

श्लोकार्थ—मूल का विनाश करने वाली अनवस्था को दूषण कहते हैं, किन्तु वस्तु के अनन्तपना होने पर अथवा विचार करने की असमर्थता होने पर (वस्तुविकल्प की परिसमाप्ति होने पर) अनवस्था दोष का विचार नहीं किया जाता है ॥ ३९ ॥

जो सङ्कर और व्यतिकर दोष कहे गए हैं, उनमें से सङ्कर मेचकज्ञान के उदाहरण से और व्यतिकर सामान्य-विशेष के दृष्टान्त से निराकृत कर दिए गए। (पाँच वर्ण का मेचक नामक रत्न होता है। जैसे मेचक में नीलादि अनेक प्रतिभास होने पर यह कहना सम्भव नहीं है कि जिस रूप से पीत प्रतिभास है, उस रूप से पीत प्रतिभास भी है और नील प्रतिभास भी है, किन्तु भिन्न आकार से प्रतिभास है। उसी प्रकार एक ही वस्तु में भेद और अभेद की व्यवस्था भलीभाँति घटित होती है। ऐसा नहीं है कि जिस रूप से विशेष हो, उस रूप से सामान्य हो अथवा जिस रूप से सामान्य है, उस रूप से विशेष हो। इस प्रकार व्यतिकर दोष को अवकाश नहीं है। सामान्य ही विशेष है। जैसे—गोत्व) खण्डी, मुण्डी आदि गायों की अपेक्षा सामान्य है और भैंसा आदि की अपेक्षा विशेष है। इस प्रकार व्यतिकर दोष का निराकरण कर दिया गया।)

यौग—मेचक वर्ण में उस प्रकार का (चित्राकार और सामान्य-विशेष रूप) प्रतिभास होता है।

जैन—स्याद्वादियों के भी अनेकान्तात्मक वस्तु में उसी प्रकार भेदाभेद

तस्य पक्षपाताभावात् । निर्णीते संशयोऽपि न युक्तः, तस्य चलितप्रतिपत्तिरूपत्वाद-चलितप्रतिभासे दुर्घटत्वात् । प्रतिपन्ने वस्तुन्यप्रतिपत्तिरित्यतिसाहसम् । उपलब्ध्य-भिधानादनुपलम्भोऽपि न सिद्धस्ततो नाभाव इति दृष्टेष्टाविरुद्धमनेकान्तशासनं सिद्धम् । एतेनावयवावयविनोर्गुणगुणिनोः कर्मतद्वतोश्च कथञ्चिद् भेदाभेदौ प्रतिपादितौ बोद्धव्यौ ।

अथ समवायवशादभिन्नेष्वप्यभेदप्रतीतिरनुपपन्नब्रह्मतुल्याल्पज्ञानस्येति चेन्न; तस्यापि ततो भिन्नस्य व्यवस्थापयितुमशक्तेः । तथाहि—समवायवृत्तिः स्वसम-वायिषु वृत्तिमती स्यादवृत्तिमती वा ? वृत्तिमत्त्वे स्वेनैव वृत्त्यन्तरेण वा ? तावदाद्यः

रूप से ही प्रतिभास हो । प्रतिभास किसी के विषय में पक्षपात नहीं करता है । मेचक आदि में प्रतिभास के बल से निर्णय हो जाने पर संशय भी युक्त नहीं है । संशय तो स्थाणु है या पुरुष है, इस प्रकार चलित ज्ञान रूप होता है, किन्तु स्थिर प्रतिभास रूप वस्तु में संशय दुर्घट है । प्रमाण से जानी हुई वस्तु में अप्रतिपत्ति नामक दोष कहना अति साहस है । अनेकान्तात्मक वस्तु की उपलब्धि के कथन से अनुपलम्भ भी सिद्ध नहीं होता है । अनुपलम्भ के अभाव के कारण अभाव नामक दोष भी प्राप्त नहीं होता है । इस प्रकार प्रत्यक्ष और अनुमान से अविरुद्ध अनेकान्त शासन सिद्ध है । विरोधादि दोष के परिहार से—सामान्य और विशेष में कथञ्चित् भेद और अभेद सिद्ध करने से अवयव और अवयवी । जैसे कपाल और घट), गुण और गुणी (जैसे ज्ञान और आत्मा) तथा क्रिया और क्रिया-वान् में कथञ्चित् भेद और कथञ्चित् अभेद प्रतिपादित किए गए समझना चाहिए ।

यौग—जिसे ब्रह्म तुल्य ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है, ऐसे अल्पज्ञ पुरुष के समवाय सम्बन्ध के वश से भिन्न पदार्थों में भी अभेद की प्रतीति होती है । (अवयव-अवयवी, जाति-व्यक्ति, गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान्, नित्य-द्रव्य और विशेष, इनमें जो सम्बन्ध होता है, वह समवाय है ।)

जैन—यह बात ठीक नहीं है; क्योंकि समवाय सम्बन्ध की भी पदार्थों से भिन्न व्यवस्था करना सम्भव नहीं है । इसी बात को स्पष्ट करते हैं—समवाय सम्बन्ध अपने समवायी पदार्थों में (द्रव्यादि पाँच में तथा गुण गुणी आदि में) सम्बन्ध वाला है अथवा असम्बन्ध वाला है ? यदि सम्बन्ध वाला है तो समवाय से ही अपने समवायियों में सम्बन्ध वाला है या अन्य सम्बन्ध से ? समवाय सम्बन्ध से अपने समवायियों में समवाय

पक्षः, समवाये समवायानभ्युपगमात्; पञ्चानां समवायित्वमिति वचनात्। वृत्त्यन्तरकल्पनायां तदपि स्वसम्बन्धिषु वर्तते न वेति कल्पनायां वृत्त्यन्तरपरम्पराप्राप्तेरनवस्था। वृत्त्यन्तरस्य स्वसम्बन्धिषु वृत्त्यन्तरानभ्युपगमान्नानवस्थेति चेत्तर्हि समवायेऽपि वृत्त्यन्तरं माभूत्। अथ समवायो न स्वाश्रयवृत्तिरङ्गीक्रियते तर्हि षण्णामाश्रितत्वमिति ग्रन्थो विरुध्यते। अथ समवायिषु सत्स्वेव समवायप्रतीतेस्तस्याश्रितत्वमुपलभ्यते, तर्हि मूर्त्तद्रव्येषु सत्स्वेव दिग्लिङ्गस्येदमतः पूर्वेण इत्यादिज्ञानस्य, काललिङ्गस्य च परापरादिप्रत्ययस्य सद्भावात्तयोरपि तदाश्रितत्वं स्यात्। तथा चायुक्तमेतदन्यत्र नित्यद्रव्येभ्य इति। किञ्च समवायस्यानाश्रितत्वे सम्बन्धरूपतैव न घटते। तथा च प्रयोगः—समवायो न सम्बन्धः; अनाश्रितत्वादिगादिवदिति। अत्र समवायस्य धर्मिणः कथञ्चित्तादात्म्यरूपस्यानेकस्य च परैः

वाला है यदि यह मानों तो आप लोगों में समवाय में समवायों को नहीं माना है। आपके यहाँ कहा गया है कि द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और विशेष इन पाँच पदार्थों में ही समवाय सम्बन्ध होता है। अन्य सम्बन्ध से सम्बन्ध वाला है, ऐसी कल्पना करने पर वह सम्बन्ध भी अपने सम्बन्धियों में है अथवा नहीं है, इस प्रकार की कल्पना होने पर अन्य सम्बन्ध की परम्परा प्राप्त होने से अनवस्था दोष आता है। अन्य सम्बन्ध का (विशेषण विशेष्य भाव का) अपने सम्बन्धियों में (दण्ड-दण्डि में) सम्बन्धान्तर स्वीकार न करने से अनवस्था नहीं आती है, यदि आप ऐसा कहते हैं तो हमारा कहना है कि समवाय में सम्बन्धान्तर न हो। यदि आप लोग (नैयायिक) कहें कि समवाय को स्वाश्रय (तन्तु पराश्रय) वृत्ति अंगीकार नहीं करते हैं तो छह पदार्थों के आश्रितपना है, यह आपका ग्रन्थ विरोध को प्राप्त होता है।

यौग—समवायियों के होने पर समवाय की प्रतीति होती है अतः समवाय के आश्रितपने की प्राप्ति होती है।

जैन—तो मूर्त द्रव्यों के होने पर ही दिशा रूप द्रव्य का लिंग जो यह इससे पूर्व में है इत्यादि ज्ञान के और काल द्रव्य का लिंग जो पर-अपरादि प्रत्यय का सद्भाव है उसके पाए जाने से दिशा और काल को भी मूर्त द्रव्यों के आश्रित मानना पड़ेगा। ऐसा होने पर 'नित्य द्रव्यों को छोड़कर', ऐसा सूत्र कहना अयुक्त ही है। दूसरी बात यह है कि समवाय के अनाश्रितपना मानने पर सम्बन्धरूपता ही घटित नहीं होती है। वचनात्मक अनुमान प्रयोग इस प्रकार है—

समवाय सम्बन्ध नहीं है; क्योंकि वह दिशा आदि के समान अनाश्रित है। यहाँ पर समवाय रूप धर्मी के कथञ्चित् तादात्म्य और अनेक होने

प्रतिपन्नत्वाद्धर्मिग्राहकप्रमाणबाधा आश्रयासिद्धिश्च न वाच्येति । तस्याऽऽश्रितत्वेऽप्येतदभिधीयते न समवाय एकः सम्बन्धात्मकत्वे सत्याश्रितत्वात् संयोगवत् सत्तयाऽनेकान्त इति सम्बन्धविशेषणम् ।

अथ संयोगे निबिड-शिथिलादिप्रत्ययनानात्वाज्ञानात्वं नान्यत्र विपर्ययादिति चेन्न, समवायेऽप्युत्पत्तिमत्त्वनश्वरत्वप्रत्ययनानात्वस्य सुलभत्वात् । सम्बन्धिभेदाद्भेदोऽन्यत्रापि समान इति नैकत्रैव पर्यनुयोगो युक्तः । तस्मात्समवायस्य परपरिकल्पितस्य विचारासहत्वान्न तद्वशाद् गुणगुण्यादिष्वभेदप्रतीतिः । अथ भिन्नप्रतिभासादवयवावयव्यादीनां भेद एवेति चेन्न; भेदप्रतिभासस्या भेदाविरोधात् । घट-

---

की जैनों की स्वीकृति होने पर धर्मी को ग्रहण करने प्रमाण से बाधा और आश्रयासिद्ध नहीं कहना चाहिए । (समवाय है; क्योंकि समवायियों में होने पर ही समवाय की प्रतीति होती है, इस प्रमाण से जो बाधा होती है । उससे, जैनमत में समवाय रूप धर्मी के अंगीकार न किए जाने से आश्रयासिद्धि है, ऐसा नहीं कहना चाहिए । यद्यपि हम आपके द्वारा कहे हुए लक्षण वाले समवाय को स्वीकार नहीं करते, किन्तु कथञ्चित् तादात्म्य रूप को स्वीकार करते हैं, अतः आश्रयासिद्धि नहीं है) । समवाय के आश्रितपना स्वीकार करने पर भी यह दोष कहा जा सकता है कि समवाय एक नहीं है; क्योंकि सम्बन्धात्मकता होने पर भी आश्रितपना पाया जाता है । सत्ता के द्वारा व्यभिचार दोष आता है, अतः उसके निवारण के लिए सम्बन्धात्मकपना होने पर, यह विशेषण दिया है ।

यौग—संयोग में, यह सघन संयोग है, यह शिथिल संयोग है, इत्यादि नाना प्रकार की प्रतीति होने से नानापना पाया जाता है, किन्तु समवाय में यह नानापन नहीं पाया जाता है; क्योंकि वह संयोग से विपरीत है (क्योंकि समवाय में निविड, शिथिल आदि नाना प्रकार की प्रतीतियों का अभाव है) ।

जैन—ऐसा कहना ठीक नहीं है । समवाय में भी उत्पत्तिमत्व, विनश्वरत्व आदि नाना प्रकार के धर्मों की प्रतीति सुलभ है । यदि कहा जाय कि सम्बन्धी के भेद से समवाय में नानापन का भेद प्रतीत होता है तो जो समवाय नहीं है, उसमें भी यह नानापन समान है, अतः एक जगह (संयोग के विषय में) प्रश्न करना युक्त नहीं है । अतः यौगों के द्वारा कल्पित समवाय विचार को सहन नहीं कर पाता है । अतएव उस समवाय के वश से गुण-गुणी आदि में अभेद की प्रतीति नहीं हो सकती है ।

भिन्न प्रतिभास होने से अवयव-अवयवी आदि में भेद ही है, तो ऐसा

पटादीनामपि कथञ्चिद्भेदोपपत्तेः, सर्वथा प्रतिभासभेदस्यासिद्धेश्च; इदमित्याद्यभेदप्रतिभासस्यापि भावात्। ततः कथञ्चिद् भेदाभेदात्मकं द्रव्यपर्यायात्मकं सामान्यविशेषात्मकं च तत्त्वं तीरादर्शिशकुनिन्यायेनाऽऽयातमित्यलमतिप्रसङ्गेन।

इदानीमनेकान्तात्मकवस्तुसमर्थनार्थमेव हेतुद्वयमाह—

अनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययगोचरत्वात्पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिस्थितिलक्षणपरिणामेनार्थक्रियोपपत्तेश्च ॥ २ ॥

अनुवृत्ताकारो हि गौर्गौरित्यादिप्रत्ययः। व्यावृत्ताकारः श्यामः शबल इत्यादिप्रत्ययः। तयोर्गोचरस्तस्य भावस्तत्त्वम्, तस्मात्। एतेन तिर्यक्सामान्यव्यतिरेकलक्षणविशेषद्वयात्मकं वस्तु साधितम्। पूर्वोत्तराकारयोर्यथासङ्ख्येन परिहारावाप्ती, ताभ्यां स्थितिः सैव लक्षणं यस्य, स चासौ परिणामश्च, तेनार्थक्रियोपपत्तेश्चेत्यनेन

कहना ठीक नहीं है; क्योंकि भेद रूप प्रतिभास का अभेद रूप प्रतिभास के साथ कोई विरोध नहीं है। घट पटादि में भी कथञ्चित् भेद ठीक है सर्वथा प्रतिभास भेद की असिद्धि है। 'यह सत् है', इत्यादि अभेद प्रतिभास भी पाया जाता है। अतः कथञ्चित् भेदाभेदात्मक, द्रव्यपर्यायात्मक, और सामान्य-विशेषात्मक ही तत्त्व है। जैसे जिसे तीर दिखाई नहीं दे रहा है ऐसे पुरुष को पक्षी दृष्टिगोचर हुआ। उस पक्षी का तीर ही आश्रय है, ऐसा बोध उस पुरुष को अपने आप हो जाता है, इसी न्याय से वस्तु अनेकान्तात्मक सिद्ध हो जाती है। इस प्रसंग में अधिक कहने से बस।

अब अनेकान्तात्मक वस्तु के समर्थन के लिए ही दो हेतु कहते हैं—

सूत्रार्थ—वस्तु अनेकान्तात्मक है; क्योंकि वह अनुवृत्त और व्यावृत्त प्रत्यय की विषय है। तथा पूर्व आकार का परिहार और उत्तर आकार की प्राप्ति तथा स्थितिलक्षण परिणाम के साथ उसमें अर्थक्रिया पायी जाती है ॥ २ ॥

यह गौ है, यह भी गौ है, यह भी गौ है, इत्यादि प्रतीति को अनुवृत्त प्रत्यय कहते हैं। यह श्याम वर्ण की है, यह शबल है इत्यादि व्यावृत्त प्रत्यय है। इन दो प्रकार के प्रत्ययों का विषय होना, उसके भाव को तत्त्व कहते हैं। उससे तत्त्व अनेकान्तात्मक सिद्ध होता है। इस कथन से तिर्यक् सामान्य और व्यतिरेक लक्षण विशेष, इस प्रकार द्वयात्मक वस्तु सिद्ध होती है। पूर्वाकार और उत्तराकार इन दोनों पदों का यथाक्रम से परिहार और अवाप्ति इन दोनों पदों के साथ सम्बन्ध करना चाहिए।

तूर्ध्वतासामान्यपर्यायाख्यं विशेषद्वयरूपं वस्तु समर्थितं भवति ।

अथ प्रथमोद्दिष्टसामान्यभेदं दर्शयन्नाह—

सामान्यं द्वेधा तिर्यगूर्ध्वताभेदात् ॥ ३ ॥

प्रथमभेदं सोदाहरणमाह—

सदृशपरिणामस्तिर्यक्, खण्डमुण्डादिषु गोत्ववत् ॥ ४ ॥

नित्यैकरूपस्य गोत्वादेः क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात्—प्रत्येकं परिसमाप्त्या व्यक्तिषु वृत्त्ययोगाच्चानेकं सदृशपरिणामात्मकमेवेति तिर्यक्सामान्यमुक्तम् ।

द्वितीयभेदमपि सदृष्टान्तमुपदर्शयति—

परापरविवर्तव्यापि द्रव्यमूर्ध्वता मृदिव स्थासादिषु ॥ ५ ॥

सामान्यमिति वर्तते । तेनायमर्थः—ऊर्ध्वतासामान्यं भवति । किं तत् ?

इन दोनों के साथ जो स्थिति है, वही लक्षण जिस परिणाम का है, उस परिणाम से अर्थक्रिया बन जाती है । इस हेतु से ऊर्ध्वता सामान्य और विशेष रूप वस्तु का समर्थन होता है ।

अब पहले जिसका कथन किया है, ऐसे सामान्य के भेद को दिखलाते हुए कहते हैं—

सूत्रार्थ—सामान्य दो प्रकार का है—१. तिर्यक् सामान्य और २. ऊर्ध्वता सामान्य ॥ ३ ॥

पहले भेद के विषय में उदाहरणपूर्वक कहते हैं—

सूत्रार्थ—सदृश परिणाम को तिर्यक् सामान्य कहते हैं । जैसे खण्डी, मुण्डी आदि में गोपना ॥ ४ ॥

नित्य और एक रूप गोत्व आदि के क्रम और यौगपद्य से अर्थक्रिया का विरोध है । तथा एक सामान्य के एक व्यक्ति में साकल्य रूप से रहने पर अन्य व्यक्तियों में रहना सम्भव नहीं है । अतः अनेक और सदृश परिणाम ही सामान्य है । इस प्रकार तिर्यक् सामान्य का स्वरूप कहा ।

सामान्य के दूसरे भेद को भी दृष्टान्त के साथ दिखलाते हैं—

सूत्रार्थ—पूर्व और उत्तर पर्यायों में रहने वाले द्रव्य को ऊर्ध्वता सामान्य कहते हैं, जैसे स्थासादि में मिट्टी रहती है ॥५॥

यहाँ पर सामान्य पद की अनुवृत्ति होती है । उससे यह अर्थ होता है कि यह ऊर्ध्वता सामान्य है । वह क्या वस्तु है ? द्रव्य है । वह द्रव्य

द्रव्यम्। तदेव विशिष्यते परापरविवर्तव्यापीति पूर्वापरकालवर्ति त्रिकालानुयायीत्यर्थः। चित्रज्ञानस्यैकस्य युगपद्भाव्यनेकस्वगतनीलाद्याकारव्याप्तिवदेकस्य क्रमभाविपरिणाम व्यापित्वमित्यर्थः।

विशेषस्यापि द्वैविध्यमुपदर्शयति—

विशेषश्च ॥ ६ ॥

द्वेधेत्यधिक्रियमाणेनाभिसम्बन्धः।

पर्यायव्यतिरेकभेदात् ॥ ७ ॥

तदेव प्रतिपादयति—

प्रथमविशेषभेदमाह—

एकस्मिन् द्रव्ये क्रमभाविनः परिणामाः पर्याया आत्मनि हर्षविषादादिवत् ॥ ८ ॥

अत्रात्मद्रव्यं स्वदेहप्रमितिमात्रमेव, न व्यापकम्, नापि वटकणिकामात्रम्। न च कायाकारपरिणतभूतकदम्बकमिति।

परापरविवर्तव्यपि' इस विशेषण से विशिष्ट है। परापरविवर्त्तव्यापि इस पद का अर्थ है—पूर्वापरकालवर्ति या त्रिकाल अनुयायी। जैसे एक चित्र ज्ञान एक साथ होने वाले अपने अन्तर्गत अनेक नील-पीतादि आकारों में व्याप्त रहता है, उसी प्रकार ऊर्ध्वतासामान्य रूप द्रव्य काल क्रम से होने वाली पर्यायों में व्याप्त होकर रहता है। विशेष भी दो प्रकार का है, यह दिखलाते हैं—

सूत्रार्थ—विशेष भी दो प्रकार का है ॥६॥

द्वेधा, इस पद का अधिकार से सम्बन्ध किया गया है।

सूत्रार्थ—पर्याय और व्यतिरेक के भेद से विशेष दो प्रकार का है ॥७॥

विशेष के प्रथम भेद को कहते हैं—

सूत्रार्थ—एक द्रव्य में क्रम से होने वाले परिणामों को पर्याय कहते हैं। जैसे—आत्मा में हर्ष विषादादिक ॥८॥

यहाँ पर आत्म द्रव्य अपने शरीर के प्रमाण मात्र ही है, न व्यापक है और न वटकणिका मात्र है और न शरीराकार से परिणत भूतों के समुदाय रूप है।

विशेष—ज्ञान, सुख, वीर्य, दर्शन आदि चूँकि आत्मा के सहभावी हैं,

तत्र व्यापकत्वे परेषामनुमानम्—आत्मा व्यापकः, द्रव्यत्वे सत्यमूर्त्तत्वादाकाशवदिति। तत्र यदि रूपादिलक्षणं मूर्त्तत्वं तत्प्रतिषेधोऽमूर्त्तत्वम्, तदा मनसाऽनैकान्तः। अथासर्वगतद्रव्यपरिमाणं मूर्त्तत्वम्, तन्निषेधस्तथा चेत्परम्प्रति साध्यसमो हेतुः। यच्चामरमनुमानम्—आत्मा व्यापकः, अणुपरिमाणानधिकरणत्वे सति नित्यद्रव्यत्वादाकाशवदिति।

तदपि न साधु साधनम्। अणुपरिमाणानधिकरणत्वमित्यत्र किमयं नञर्थः पर्युदासः प्रसज्यो वा भवेत्? तत्राद्यपक्षे अणुपरिमाणप्रतिषेधेन महापरिमाणमवान्तर परिमाणं परिमाणमात्रं वा। महापरिमाणं चेत्साध्यसमो हेतुः। अवान्तर-

---

अतः गुण हैं, क्रमभावि होने से वे पर्याय होते हैं; क्योंकि वस्तु अनेकधर्मात्मक है। मैं सुखी हूँ, मैं दुखी हूँ, मैं घट आदि को जानता हूँ, इस प्रकार मैं की प्रतीति से अपने देह में आत्मा सुखादि स्वभाव रूप से प्रतीत होती है, पर सम्बन्धी देहान्तर में या अन्तराल में नहीं प्रतीत होती है। व्यापकत्व की कल्पना करने पर आत्मा सब जगह दिखाई देना चाहिए और भोजनादि के व्यवहार का संकर भी हो जायगा; क्योंकि एक आत्मा का समस्त आत्माओं से सम्बन्ध हो जायगा। समस्त शरीर में सुखादि की प्रतीति से विरोध के कारण आत्मा वटकणिका मात्र भी नहीं है। चार्वाक लोग ऐसा मानते हैं कि पृथ्वी, जल, तेज, वायु रूप भूतों का समुदाय आत्मा है, किन्तु भूतों का समुदाय अचेतन है, अतः उससे चेतन की उत्पत्ति में विरोध आता है।

आत्मा के व्यापकपने के विषय में यौगों का अनुमान है—आत्मा व्यापक है; क्योंकि उसमें द्रव्यपना होने पर भी वह अमूर्त है, आकाश के समान। द्रव्यत्व होने पर अमूर्त होने के कारण, ऐसा साधन करने पर यदि रूपादिलक्षण मूर्त्तत्व है और रूपादिलक्षण का प्रतिषेध अमूर्त्तत्व है तो आपके हेतु में मन से व्यभिचार आता है। यदि कहें कि असर्वगत (अव्यापक) द्रव्यपरिमाण का नाम मूर्त्तत्व है और उसके निषेध को अमूर्त्तत्व कहते हैं तो आपका हेतु पर के प्रति (जैनों के प्रति) साध्यसम हो जाता है। और जो आपका दूसरा अनुमान है कि आत्मा व्यापक है; क्योंकि अणुपरिमाण अधिकरण वाला न होकर नित्य द्रव्य है; जैसे आकाश। यह हेतु भी ठीक नहीं है। आपने जो अणुपरिमाणानधिकरणत्व हेतु दिया है, जो यह नञर्थ है, वह पर्युदास रूप है या प्रसज्य रूप है? पर्युदास रूप प्रथम पक्ष है, उसमें अणुपरिमाण के प्रतिषेध से महापरिमाण अभीष्ट है अथवा अवान्तर परिमाण (मध्यपरिमाण) अभीष्ट है अथवा

परिमाणं चेद् विरुद्धो हेतुः, अवान्तरपरिमाणाधिकरणत्वं ह्यव्यापकत्वमेव साधयतीति। परिमाणमात्र चेत् तत्परिमाणसामान्यमङ्गीकर्तव्यम्। तथा चाणुपरिमाणप्रतिषेधेन परिमाणसामान्याधिकरणत्वमात्मन इत्युक्तम्। तच्चानुपपन्नम्, व्यधिकरणासिद्धिप्रसङ्गात्। न हि परिमाणसामान्यमात्मनि व्यवस्थितम्, किन्तु परिमाणव्यक्तिष्वेवेति। न चावान्तरमहापरिमाणद्वयाधारतयाऽऽत्मन्यप्रतिपन्ने परिमाणमात्राधिकरणता तत्र निश्चेतुं शक्या।

दृष्टान्तश्च साधनविकलः, आकाशस्य महापरिमाणाधिकरणस्य परिमाणमात्राधिकरणत्वायोगात्। नित्यद्रव्यत्वं च सर्वथाऽसिद्धम्, नित्यस्य क्रमाक्रमाभ्यामर्थक्रियाविरोधादिति। प्रसज्यपक्षेऽपि तुच्छाभावस्य ग्रहणोपायासम्भवात् न विशेषणत्वम्। न चागृहीतविशेषणं नाम; 'न चागृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिः'

परिमाणमात्र अभीष्ट है। यदि महापरिमाण मानें तो हेतु साध्य सम होता है। (महापरिमाण का अर्थ यदि व्यापकपना मानो तो अनुमान इस प्रकार होगा—आत्मा व्यापक है, व्यापकपने के कारण। जैसे शब्द अनित्य है, अनित्यत्वत्व होते हुए बाह्येन्द्रिय प्रत्यक्ष के कारण। यहाँ हेतु साध्यसम है। इसी प्रकार प्रकृत में भी जानना चाहिये)। यदि अवान्तरपरिमाण मानें तो हेतु विरुद्ध होगा। अवान्तरपरिमाणाधिकरणपना अव्यापकपने को ही सिद्ध करता है। यदि परिमाणमात्र रूप कहें तो परिमाण सामान्य ही अङ्गीकार करना चाहिये। इस प्रकार से अणुपरिमाण के प्रतिषेध द्वारा आत्मा के परिमाणसामान्य का अधिकरणपना है, ऐसा कहना सिद्ध होता है, किन्तु यह ठीक नहीं है। ऐसा मानने पर तो व्यधिकरण सिद्धि का प्रसंग आ जायेगा। परिमाणसामान्य आत्मा में व्यवस्थित नहीं है, किन्तु परिमाणविशेषों में ही व्यवस्थित है। और अवान्तरपरिमाण तथा महापरिमाण इन दोनों के आधार रूप से आत्मा के अनिश्चित रहने पर परिमाणमात्र की अधिकरणता भी आत्मा में निश्चित नहीं की जा सकती है।

आपका आकाश रूप दृष्टान्त साध्यविकल है; क्योंकि आकाश महापरिमाण का अधिकरण है, अतः वह परिमाणमात्र का अधिकरण नहीं हो सकता है। हेतु में नित्यद्रव्यत्व रूप जो विशेष्य पद दिया है, वह नित्यद्रव्यत्व सर्वथा असिद्ध है; क्योंकि नित्य पदार्थ के क्रम और अक्रम से अर्थक्रिया का विरोध है। प्रसज्य पक्ष को मानने पर भी तुच्छ अभाव के ग्रहण करने का उपाय सम्भव न होने से विशेषणपना नहीं बन सकता है।

इति वचनात् । न प्रत्यक्षं तद्-ग्रहणोपायः, सम्बन्धाभावात् । इन्द्रियार्थसन्निकर्षजं हि प्रत्यक्षं तन्मते प्रसिद्धम् । विशेषण-विशेष्यभावकल्पनायामभावस्य नागृहीतस्य विशेषणत्वमिति तदेव दूषणम् । तस्मान्न व्यापकमात्मद्रव्यम् ।

नापि वटकणिकामात्रम्, कमनीयकान्ताकुचजघनसंस्पर्शकाले प्रतिलोमकूपमाल्हादनाकारस्य सुखस्यानुभवात् । अन्यथा सर्वाङ्गीणरोमाञ्चादिकार्योदयायोगात् । आशुवृत्त्याऽऽलातचक्रवत्क्रमेणैव तत्सुखमित्यनुपपन्नम्, परापरान्तःकरणसम्बन्धस्य तत्कारणस्य परिकल्पनायां व्यवधानप्रसङ्गात् । अन्यथा सुखस्य मानसप्रत्यक्षत्वायोगादिति ।

नापि पृथिव्यादिचतुष्टयात्मकत्वमात्मनः सम्भाव्यते, अचेतनेभ्यश्चैतन्योत्पत्त्ययोगाद् [1]धारणेरण[2]द्रवो[3]ष्णता[4]लक्षणान्वयाभावाच्च । तदर्हजातबालकस्य स्तनादा-

---

जो अगृहीत है, वह विशेषण नहीं हो सकता है। विशेषण के नहीं ग्रहण करने पर विशेष्य में बुद्धि नहीं होती है, ऐसा न्याय का वचन है। प्रत्यक्ष से तुच्छ अभाव के ग्रहण करने का उपाय नहीं है; क्योंकि दोनों में सम्बन्ध का अभाव है। यौगों के मत में इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न प्रत्यक्ष प्रसिद्ध है। विशेषण विशेष्य भाव की कल्पना करने पर अभाव जब तक ग्रहण न कर लिया जाय, जब तक विशेषणपना नहीं बन सकता, इस प्रकार वही दोष यहाँ प्राप्त होता है। अतः आत्मद्रव्य व्यापक नहीं है।

आत्मा वटकणिकामात्र भी नहीं है, क्योंकि सुन्दर स्त्री के स्तन और जघन के स्पर्श के काल में प्रत्येक रोमकूप में आह्लाद उत्पन्न करने वाले सुख का अनुभव होता है। अन्यथा समस्त अंगों में रोमाञ्चादि नहीं होना चाहिये। शीघ्रता के कारण अलातचक्र के समान वह सुख क्रम से ही है, यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि सुख के कारण स्वरूप अन्तःकरण के नये-नये सम्बन्ध की कल्पना करने पर सुख के व्यवधान का प्रसंग आता है। अन्यथा सुख की मानसप्रत्यक्षता नहीं होगी।

आत्मा के पृथिव्यादिचतुष्टयरूप होने की भी सम्भावना नहीं है। अचेतनों से चैतन्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। धारण, ईरण, द्रव और उष्णता लक्षण स्वभाव वाले जो क्रमशः पृथिवी, वायु, जल, अग्नि हैं, उनका चैतन्य के साथ अन्वय नहीं है। तत्कालीन उत्पन्न हुए शिशु के

---

१. धारणलक्षणा पृथिवी।
२. ईरणलक्षणो वायुः।
३. द्रवलक्षणं जलम्।
४. उष्णतालक्षणोऽग्निः।

वभिलाषाभावप्रसङ्गाच्च । अभिलाषो हि प्रत्यभिज्ञाने भवति, तच्च स्मरणे, स्मरणं चानुभवे भवतीति पूर्वानुभवः सिद्धः । मध्यदशायां तथैव व्याप्तेः । मृतानां रक्षोयक्षादिकुलेषु स्वयमुत्पन्नत्वेन कथयतां दर्शनात्, केषाञ्चिद्, भवस्मृतेरुपलम्भाच्चानादिश्चेतनः सिद्ध एव । तथा चोक्तम्—

तदहर्जस्तनेहातो रक्षोदृष्टेर्भवस्मृतेः ।
भूतान्वयनात्सिद्धः प्रकृतिज्ञः सनातनः ॥ ४० ॥ इति

न च स्वदेहप्रमितिरात्मेत्यत्रापि प्रमाणाभावात् सर्वत्र संशय इति वक्तव्यम्; तत्रानुमानस्य सद्भावात् । तथाहि—देवदत्तात्मा तद्देह एव; तत्र सर्वत्रैव च विद्यते, तत्रैव तत्र सर्वत्रैव च स्वासाधारणगुणाधारतयोपलम्भात् । यो यत्रैव यत्र

स्तनपान की जो अभिलाषा होती है, उसके भी अभाव का प्रसंग आ जायगा । अभिलाषा प्रत्यभिज्ञान होने पर होती है, प्रत्यभिज्ञान स्मरण होने पर होता है, स्मरण अनुभव होने पर होता है, इस प्रकार पूर्वानुभव सिद्ध है । मध्यदशा में भी उसी प्रकार से अभिलाषा आदि की व्याप्ति सिद्ध ही है । (चैतन्य की अभिलाषा का कारण प्रत्यभिज्ञान है, वह स्मरणपूर्वक होता है, स्मरण पूर्वानुभव होने पर होता है, इस प्रकार की व्याप्ति सिद्ध है । मृत व्यक्ति, राक्षस, यक्ष आदि के कुलों में स्वयं उत्पन्न होने का कथन करते हुए देखे जाते हैं, पूर्वजन्म की स्मृति की प्राप्ति से भी चेतन सिद्ध ही है । जैसा कि कहा गया है—

श्लोकार्थ—तत्काल उत्पन्न बालक के स्तनपान की इच्छा से, राक्षसादि के देखने से, पूर्वजन्म की स्मृति से और पृथिवी आदिभूत चतुष्टय के अन्वय का अभाव पाया जाने से स्वभाव से ज्ञाता और द्रव्य रूप से नित्य आत्मा सिद्ध है ॥ ४० ॥

आत्मा स्वदेह परिमाण है, इस विषय में प्रमाण का अभाव होने से सब जगह संशय है । ऐसा नहीं कहना चाहिये; क्योंकि इस विषय में अनुमान का सद्भाव है । इसी बात को स्पष्ट करते हैं—देवदत्त का आत्मा उसके देह में ही है और उसके सब प्रदेशों में ही विद्यमान है; क्योंकि यह उसके शरीर में और सब प्रदेशों में ही अपने असाधारण गुणों के आधार रूप से उपलब्ध होता है । जो जहाँ पर और जहाँ सब जगह अपने असाधारण गुणों के आधार रूप से पाया जाता है, वह वहाँ पर और वहाँ के सब प्रदेशों में ही विद्यमान है । जैसे देवदत्त के घर में और उसके सर्वभाग में अपने असाधारण भासुरत्व आदि गुण वाला प्रदीप पाया

सर्वत्रैव च स्वासाधारणगुणाधारतयोपलभ्यते स तत्रैव तत्र सर्वत्रैव च विद्यते; यथा देवदत्तगृहे एव तत्र सर्वत्रैव चोपलभ्यमानः स्वासाधारणभासुरत्वादिगुणः प्रदीपः । तथा चायम् । तस्मात्तथेति । तदसाधारणगुणा ज्ञानदर्शनसुखवीर्यलक्षणास्ते च सर्वाङ्गीणास्तत्रैव चोपलभ्यन्ते ।

सुखमाल्हादनाकारं विज्ञानं मेयबोधनम् ।
शक्तिः क्रियानुमेया स्याद्युनः कान्तासमागमे ॥ ४१ ॥

इति वचनात् । तस्मादात्मा देहप्रमितिरेव स्थितः ।

द्वितीयं विशेषभेदमाह—

अर्थान्तरगतो विसदृशपरिणामो व्यतिरेको गोमहिषादिवत् ॥९

वैसादृश्यं हि प्रतियोगिग्रहणे सत्येव भवति । न चापेक्षिकत्वादस्यावस्तुत्वम्; अवस्तुन्यापेक्षिकत्वायोगात् । अपेक्षाया वस्तु-निष्ठत्वात् ।

जाता है । उसी प्रकार देह में और उसके सब प्रदेशों में अपने असाधारण गुण के आधार वाला देवदत्त का आत्मा है, इसलिये वह उसके शरीर प्रमाण ही है (जिस प्रकार दीपक के प्रदेशों में संकोच और विस्तार की शक्ति पायी जाती है, उसी प्रकार आत्मा के प्रदेशों में भी शरीर के अनुसार सङ्कोच, विस्तार हो जाता है) । आत्मा के असाधारण गुणज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य लक्षण वाले गुण आत्मा में ही पाये जाते हैं ।

श्लोकार्थ—युवा पुरुष के प्रिया के साथ समागम करने पर आह्लाद या आनन्द रूप आकार वाले सुख का, ज्ञेय पदार्थ के जानने रूप विज्ञान का और रमण रूप किया से शक्ति का अनुमान किया जाता है ॥ ४१ ॥ ऐसा वचन है । इस अनुमान की सामर्थ्य से आत्मा देहपरिमाण ही स्थित है ।

विशेष के दूसरे भेद को कहते हैं—

सूत्रार्थ—एक पदार्थ की अपेक्षा अन्य पदार्थ में रहने वाले विसदृश परिणाम को व्यतिरेक कहते हैं । जैसे—गाय, भैंस आदि में विलक्षणपना पाया जाता है ॥ ९ ॥

वैसा दृश्य प्रतिपक्षी के ग्रहण करने पर ही होता है । आपेक्षिक होने से इस विसदृशता को अवस्तु नहीं कहा जा सकता है; क्योंकि अवस्तु में आपेक्षिकपने का अयोग है । अपेक्षा वस्तु में पायी जाती है ।

स्यात्कारलाञ्छितमबाध्यमनन्तधर्म—
सन्दोहवर्मितमशेषमपि प्रमेयम् ।
देवैः प्रमाणबलतो निरचायि यच्च
संक्षिप्तमेव मुनिभिर्विवृतं मयैतत् ॥ १० ॥

इति परीक्षामुखस्य लघुवृत्तौ विषयसमुद्देशश्चतुर्थः ।

श्लोकार्थ—स्यात् पर से लाञ्छित, अबाध्य, अनन्त धर्मों के समूह से संयुक्त समस्त प्रमेय को अकलंकदेव ने प्रमाण के बल से कहा और जिस प्रमेय को माणिक्यनन्दि देव ने संक्षेप से रचा, उसे ही मुक्त अनन्तवीर्य ने वृत्ति रूप से कहा है ॥१०॥

इस प्रकार परीक्षामुख की लघुवृत्ति में प्रमाण के विषय
का कथन वाला चतुर्थ समुद्देश समाप्त हुआ ।

●

पञ्चमः समुद्देशः

अथेदानीं फलविप्रतिपत्तिनिरासार्थमाह—

अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलम् ॥ १ ॥

द्विविधं हि फलं साक्षात्पारम्पर्येणेति । साक्षादज्ञाननिवृत्तिः पारम्पर्येण हानादिकमिति; प्रमेयनिश्चयोत्तरकालभावित्वात्तस्येति ।

तद्विविधमपि फलं प्रमाणादभिन्नमेवेति यौगाः । अभिन्नमेवेति सौगताः । तन्मतद्वयनिरासेन स्वमतं व्यवस्थापयितुमाह—

प्रमाणादभिन्नं भिन्नं च ॥ २ ॥

कथञ्चिदभेदसमर्थनार्थं हेतुमाह—

यः प्रमिमीते स एव निवृत्ताज्ञानो जहात्यादत्त उपेक्षते चेति प्रतीतेः ॥ ३ ॥

पञ्चम समुद्देश

अब (प्रमाण के) फल के विषय में विवाद का निराकरण करने के लिए कहते हैं—

सूत्रार्थ—अज्ञान की निवृत्ति, हल, उपादान और उपेक्षा ये (प्रमाण के) फल हैं ॥१॥

फल दो प्रकार का होता है—साक्षात्फल और पारम्पर्यफल । प्रमाण का साक्षात् फल अज्ञान की निवृत्ति करना है, पारम्पर्यफल हान आदिक हैं; क्योंकि वह प्रमेय के निश्चय करने के उत्तरकाल में होता है ।

यह दोनों ही प्रकार का फल प्रमाण से भिन्न ही है, ऐसा यौग कहते हैं । प्रमाण से फल अभिन्न ही है, ऐसा बौद्ध लोग कहते हैं । इन दोनों मतों के निराकरण के साथ अपने मत की व्यवस्था करने के लिए आचार्य कहते हैं—

सूत्रार्थ—फल प्रमाण से कथञ्चित् अभिन्न है और कथञ्चित् भिन्न है ॥ २ ॥

कथञ्चित् अभेद का समर्थन करने के लिए हेतु कहते हैं—

सूत्रार्थ—जो (जानने वाला) प्रमाण से पदार्थ को जानता है, उसी का अज्ञान निवृत्त होता है, वही अभिप्रेत प्रयोजन के अप्रसाधक पदार्थ

अयमर्थः—यस्यैवात्मनः प्रमाणाकारेण परिणतिस्तस्यैव फलरूपतया परिणाम इत्येकप्रमात्रपेक्षया प्रमाणफलयोरभेदः। करणक्रियापरिणामभेदाद् भेद इत्यस्य सामर्थ्यसिद्धत्वान्नोक्तम्।

पारम्पर्येण साक्षाच्च फलं द्वेधाऽभिधायि यत्।
देवैर्भिन्नमभिन्नं च प्रमाणात्तदिहोदितम्॥ ११॥

इति परीक्षामुखलघुवृत्तौ फलसमुद्देशः पञ्चमः।

का त्याग करता है, इष्ट प्रयोजन के प्रसाधक पदार्थ को ग्रहण करता है और इष्ट तथा अनिष्ट प्रयोजन का जो प्रसाधक नहीं है, ऐसे (उपेक्षणीय) पदार्थ की उपेक्षा है। इस प्रकार प्रतीति से सिद्ध है॥३॥

इसका यह अर्थ है कि जिस ही आत्मा की प्रमाण के आकार से परिणति होती है, उसके ही फल रूप से परिणाम होता है। इस प्रकार एक प्रमाता की अपेक्षा प्रमाण और फल में अभेद है। करण और क्रिया रूप परिणाम के भेद से प्रमाण और फल में भेद है। इस भेद की सिद्धि सामर्थ्य होने के कारण कथन नहीं किया है।

श्लोकार्थ—आचार्य अकलंकदेव और माणिक्यनन्दि देव ने प्रमाण के जिस फल को साक्षात् और पारम्पर्य के भेद से दो प्रकार का कहा है, वह प्रमाण से कथंचित् भिन्न है, कथंचित् अभिन्न भी है। वही यहाँ अनन्तवीर्य के द्वारा कहा गया है॥११॥

इस प्रकार परीक्षामुख की लघुवृत्ति में प्रमाण के फल का कथन करने वाला पाँचवाँ समुद्देश समाप्त हुआ।

षष्ठः समुद्देशः

अथेदानीमुक्तप्रमाणस्वरूपादिचतुष्टयाभासमाह—

ततोऽन्यत्तदाभासम् ॥ १ ॥

तत उक्तात् प्रमाणस्वरूपसङ्ख्याविषयफलभेदादन्यद्विपरीतं तदाभासमिति ।

तत्र क्रमप्राप्तं स्वरूपाभासं दर्शयति—

अस्वसंविदितगृहीतार्थदर्शनसंशयादयः प्रमाणाभासाः ॥ २ ॥

अस्वसंविदितश्च गृहीतार्थश्च दर्शनश्च संशय आदिर्येषां ते संशयादयश्चेति सर्वेषां द्वन्द्वः । आदिशब्देन विपर्ययानध्यवसाययोरपि ग्रहणम् ।

तत्रास्वसंविदितं ज्ञानं ज्ञानान्तरप्रत्यक्षत्वादिति नैयायिकाः । तथाहि—ज्ञानं स्वव्यतिरिक्तवेदनवेद्यम्; वेद्यत्वात्, घटवदिति । तदसङ्गतम्; धर्मिज्ञानस्य ज्ञानान्तरवेद्यत्वे साध्यान्तःपातित्वेन धर्मित्वायोगात् । स्वसंविदितत्वे तेनैव हेतोरने-

---

षष्ठ समुद्देश

अब ऊपर कहे गए प्रमाण के स्वरूप, संख्या, विषय और फल इन चारों के आभासों को कहते हैं—

सूत्रार्थ—उनसे भिन्न तदाभास है ॥१॥

उपर्युक्त प्रमाण के स्वरूप, संख्या, विषय और फल से विपरीत स्वरूप, संख्या, विषय और फल को तदाभास कहते हैं ।

अब क्रम प्राप्त स्वरूपाभास को दिखलाते हैं—

सूत्रार्थ—अस्वसंविदित, गृहीतार्थ, दर्शन और संशयादिक प्रमाणाभास हैं ॥२॥

विशेष—यहाँ आदि शब्द से विपर्यय और अनध्यवसाय भी ग्रहण करने चाहिए ।

अस्वसंविदित, गृहीतार्थ, दर्शन और संशय हैं आदि में जिनके, ऐसे संशयादिक इन सभी का द्वन्द्व समास करना चाहिए । आदि शब्द से विपर्यय और अनध्यवसाय का भी ग्रहण करना चाहिए ।

नैयायिकों का कहना है कि ज्ञात अपने आपको नहीं जानता है । इसी को स्पष्ट करते हैं—ज्ञान अपने से अतिरिक्त अन्य ज्ञान के द्वारा जानने योग्य है; क्योंकि वह प्रमेय है, घड़े के समान । नैयायिकों का यह कथन असंगत है; धर्मी ज्ञान के अन्य ज्ञान से वेद्यपना मानने पर उसके भी

कान्तात्। महेश्वरज्ञानेन च व्यभिचाराद्, व्याप्तिज्ञानेनाप्यनेकान्तादर्थप्रतिपत्त्ययोगाच्च। न हि ज्ञापकमप्रत्यक्षं ज्ञाप्यं गमयति; शब्दलिङ्गादीनामपि तथैव गमकत्वप्रसङ्गात्। अनन्तरभाविज्ञानग्राह्यत्वे तस्याप्यगृहीतस्य पराज्ञापकत्वात्तदनन्तरं कल्पनीयम्। तत्रापि तदनन्तरमित्यनवस्था। तस्मान्नायं पक्षः श्रेयान्।

एतेन करणज्ञानस्य परोक्षत्वेनास्वसंविदितत्वं ब्रुवन्नपि मीमांसकः प्रयुक्तः;

साध्य के अन्तर्गत हो जाने से धर्मीपना नहीं रह सकेगा। यदि धर्मी ज्ञान अपने आपको जानता है तो उस धर्मी ज्ञान के द्वारा ही वेद्यत्व हेतु के अनेकान्तना प्राप्त होता है। और महेश्वर ज्ञान से भी व्यभिचार आता है। महेश्वर का ज्ञान यदि अपने आपको नहीं जानता है तो वह सर्वज्ञता रूप नहीं होता है। यदि महेश्वर के ज्ञान को स्वसंविदिति मानो तो आपके मत की हानि होती है। दूसरी बात यह है कि महेश्वर के ज्ञान में ज्ञानान्तरवेद्यत्व नहीं है, वेद्यत्व है, इसलिए उससे व्यभिचार आता है। व्याप्ति के ज्ञान से भी व्यभिचार आता है, क्योंकि व्याप्ति ज्ञान में अन्य ज्ञान से व्यवधान का अभाव है। (ज्ञान स्व और पर का प्रकाशक है, क्योंकि उसमें ज्ञानपना है। जैसे—महेश्वर का ज्ञान। वह बिना किसी व्यवधान के अर्थ का प्रकाशक है अथवा अर्थ के ग्रहण करने स्वरूप है, जैसे—महेश्वर का ज्ञान। जो स्वपर प्रकाशक नहीं होता है, बिना किसी व्यवधान के अर्थ का प्रकाशक या अर्थ का ग्रहण करने वाला नहीं होता है, जैसे—चक्षुरादि)। जो अप्रत्यक्ष ज्ञान होता है, वह ज्ञेय अर्थ की जानकारी नहीं कराता है, अन्यथा शब्द और लिङ्ग (जैसे—जहाँ धूम है, वहाँ अग्नि है) आदि के भी स्वयं अप्रत्यक्ष रहते हुए गमकपने का प्रसंग आता है। (मैंने यह कहा कि अप्रत्यक्ष ज्ञान जानकारी नहीं कराता है, यदि आप यह कहें कि ज्ञान स्वयं अप्रत्यक्ष रहते हुए पदार्थ की जानकारी करता है तो शब्द कान से सुने बिना ही पदार्थ की जानकारी कराए तथा धूप आँखों से देखे बिना ही अग्नि की जानकारी कराए)। यदि पूर्वज्ञान के अनन्तरभावी ज्ञान के द्वारा ग्राह्यता बन जाती है तो उस अनन्तरभावी अगृहीत ज्ञान के भी पर की अज्ञापकता रहने से तदनन्तरभावी अन्य ज्ञान की कल्पना करनी चाहिए और उसके लिए भी अन्य तदनन्तरभावी ज्ञान की कल्पना करनी चाहिए, इस प्रकार अनवस्था दोष प्राप्त होता है। अतः ज्ञान अन्य ज्ञान से जानने योग्य है क्योंकि प्रमेय है, यह पक्ष श्रेयस्कर नहीं है।

इसी कथन से ज्ञान की ज्ञानान्तरवेद्यता के निराकरण से करण ज्ञान के परोक्ष होने से अस्वसंविदितपना कहने वाले मीमांसक का भी निरा-

तस्यापि ततोऽर्थप्रत्यक्षत्वायोगात् । अथ कर्मत्वेनाप्रतीयमानत्वादप्रत्यक्षत्वे तर्हि फलज्ञानस्याप्रत्यक्षता तत एव स्यात् । अथ फलत्वेन प्रतिभासनात् नो चेत् करणज्ञानस्यापि करणत्वेनावभासनात् प्रत्यक्षत्वमस्तु । तस्मादर्थप्रतिपत्त्यन्यथाऽनुपपत्तेः करणज्ञानकल्पनावदर्थप्रत्यक्षत्वान्यथाऽनुपपत्तेर्ज्ञानस्यापि प्रत्यक्षत्वमस्तु । अथ करणस्य चक्षुरादेरप्रत्यक्षत्वेऽपि रूपप्राकट्याद् व्यभिचार इति चेन्न, भिन्नकर्तृकरणस्यैव तद्व्यभिचारात् । अभिन्नकर्तृके करणे सति कर्तृप्रत्यक्षतायां तदभिन्नस्यापि करणस्य कथञ्चित् प्रत्यक्षत्वेनाप्रत्यक्षतैकान्तविरोधात्, प्रकाशात्मनोऽप्रत्यक्षत्वे प्रदीपप्रत्यक्षत्वविरोधवदिति ।

गृहीतग्राहिधारावाहि ज्ञानं गृहीतार्थम्, दर्शनं सौगताभिमतं निर्विकल्पकम्,

---

करण हो गया; क्योंकि मीमांसक के भी उस करण ज्ञान से अर्थ की प्रत्यक्षता नहीं बनती है। यदि कर्म रूप से प्रतीत न होने से करणज्ञान के अप्रत्यक्षता है तो इसीलिए ही (कर्म रूप से प्रतीत न होने के कारण ही) फलज्ञान के भी अप्रत्यक्षता मानी जाय। यदि फल रूप से प्रतिभासित होने के कारण फलज्ञान के परोक्षता नहीं है तो करणज्ञान के भी करण रूप से प्रतिभासित होने के कारण प्रत्यक्षता मानी जाय। इसलिए अर्थ का ज्ञान अन्यथा नहीं हो सकने से करणज्ञान की कल्पना के समान अर्थ की प्रत्यक्षता अन्यथा नहीं हो सकने से ज्ञान के भी प्रत्यक्षता रही आवे। यदि आप कहें कि करण चक्षु आदि के अप्रत्यक्षता होने पर भी रूप की प्रकटता से व्यभिचार आता है, तो यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि भिन्न कर्त्ता वाले करण के ही वह व्यभिचार दोष प्राप्त होता है, किन्तु अभिन्न कर्त्ता वाले करण के होने पर कर्त्ता के प्रत्यक्ष होने की दशा में उससे अभिन्न करण के भी कथञ्चित् प्रत्यक्ष होने से अप्रत्यक्षता रूप एकान्त का विरोध है, जैसे प्रकाशात्मकता के अप्रत्यक्ष रहने पर दीपक की प्रत्यक्षता का विरोध है। (करणज्ञान प्रत्यक्ष है, अभिन्न कर्तृक होते हुए प्रत्यक्ष कार्य करने से। जैसे दीपक का भासुराकार)।

विशेष—करण दो प्रकार का होता है (१) विभक्तकर्तृक (२) अविभक्तकर्तृक। कर्त्ता से अन्य विभक्तकर्तृककरण है, जैसे देवदत्त फरसे से काटता है। कर्त्ता से भिन्न अविभक्तकर्तृक है। जैसे अग्नि उष्णता से जलाती है। यहाँ पर अविभक्तकर्तृकरण विवक्षित है, अतः विभक्तकर्तृकरण से व्यभिचार भी दोष के लिए नहीं है, यह भाव है। (टिप्पण)

गृहीतग्राही धारावाहिक ज्ञान गृहीतार्थप्रमाणाभास है (यह भी

तच्च स्वविषयानुपदर्शकत्वादप्रमाणम्, व्यवसायस्यैव तज्जनितस्य तदुपदर्शकत्वात्। अथ व्यवसायस्य प्रत्यक्षाकारेणानुरक्तत्वात् ततः प्रत्यक्षस्यैव प्रामाण्यम्, व्यवसायस्तु गृहीतग्राहित्वादप्रमाणमिति। तन्न सुभाषितम्, दर्शनस्याविकल्पकस्यानुपलक्षणात् तत्सद्भावायोगात्। सद्भावे वा नीलादाविव क्षणक्षयादावपि तदुपदर्शकत्वप्रसङ्गात्। तत्र विपरीतसमारोपान्नेति चेत्तर्हि सिद्धं नीलादौ समारोपविरोधिग्रहणलक्षणो निश्चय इति तदात्मकमेव प्रमाणम्, इतरत्तदाभासमिति।

संशयादयश्च प्रसिद्धा एव। तत्र संशय उभयकोटिसंस्पर्शी स्थाणुर्वा पुरुषो वेति परामर्शः। विपर्ययः पुनरतस्मिंस्तदिति विकल्पः। विशेषानवधारणमनध्यवसायः।

प्रमाण नहीं है; क्योंकि इसमें अज्ञाननिवृत्तिलक्षण वाले फल का अभाव है। ऐसा कहा जाता है कि जो प्रमाण होता है, वह फलवान् होता है)। बौद्धों द्वारा माना गया निर्विकल्पक प्रत्यक्ष दर्शन नामका प्रमाणाभास है। वह दर्शन अपने विषय का उपदर्शक न होने से अप्रमाण है। दर्शन से उत्पन्न निश्चयात्मक ज्ञान ही अपने विषय का उपदर्शक है।

बौद्ध—निश्चय रूप सविकल्पज्ञान प्रत्यक्ष के आकार से अनुरक्त है (सविकल्प प्रत्यक्ष में साक्षात्प्रमाणत्व का अभाव है) अतः निर्विकल्प के ही प्रामाण्य है। निश्चय रूप सविकल्प ज्ञान गृहीतग्राही होने के कारण अप्रमाण है।

जैन—बौद्धों का यह कहना सुभाषित नहीं; क्योंकि विकल्परहित दर्शन की उपलब्धि न होने से उसका सद्भाव नहीं है। यदि सद्भाव मान लिया जाय तो नीलादि के समान क्षणक्षयादि में भी उसके उपदर्शकपने का का प्रसंग आता है।

बौद्ध—क्षणक्षयादि में विपरीत अक्षणिक का संशयादि रूप समारोप हो जाने से वह उसका उपदर्शक नहीं हो सकता।

जैन—तब तो नीलादि में समारोप के विरोधी ग्रहण लक्षण वाला निश्चय स्वीकार कर लेने से तदात्मक अर्थात् व्यवसायात्मक दर्शन ही प्रमाण है और जो उससे भिन्न है अर्थात् अनिश्चयात्मक है, वह निर्विकल्प दर्शन प्रमाणाभास है।

संशयादिक प्रमाणाभास प्रसिद्ध ही हैं। इनमें संशय उभयकोटिस्पर्शी परामर्श होता है। जैसे—यह स्थाणु है या पुरुष? जो वस्तु जैसी नहीं है, उसमें वैसी होने की कल्पना करना विपर्यय है। विशेष के नाम, जाति आदि का निश्चय न कर पाना अनध्यवसाय है।

कथमेषामस्वसंविदितादीनां तदाभासतेत्यत्राऽऽह—

स्वविषयोपदर्शकत्वाभावात् ॥ ३ ॥

गतार्थमेतत् ।

अत्र दृष्टान्तं यथाक्रममाह—

पुरुषान्तरपूर्वार्थगच्छत्तृणस्पर्शस्थाणुपुरुषादिज्ञानवत् ॥ ४ ॥

पुरुषान्तरञ्च पूर्वार्थश्च गच्छत्तृणस्पर्शश्च स्थाणुपुरुषादिश्च तेषां ज्ञानम्, तद्वत् ।

अपरं च सन्निकर्षवादिनं प्रति दृष्टान्तमाह—

चक्षूरसयोर्द्रव्ये संयुक्तसमवायवच्च ॥ ५ ॥

अयमर्थो यथा चक्षूरसयोः संयुक्तसमवायः सन्नपि न प्रमाणम्, तथा चक्षूरूपयोरपि । तस्मादयमपि प्रमाणाभास एवेति । उपलक्षणमेतत् अतिव्याप्तिकथन-

---

इन अस्वसंविदितादि के प्रमाणभासता क्यों है ? इस विषय में कहते हैं—

सूत्रार्थ—क्योंकि वे अपने विषय का निश्चय नहीं कराते हैं ॥ ३ ॥

इस सूत्र का अर्थ कहा जा चुका है ।

अब यथाक्रम रूप से दृष्टान्त कहते हैं—

सूत्रार्थ—अस्वसंविदित ज्ञान प्रमाण नहीं होता है; क्योंकि वह अपने विषय का निश्चायक नहीं होता है जैसे—दूसरे पुरुष का ज्ञान । गृहीतार्थ ज्ञान प्रमाण नहीं होता है; क्योंकि वह अपने विषय का निश्चायक नहीं होता है, जैसे पूर्व में जाने हुए पदार्थ का ज्ञान । निर्विकल्प ज्ञान प्रमाण नहीं होता है; क्योंकि वह अपने विषय का निश्चायक नहीं होता है । जैसे—जाते हुए पुरुष के तृण स्पर्शादि का ज्ञान । संशयादि ज्ञान भी प्रमाण नहीं होता है; क्योंकि वह अपने विषय का निश्चायक नहीं होता है, जैसे—स्थाणु पुरुषादि का ज्ञान । (टिप्पण)

पुरुषान्तरञ्च पूर्वार्थश्च गच्छत्तृणस्पर्शश्च स्थाणुपुरुषादिश्च तेषां ज्ञानम् तद्वत्, सूत्र में इस प्रकार द्वन्द्व समास कर लेना चाहिये ।

सन्निकर्षवादी के प्रति दूसरा दृष्टान्त कहते हैं—

सूत्रार्थ—द्रव्य में चक्षु और रस के संयुक्त समवाय के समान ॥ ५ ॥

(सूत्र का) यह अर्थ है कि जिस प्रकार चक्षु और रस का संयुक्त समवाय होने पर भी प्रमाण नहीं है, उसी प्रकार चक्षु और रूप का भी संयुक्त समवाय प्रमाण नहीं है । अतः यह भी प्रमाणाभास ही है । यह

मव्याप्तिश्च, सन्निकर्षप्रत्यक्षवादिनां चक्षुषि सन्निकर्षस्याभावात् ।

अतिव्याप्ति का कथन उपलक्षण रूप है, अतः इससे अव्याप्ति का भी ग्रहण करना चाहिये। (कदाचित् असम्बद्ध उपलक्षण है। जैसे—काक से उपलक्षित घर) सन्निकर्ष प्रमाण है, इस प्रकार लक्षण के होने पर चक्षु और रस में संयुक्त समवाय सन्निकर्ष है, परन्तु वहाँ पर चक्षु से रस का ज्ञान नहीं है। अतः प्रमिति के अभाव में भी लक्षण का सद्भाव होने से अतिव्याप्ति है। चक्षु और मन के प्रमिति उत्पादकता है, सन्निकर्षपना नहीं है। अतः लक्ष्य मात्र में अव्याप्त होने से लक्षण की अव्याप्ति है। आशय यह है कि जब सन्निकर्ष की प्रमाणता करते हैं, तब चक्षु और रस द्रव्य में संयुक्त समवाय की भी प्रमाणता का प्रसंग हो, इस प्रकार से अतिव्याप्ति है। लक्ष्य और अलक्ष्य में पाये जाने को अतिव्याप्ति कहते हैं। चक्षु के बिना इतर इन्द्रियों को सन्निकर्ष सम्बन्ध है, अतः अव्याप्ति है। लक्ष्य के एकदेश में पाये जाने को अव्याप्ति कहते हैं)। सन्निकर्ष प्रत्यक्षवादियों चक्षु में सन्निकर्ष का अभाव है। (इससे असम्भावित दूषण को दिखलाया गया है। चक्षु अप्राप्यकारी है; क्योंकि वह छूकर पदार्थों का ज्ञान नहीं करती है। यदि चक्षु प्राप्यकारी होती तो स्पर्शन इन्द्रिय के समान छुए हुए (छूकर) अञ्जन को ग्रहण करती। चूँकि ग्रहण नहीं करती है अतः मन के समान अप्राप्यकारी है, ऐसा जानना चाहिये।)

विशेष—नैयायिकों के यहाँ सन्निकर्ष छः प्रकार का होता है—(१) संयोग, (२) संयुक्त समवाय, (३) संयुक्त समवेत समवाय, (४) समवाय, (५) समवेत समवाय और (६) विशेष्य विशेषणभाव। उनमें जब चक्षु से घटविषयक ज्ञान उत्पन्न होता है, तब चक्षु इन्द्रिय और घट अर्थ होता है। इन दोनों का सन्निकर्ष संयोग ही होता है; क्योंकि अयुतसिद्धि का अभाव है। इसी प्रकार अन्तःकरण मन से जब आत्मविषयक ज्ञान होता है, तब मन इन्द्रिय और आत्मा अर्थ इन दोनों का सम्बन्ध संयोग ही होता है।

जब चक्षु आदि से घटगत रूपादिक का ग्रहण होता है कि घट में श्याम रूप है, तब चक्षुः इन्द्रिय और घटरूप अर्थ होता है और इन दोनों का सन्निकर्ष संयुक्त समवाय होता है। चक्षु से संयुक्त घट में रूप का समवाय होने से चक्षु इन्द्रिय और घटरूप अर्थ का संयुक्त समवाय सन्निकर्ष होता है। इसी प्रकार मन से आत्मा में रहने वाले सुखादि गुणों

अथ चक्षुः प्राप्तार्थपरिच्छेदकम्, व्यवहितार्थाप्रकाशकत्वात् प्रदीपवदिति तत्सिद्धिरिति मतम्, तदपि न साधीयः, काचाभ्रपटलादिव्यवहितार्थानामपि चक्षुषा

के ग्रहण होने पर यह सन्निकर्ष ही होता है। घटगत रूपादि गुणों के समान घटगत परिमाणादि का ग्रहण भी संयुक्त समवाय सम्बन्ध से ही होता है, परन्तु घटगत परिमाण आदि के ग्रहण में इन्द्रिय और अर्थ दोनों के अवयव, दोनों के अवयवी, पहिले का अवयव और दूसरे का अवयवी या दूसरे का अवयव और पहिले का अवयवी इन चार के चतुष्टय सन्निकर्ष को भी अतिरिक्त कारण मानना अभीष्ट है; क्योंकि उस चतुष्टय सन्निकर्ष के अभाव में परिमाण आदि के साथ चक्षुः का संयुक्त समवाय होने पर भी दूर में पदार्थ के परिमाणादि का ग्रहण नहीं होता। इसलिए परिमाणादि के ग्रहण में 'संयुक्त समवाय' के अतिरिक्त चतुष्टय सन्निकर्ष को भी कारण मानना आवश्यक है।

जब श्रोत्रेन्द्रिय से शब्द का ग्रहण होता है, तब श्रोत्र इन्द्रिय और शब्द अर्थ होता है। इन दोनों का सम्बन्ध समवाय ही है; क्योंकि कर्ण शष्कुली से घिरा हुआ आकाश श्रोत्र है। इसलिए श्रोत्र के आकाश रूप होने से और शब्द के आकाश का गुण होने तथा गुण-गुणी का समवाय सम्बन्ध होने से श्रोत्र के शब्द का ग्रहण समवाय सम्बन्ध से होता है।

जब शब्द में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले शब्दत्व आदि सामान्य का श्रोत्रेन्द्रिय से ग्रहण होता है, तब श्रोत्र इन्द्रिय और शब्दत्व आदि सामान्य अर्थ है। इन दोनों का सन्निकर्ष समवेत समवाय ही होता है। श्रोत्र में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले शब्द में शब्दत्व जाति का समवाय होने से श्रोत्रेन्द्रिय से शब्दत्व जाति का ग्रहण समवेत समवाय सम्बन्ध से ही होता है।

जब चक्षु से संयुक्त भूतल में 'इस भूतल में घट का अभाव है,' इस प्रकार घटाभाव का ग्रहण होता है, तब विशेष्य विशेषणभाव सम्बन्ध होता है। तब चक्षु से संयुक्त भूतल का घटाभाव विशेषण होता है और भूतल विशेष्य होता है।

यदि कहा जाय कि चक्षु प्राप्त करके पदार्थ का निश्चय कराने वाली है, किन्तु अन्य पदार्थ के व्यवधान के कारण वह अपने विषयभूत पदार्थ का प्रकाशन नहीं कर पाती है। जैसे दीपक। इस प्रकार चक्षु की प्राप्य-कारिता सिद्ध होती है। तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि काच

प्रतिभासनाद्धेतोरसिद्धेः । शाखाचन्द्रमसोरेककालदर्शनानुपपत्तिप्रसक्तेश्च । न च तत्र क्रमेऽपि यौगपद्याभिमान इति वक्तव्यम्, कालव्यवधानानुपलब्धेः । किञ्च— क्रमप्रतिपत्तिः प्राप्तिनिश्चये सति भवति । न च क्रमप्राप्तौ प्रमाणान्तरमस्ति । तैजसत्वमस्तीति चेन्न; तस्या सिद्धेः । अथ चक्षुस्तैजसम्; रूपादीनां मध्ये रूपस्यैव प्रकाशकत्वात्, प्रदीपवदिति । तदप्यपर्यालोचिताभिधानम्,मण्यञ्जनादेः पार्थिवत्वेऽपि रूपप्रकाशकत्वदर्शनात् । पृथिव्यादिरूपप्रकाशकत्वे पृथिव्याद्यारब्धत्वप्रसङ्गाच्च । तस्मात्सन्निकर्षस्याव्यापकत्वान्न प्रमाणत्वम्, करणज्ञानेन व्यवधानाच्चेति ।

और बादल के समूह आदि से व्यवधान को प्राप्त भी पदार्थों का चक्षु इन्द्रिय से प्रतिभास होता है, अतः आपका हेतु असिद्ध है। तथा शाखा और चन्द्रमा के एक ही समय में दर्शन नहीं होने का प्रसंग आता है। शाखा और चन्द्रमा के एक काल में ग्रहण करने में क्रम होने पर भी एक साथ ग्रहण होने का अभिमान होता है ऐसा भी नहीं कहना चाहिए; क्योंकि शाखा और चन्द्रमा के एक साथ ग्रहण करने पर काल का व्यवधान उपलब्ध नहीं होता है। दूसरी बात यह है कि क्रम का ज्ञान क्रम की उपलब्धि का निश्चय होने पर ही हो सकता है। क्रम की प्राप्ति में अन्य कोई प्रमाण भी नहीं है। यदि कहा जाय कि क्रम प्राप्ति के निश्चय में तैजसत्व प्रमाण है अर्थात् चक्षु प्राप्त अर्थ की प्रकाशक है, तैजस होने के कारण से चक्षु के तेजोद्रव्य होने से क्रम से ही शाखा और चन्द्रमा की प्राप्ति हैं, तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि चक्षु के तैजसपना असिद्ध है। (चक्षु अतैजस है; क्योंकि उसमें भासुरता नहीं पायी जाती है, इस हेतु से चक्षु का तैजसपना असिद्ध है। यदि आप कहें कि चक्षु तैजस है; क्योंकि वह रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के मध्य में रूप की ही प्रकाशक है। जैसे दीपक रूप का ही प्रकाशक है। आपका यह बिना विचार किए किया गया कथन है; क्योंकि मणि और अञ्जन आदि के पार्थिवपना होने पर भी रूप का प्रकाशकपना देखा जाता है। पृथिवी आदि के रूप का प्रकाशक होने पर उसके पृथिवी आदि से आरब्ध होने का प्रसंग आता है। इसलिए सन्निकर्ष के अव्यापकता होने से प्रमाणता नहीं है। और करणज्ञान से व्यवधान भी है। प्रमाण की उत्पत्ति में सन्निकर्ष का करण ज्ञान से व्यवधान है। जो साधकतम होता है, वह करण होता है, इस नियम से साधकतम करण ज्ञान ही है, सन्निकर्ष नहीं है।

(यहाँ तक सामान्य प्रमाणाभास का प्रतिपादन करके अब विशेष प्रमाणाभास का प्रतिपादन करते हैं)।

प्रत्यक्षाभासमाह—

अवैशद्ये प्रत्यक्षं तदाभासं बौद्धस्याकस्माद् धूमदर्शनाद्वह्नि-विज्ञानवत् ॥ ६ ॥

परोक्षाभासमाह—

वैशद्येऽपि परोक्षं तदाभासं मीमांसकस्य करणज्ञानवत् ॥ ७ ॥

प्राक् प्रपञ्चितमेतत् ।

परोक्षभेदाभासमुपदर्शयन् प्रथमं क्रमप्राप्तं स्मरणाभासमाह—

अतस्मिंस्तदिति ज्ञानं स्मरणाभासं जिनदत्ते स देवदत्तो यथा ॥ ८ ॥

प्रत्यक्षाभास कहते हैं—

सूत्रार्थ—बौद्ध का अविशद निर्विकल्पक ज्ञान को प्रत्यक्ष मानना प्रत्यक्षाभास है। जैसे—(व्याप्ति स्मरणादि के बिना) अकस्मात् धुयें के देखने से उत्पन्न हुआ अग्नि का ज्ञान अनुमानाभास है ॥६॥

विशेष—बौद्ध परिकल्पित निर्विकल्प प्रत्यक्ष अविशद है, तथापि बौद्ध विशद कहता है। जैसे धुआँ, भाप आदि का निश्चय हुए बिना व्याप्ति ग्रहण के अभाव से अकस्मात् धुयें से उत्पन्न हुआ जो अग्निविज्ञान है, वह प्रत्यक्षाभास है, क्योंकि निश्चय नहीं है। इसी प्रकार बौद्ध परिकल्पित जो निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है, वह प्रत्यक्षाभास है; क्योंकि निश्चय नहीं है।

परोक्षाभास कहते हैं—

सूत्रार्थ—विशद ज्ञान होने पर भी परोक्ष मानना परोक्षाभास है। जैसे मीमांसक का करणज्ञान ॥७॥

विशेष—मीमांसक मत में करण ज्ञान अन्य ज्ञान से जानने योग्य है। परन्तु करण ज्ञान में बिना किसी व्यवधान के प्रतिभासलक्षण वैशद्य असिद्ध नहीं है; क्योंकि अपना अर्थ वहाँ अन्य प्रतीति से निरपेक्ष प्रतिभासित होता है।

करणज्ञान का पहले विस्तृत विवेचन किया गया है।

परोक्ष भेदाभास को दिखलाते हुए प्रथम क्रमप्राप्त स्मरणाभास के विषय में कहते हैं—

सूत्रार्थ—पूर्व में अनुभव नहीं किए गए पदार्थ में 'वह है' अर्थात् वैसी

अतस्मिन्नननुभूत इत्यर्थः । शेषं सुगमम् ।

प्रत्यभिज्ञानाभासमाह—

सदृशे तदेवेदं तस्मिन्नेव तेन सदृशं यमलकवदित्यादि प्रत्यभिज्ञानाभासम् ॥ ९ ॥

द्विविधं प्रत्यभिज्ञानाभासमुपदर्शितम्—एकत्वनिबन्धनं सादृश्यनिबन्धनं चेति । तत्रैकत्वे सादृश्यासभासः सादृश्ये चैकत्वावभासस्तदाभासमिति ।

तर्काभासमाह—

असम्बद्धे तज्ज्ञानं तर्काभासम् ॥ १० ॥

यावांस्तत्पुत्रः स श्याम इति यथा । तज्ज्ञानमिति व्याप्तिलक्षणसम्बन्धज्ञानमित्यर्थः ।

इदानीमनुमानाभासमाह—

इदमनुमानाभासम् ॥ ११ ॥

है, इस प्रकार का ज्ञान स्मरणाभास है। जैसे जिनदत्त में, वह देवदत्त है, ऐसा स्मरण ॥८॥

अतस्मिन् का अननुभूत है। शेष अर्थ सुगम है।

प्रत्यभिज्ञानाभास के विषय में कहते हैं—

सूत्रार्थ—सदृश वस्तु में 'यह वही है, ऐसा कहना, उसी पदार्थ में, यह उसके सदृश है, ऐसा कहना। जैसे एक साथ जन्मे हुए दो बालकों में विपरीत ज्ञान हो जाना, इत्यादि प्रत्यभिज्ञानाभास है ॥९॥

दो प्रकार का प्रत्यभिज्ञान बतलाया गया है—एकत्वनिमित्तक और सादृश्यनिमित्तक। इनमें से एकत्व में सादृश्य का अवभास और सादृश्य में एकत्व का अवभास प्रत्यभिज्ञानाभास है।

विशेष—सादृश्य प्रत्यभिज्ञानाभास, जैसे—जो देवदत्त के समान है, उसमें देवदत्त ही है, ऐसा मानना।

तर्काभास के विषय में कहते हैं—

सूत्रार्थ—अविनाभाव सम्बन्ध से रहित पदार्थ में अविनाभाव सम्बन्ध का ज्ञान करना तर्काभास है ॥१०॥

जैसे—उसका जो भी पुत्र होगा, वह श्याम होगा। सूत्र कथित तज्ज्ञान पद का अर्थ व्याप्ति लक्षण सम्बन्ध का ज्ञान है।

अब अनुमानाभास को कहते हैं।

सूत्रार्थ—यह अनुमानाभास है ॥११॥

इदं वक्ष्यमाणमिति भावः ।

तत्र तदवयवाभासोपदर्शनेन समुदायरूपानुमानाभासमुपदर्शयितुकामः प्रथमावयवाभासमाह—

तत्रानिष्टादिः पक्षाभासः ॥ १२ ॥

इष्टमबाधितमित्यादि तल्लक्षणमुक्तम् । इदानीं तद्विपरीतं तदाभासमिति कथयति—

अनिष्टो मीमांसकस्यानित्यः शब्दः ॥ १३ ॥

असिद्धाद्विपरीतं तदाभासमाह—

सिद्धः श्रावणः शब्द इति ॥ १४ ॥

अबाधिताद्विपरीतं तदाभासमावेदयन् स च प्रत्यक्षादिबाधित एवेति दर्शयन्नाह—

बाधितः प्रत्यक्षानुमानागमलोकस्ववचनैः ॥ १५ ॥

सूत्रोक्त इदं पक्ष का अर्थ वक्ष्यमाण—आगे कहे जाने वाले (पक्षाभासादि) हैं ।

उस अनुमानाभास के अवयवभासों को बतलाने से ही समुदाय रूप अनुमानाभास का ज्ञान हो जाता है, यह दिखलाने के लिए प्रथम अवयवाभास को कहते हैं—

सूत्रार्थ—उनमें अनिष्ट, बाधित और सिद्ध को पक्ष कहना पक्षाभास है ॥१२॥

पहले पक्ष का लक्षण इष्ट, अबाधित और असिद्ध कह आए हैं । अब उनसे विपरीत तदाभास है, इस बात को कहते हैं—

सूत्रार्थ—मीमांसक का कहना कि शब्द अनित्य है, अनिष्ट पक्षाभास है ॥१३॥

असिद्ध से विपरीत सिद्ध पक्षाभास को कहते हैं—

सूत्रार्थ—शब्द श्रवणेन्द्रिय का विषय है, यह सिद्ध पक्षाभास है ॥१४॥

(वादी और प्रतिवादी दोनों में शब्द का श्रावणत्वपना सिद्ध होने से कोई विवाद ही नहीं है) ।

अबाधित से विपरीत बाधिताभास को दिखलाते हुए वह बाधिताभास प्रत्यक्षादि बाधित ही है, इस बात को दिखलाते हुए कहते हैं—

सूत्रार्थ—बाधित पक्षाभास प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, लोक और स्ववचनों से बाधित होता है ॥१५॥

एतेषां क्रमेणोदाहरणमाह—

तत्र प्रत्यक्षबाधितो यथा—अनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वाज्जलवत् ॥ १६ ॥

स्पार्शनप्रत्यक्षेण ह्युष्णस्पर्शात्मकोऽग्निरनुभूयते ।

अनुमानबाधितमाह—

अपरिणामी शब्दः कृतकत्वाद् घटवत् ॥ १७ ॥

अत्र पक्षोऽपरिणामी शब्दः कृतकत्वादित्यनेन बाध्यते ।

आगमबाधितमाह—

प्रेत्यासुखप्रदो धर्मः पुरुषाश्रितत्वादधर्मवत् ॥ १८ ॥

आगमे हि पुरुषाश्रितत्वाविशेषेऽपि परलोके धर्मस्य सुखहेतुत्वमुक्तम् ।

लोकबाधितमाह—

शुचि नरशिरःकपालं प्राण्यङ्गत्वाच्छंखशुक्तिवत् ॥ १९ ॥

लोके हि प्राण्यङ्गत्वेऽपि कस्यचिच्छुचित्वमशुचित्वं च । तत्र नरकपालादी-

---

प्रत्यक्षादि बाधित पक्षाभासों के क्रम से उदाहरण कहते हैं—

सूत्रार्थ—उनमें से प्रत्यक्ष बाधित पक्षाभास का उदाहरण। जैसे—अग्नि उष्णता रहित है; क्योंकि वह द्रव्य है, जैसे—जल ॥१६॥

स्पार्शन प्रत्यक्ष से उष्ण स्पर्श वाली अग्नि का अनुभव होता है।

अनुमानबाधित पक्षाभास कहते हैं—

सूत्रार्थ—शब्द अपरिणामी है; क्योंकि कृतक है, घड़े के समान ॥१७॥

यहाँ पर अपरिणामी शब्द कृतकपने से बाधित है। (शब्द परिणामी है; क्योंकि उसमें अर्थक्रिया पायी जाती है, कृतक होने के कारण, जैसे—घड़ा इस अनुमान से शब्द अपरिणामी है यह पक्ष बाधित होता है।

आगमबाधित के विषय में कहते हैं—

सूत्रार्थ—धर्म परलोक में दुःख देने वाला होता है; क्योंकि वह पुरुष के आश्रित है। जैसे—अधर्म। पुरुष का आश्रितपना समान होने पर भी आगम में धर्म सुख का हेतु कहा गया है ॥१८॥

लोक बाधित के विषय में कहते हैं—

सूत्रार्थ—मनुष्य के सिर का कपाल पवित्र है; क्योंकि वह प्राणी का अंग है। जैसे शंख और सीप ॥१९॥

लोक में प्राणी का अंग होने पर भी किसी वस्तु को पवित्र माना जाता है, किसी को अपवित्र माना जाता है। इनमें से नर-कपालादि

नामशुचित्वमेवेति लोकबाधितत्वम् ।

स्ववचनबाधितमाह—

माता मे वन्ध्या पुरुषसंयोगेऽप्यगर्भत्वात्प्रसिद्धवन्ध्यावत् ॥२०॥

इदानीं हेत्वाभासान् क्रमापन्नानाह—

हेत्वाभासा असिद्धविरुद्धानैकान्तिकाकिञ्चित्कराः ॥ २१ ॥

एषां यथाक्रमं लक्षणं सोदाहरणमाह—

असत्सत्तानिश्चयोऽसिद्धः ॥ २२ ॥

सत्ता च निश्चयश्च सत्तानिश्चयौ । असन्तौ सत्तानिश्चयौ यस्य स भवत्यसत्सत्तानिश्चयः ।

तत्र प्रथमभेदमाह—

अविद्यमानसत्ताकः परिणामी शब्दश्चाक्षुषत्वात् ॥ २३ ॥

कथमस्यासिद्धत्वमित्याह—

स्वरूपेणासत्त्वात् ॥ २४ ॥

अपवित्र ही हैं। अतः नर-कपाल को पवित्र कहना लोकबाधित पक्षाभास है।

स्ववचनबाधित के विषय में कहते हैं—

सूत्रार्थ—मेरी माता बन्ध्या है; क्योंकि पुरुष का संयोग होने पर भी उसके गर्भ नहीं रहता है। जैसे—प्रसिद्ध वन्ध्या स्त्री ॥ २० ॥

अब क्रमप्राप्त हेत्वाभासों को कहते हैं—

सूत्रार्थ—असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक और अकिञ्चित्कर हेत्वाभास हैं ॥ २१ ॥

इनका यथाक्रम लक्षण उदाहरण सहित कहते हैं—

सूत्रार्थ—जिस हेतु को सत्ता का अभाव हो अथवा निश्चय न हो, उसे असिद्ध हेत्वाभास कहते हैं ॥ २२ ॥

'सत्ता च निश्चयश्च सत्तानिश्चयौ', इस प्रकार द्वन्द्व समास है। जिसकी सत्ता के निश्चय का अभाव हो वह असत्सत्ता निश्चय है।

असिद्ध हेत्वाभास के प्रथम भेद को कहते हैं—

सूत्रार्थ—शब्द परिणामी है; क्योंकि चाक्षुष है, यह अविद्यमान सत्ता वाले स्वरूपसिद्ध हेत्वाभास का उदाहरण है ॥ २३ ॥

इस हेतु के असिद्धपना कैसे है? इसके विषय में कहते हैं—

सूत्रार्थ—शब्द का चाक्षुष होना स्वरूप से ही असिद्ध है ॥ २४ ॥

द्वितीयासिद्धभेदमुपदर्शयति—

अविद्यमाननिश्चयो मुग्धबुद्धि प्रत्यग्निरत्र धूमात् ॥ २५ ॥

अस्याप्यसिद्धता कथमित्यारेकायामाह—

तस्य वाष्पादिभावेन भूतसंघाते सन्देहात् ॥ २६ ॥

तस्येति मुग्धबुद्धि प्रतीत्यर्थः ।

विशेष—विशेष्यासिद्ध आदि जो असिद्ध के प्रकार नैयायिकादि के द्वारा माने गए हैं, वे असत्सत्ताकत्वलक्षण असिद्ध के प्रकार से अन्तर्भूत हो जाते हैं, इससे भिन्न नहीं हैं। विशेष्यासिद्ध जैसे शब्द अनित्य है, क्योंकि उसमें सामान्यपना होने के साथ-साथ चाक्षुषपना है। विशेषणासिद्ध-जैसे–शब्द अनित्य है; क्योंकि उसमें चाक्षुपना होने के साथ-साथ सामान्यपना है। आश्रयासिद्ध, जैसे–प्रधान है, विश्वपरिणामित्व से। वस्तुतः प्रधान नहीं है, यह भाव है। आश्रयैकदेशासिद्ध जैसे–परमाणु, प्रधान, आत्मा तथा ईश्वर नित्य है; क्योंकि ये किसी के द्वारा बनाए हुए नहीं हैं। व्यर्थ-विशेष्यासिद्ध जैसे–परमाणु अनित्य है; क्योंकि कृतक होने के साथ-साथ उसमें सामान्यपना है। व्यर्थविशेषणासिद्ध, जैसे–परमाणु अनित्य है, क्योंकि सामान्यपना होने के साथ-साथ उसमें कृतकपना है। व्यधिकरणासिद्ध, जैसे—शब्द अनित्य है, क्योंकि दूसरे ने बनाया है। भागासिद्ध, जैसे–शब्द नित्य है, क्योंकि उसमें प्रयत्नानन्तरीयकपना है। व्यधिकरणासिद्धपना परप्रक्रिया का प्रदर्शनमात्र है, वस्तुतः व्यधिकरण के भी हेतुदोष नहीं है 'उदेष्यति शकटं कृत्तिकोदयात्' इत्यादि के गमकपने की प्रतीति है। भागासिद्ध के भी अविनाभाव के सद्भाव से गमकत्व है ही। वस्तुतः प्रयत्नानन्तरीयकत्व अनित्यत्व के बिना कहीं भी भी दिखाई नहीं देता है। जितने शब्द में वह प्रवृत्त होता है, उससे शब्द का अनित्यपना सिद्ध होता है।

असिद्ध हेत्वाभास के दूसरे भेद को बतलाते हैं—

सूत्रार्थ—यहाँ अग्नि है, क्योंकि धूम है, यह अविद्यमान निश्चय वाले सन्दिग्धासिद्ध हेत्वाभास का उदाहरण ॥ २५ ॥

इस हेतु के भी असिद्धता कैसे है ? ऐसी शंका होने पर कहते हैं—

सूत्रार्थ—क्योंकि उसे भूत संघात में वाष्पादि के रूप से सन्देह हो सकता है ॥ २६ ॥

उसे अर्थात् मुग्धबुद्धि पुरुष को। (भोला भाला पुरुष विद्यमान धूम

अपरमसिद्धभेदमाह—

सांख्यम्प्रति परिणामी शब्दः कृतकत्वात् ॥ २७ ॥

अस्यासिद्धतायां कारणमाह—

तेनाज्ञातत्वात् ॥ २८ ॥

तेन सांख्येनाज्ञातत्वात् । तन्मते ह्याविर्भावतिरोभावावेव प्रसिद्धौ, नोत्पत्त्यादिरिति । अस्याप्यनिश्चयादसिद्धत्वमित्यर्थः ।

विरुद्धं हेत्वाभासमुपदर्शयन्नाह—

विपरीतनिश्चिताविनाभावो विरुद्धोऽपरिणामी शब्दः कृतकत्वात् ॥ २९ ॥

कृतकत्वं ह्यपरिणामविरोधिना परिणामेन व्याप्तमिति ।

अनैकान्तिकं हेत्वाभासमाह—

विपक्षेऽप्यविरुद्धवृत्तिरनैकान्तिकः । ।३० ॥

में भी वाष्पादिपने के कारण सन्देह करता है; क्योंकि निश्चय करना सम्भव नहीं है ।

असिद्ध हेत्वाभास के और भी भेद कहते हैं—

सूत्रार्थ—सांख्य के प्रति कहना कि शब्द परिणामी है; क्योंकि वह कृतक है ॥ २७ ॥

इस हेतु की असिद्धता में कारण कहते हैं—

सूत्रार्थ—क्योंकि उसने (कृतकपना) जाना ही नहीं है ॥ २८ ॥

उस सांख्य ने जाना नहीं है । सांख्य मत में आविर्भाव (प्रकटपना) और तिरोभाव (आच्छादनपना) ही प्रसिद्ध है, उत्पत्ति आदि प्रसिद्ध नहीं हैं । किसी पदार्थ के कृतक होने का उसके यहाँ निश्चय न होने से असिद्धपना है ।

विरुद्ध हेत्वाभास को बतलाते हुए कहते हैं—

सूत्रार्थ—साध्य से विपरीत पदार्थ के साथ जिसका अविनाभाव निश्चित हो, उसे विरुद्ध हेत्वाभास कहते हैं । जैसे शब्द अपरिणामी है; क्योंकि वह कृतक है ॥ २९ ॥

इस अनुमान में कृतकत्व हेतु अपरिणाम के विरोधी परिणाम के साथ व्याप्त है ।

अनैकान्तिक हेत्वाभास को कहते हैं—

सूत्रार्थ—जिसका विपक्ष में भी रहना अविरुद्ध है, वह अनैकान्तिक हेत्वाभास है ।

अपिशब्दान्न केवलं पक्ष-सपक्षयोरिति द्रष्टव्यम्। स च द्विविधो विपक्षे निश्चितवृत्तिः शङ्कितवृत्तिश्चेति। तत्राद्यं दर्शयन्नाह—

निश्चितवृत्तिरनित्यः शब्दः प्रमेयत्वाद् घटवत्॥ ३१॥

कथमस्य विपक्षे निश्चिता वृत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—

आकाशे नित्येऽप्यस्य निश्चयात्॥ ३२॥

विशेष—एक धर्म में जो नियत हो, वह ऐकान्तिक है, उससे विपरीत अनैकान्तिक है। जो पक्ष, सपक्ष और विपक्ष इन तीनों में रहना अनैकान्तिक है। दूसरों के द्वारा माना गया पक्षत्रय वाष्पादि अनैकान्तिकों का विस्तार सामान्य रूप से इस लक्षण से भिन्न नहीं है। पक्षत्रय व्यापक, जैसे—शब्द अनित्य है; क्योंकि प्रमेय है। सपक्ष और विपक्ष के एक देश में पाया जाने वाला। जैसे—शब्द नित्य है; क्योंकि अमूर्त है। पक्ष और सपक्ष में व्यापक तथा विपक्ष के एक देश में पाया जाने वाला। जैसे—यह गौ है; क्योंकि इसके विषाण है। पक्ष तथा विपक्ष में व्यापक तथा सपक्ष के एक देश में रहने वाला। जैसे—यह गौ नहीं है; क्योंकि इसके विषाण है। पक्षत्रय के एक देश में रहने वाला। जैसे वचन और मन अनित्य हैं; क्योंकि अमूर्त हैं। पक्ष और सपक्ष के एक देश में रहने वाला तथा विपक्ष में व्यापक जैसे—दिक्, काल और मन अद्रव्य हैं; क्योंकि अमूर्त हैं। सपक्ष और विपक्ष में व्यापक तथा पक्ष के एक देश में रहने वाला, जैसे—पृथिवी, अप्, तेज, वायु और आकाश अनित्य हैं; क्योंकि उनमें गन्ध नहीं है। केवल पक्ष और सपक्ष में रहने से अनैकान्तिक नहीं होता है, यह बात अपि शब्द से सूचित होता है।

सूत्र में कहे गए आप शब्द से न केवल पक्ष-सपक्ष में रहने वाले हेतु को ग्रहण करना (अपितु विपक्ष में भी रहने वाले हेतु को ग्रहण करना चाहिए)। वह दो प्रकार का होता है—(१) विपक्ष में निश्चितवृत्ति वाला और (२) शङ्कितवृत्ति वाला।

आदि के भेद को दिखलाते हुए कहते हैं—

सूत्रार्थ—शब्द अनित्य है; क्योंकि वह प्रमेय है। जैसे—घट। यह निश्चित विपक्षवृत्ति अनैकान्तिक का उदाहरण है॥ ३१॥

इस प्रमेयत्व हेतु की विपक्ष में वृत्ति कैसे निश्चित है, ऐसी आशंका के होने पर आचार्य कहते हैं—

सूत्रार्थ—क्योंकि नित्य आकाश में भी इस प्रमेयत्व हेतु के रहने का निश्चय है॥ ३२॥

शङ्कितवृत्तिमुदाहरति—

शंकितवृत्तिस्तु नास्ति सर्वज्ञो वक्तृत्वात् ॥ ३३ ॥

अस्यापि कथं विपक्षे वृत्तिराशङ्क्यत इत्यत्राह—

सर्वज्ञत्वेन वक्तृत्वाविरोधात् ॥ ३४ ॥

अविरोधश्च ज्ञानोत्कर्षे वचनानामपकर्षादर्शनादिति निरूपितप्रायम् ।

अकिञ्चित्करस्वरूपं निरूपयति—

सिद्धे प्रत्यक्षादिबाधिते च साध्ये हेतुरकिञ्चित्करः ॥ ३५ ॥

तत्र सिद्धे साध्ये हेतुरकिञ्चित्कर इत्युदाहरति—

सिद्धः श्रावणः शब्दः शब्दत्वात् ॥ ३६ ॥

कथमस्याकिञ्चित्करत्वमित्याह—

किञ्चिदकरणात् ॥ ३७ ॥

शङ्कित विपक्षवृत्ति अनैकान्तिक हेत्वाभास का उदाहरण देते हैं—

सूत्रार्थ—सर्वज्ञ नहीं है; क्योंकि वह वक्ता है, यह शङ्कित विपक्षवृत्ति अनैकान्तिक हेत्वाभास का उदाहरण है ॥ ३३ ॥

इस हेतु का विपक्ष में रहना कैसे शङ्कित है, इसके विषय में कहते हैं—

सूत्रार्थ—क्योंकि सर्वज्ञत्व के साथ वक्तापने का विरोध नहीं है ॥३४॥

अविरोध इसलिए है कि ज्ञानोत्कर्ष में वचनों का अपकर्ष नहीं देखा जाता है। यह बात प्रायः निरूपित की जा चुकी है।

अकिञ्चित्कर हेत्वाभास के स्वरूप का निरूपण करते हैं—

सूत्रार्थ—साध्य के सिद्ध होने पर और प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित होने पर प्रयुक्त हेतु अकिञ्चित्कर हेत्वाभास कहलाता है ॥ ३५ ॥

साध्य के सिद्ध होने पर दिया गया हेतु अकिञ्चित्कर है, इसका उदाहरण देते हैं—

सूत्रार्थ—शब्द श्रवण इन्द्रिय के विषय के रूप में सिद्ध है; क्योंकि वह शब्द है ॥ ३६ ॥

इस शब्दत्व हेतु के अकिञ्चित्करता कैसे है ? इसके विषय में कहते हैं—

सूत्रार्थ—क्योंकि इस शब्दत्व हेतु ने कुछ भी नहीं किया है ॥ ३७ ॥

अपरं च भेदं प्रथमस्य दृष्टान्तीकरणद्वारेणोदाहरति—

यथाऽनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वादित्यादौ किञ्चित्कर्तुमशक्यत्वात् ॥३८

अकिञ्चित्करत्वमिति शेषः ।

अयं च दोषो हेतुलक्षणविचारावसर एव न वादकाल इति व्यक्तीकुर्वन्नाह—

लक्षण एवासौ दोषो व्युत्पन्नप्रयोगस्य पक्षदोषेणैव दुष्टत्वात् ॥३९

दृष्टान्तोऽन्वयव्यतिरेकभेदाद् द्विविध इत्युक्तम् । तत्रान्वयदृष्टान्ताभासमाह—

दृष्टान्ताभासा अन्वयेऽसिद्धसाध्यसाधनोभयाः ॥ ४० ॥

साध्यं च साधनं च उभयं च साध्यसाधनोभयानि, असिद्धानि तानि येष्विति विग्रहः ।

एतानेकत्रैवानुमाने दर्शयति—

साध्य का दूसरा भेद जो प्रत्यक्षादिबाधित है, उसे प्रथम भेद के दृष्टान्त करने के द्वारा ही उदाहरण रूप से कहते हैं—

सूत्रार्थ—अग्नि उष्ण नहीं है; क्योंकि वह द्रव्य है, इत्यादि अनुमान में प्रयुक्त यह हेतु साध्य की कुछ भी सिद्धि करने में समर्थ नहीं है ॥ ३८ ॥

अतः यह अकिञ्चित्कर हेत्वाभास है, यह कहना यहाँ शेष है ।

यह अकिञ्चित्कर दोष हेतु के लक्षण का विचार करने के समय ही है, बाद के समय नहीं, इसे व्यक्त करते हुए कहते हैं—

सूत्रार्थ—यह अकिञ्चित्कर हेत्वाभास रूप दोष हेतु के लक्षण व्युत्पादन काल में ही है, वाद काल में नहीं; क्योंकि व्युत्पन्न पुरुष का प्रयोग तो पक्ष के दोष से ही दूषित हो जाता है ॥ ३९ ॥

दृष्टान्त अन्वय और व्यतिरेक के भेद से दो प्रकार का होता है, यह कहा जा चुका है । उनमें से अन्वय दृष्टान्ताभास को कहते हैं—

सूत्रार्थ—असिद्ध साध्य, असिद्ध साधन और असिद्धोभय ये तीन दृष्टान्ताभास हैं ॥ ४० ॥

साध्यं च, साधनं च, उभयं च इन तीनों का द्वन्द्व समास करना, असिद्ध हैं साध्य, साधन और उभय जिनमें ऐसा बहुव्रीहि समास करना ।

विशेष—साध्य व्याप्त साधन जहाँ प्रदर्शित किया जाता है, वह अन्वय दृष्टान्त है । इससे विपरीत अन्वय दृष्टान्ताभास है ।

इन तीनों ही अन्वय दृष्टान्ताभासों को एक ही अनुमान में दिखलाते हैं—

अपौरुषेयः शब्दोऽमूर्त्तत्वादिन्द्रियसुखपरमाणुघटवत् ॥ ४१ ॥

इन्द्रियसुखमसिद्धसाध्यम्; तस्य पौरुषेयत्वात् । परमाणुरसिद्धसाधनम्; तस्य मूर्त्तत्वात् । घटश्चासिद्धोभयः; पौरुषेयत्वान्मूर्त्तत्वाच्च ।

साध्यव्याप्तं साधनं दर्शनीयमिति दृष्टान्तावसरे प्रतिपादितम्, तद्विपरीत-दर्शनमपि तदाभासमित्याह—

विपरीतान्वयश्च यदपौरुषेयं तदमूर्त्तम् ॥ ४२ ॥

कुतोऽस्य तदाभासतेत्याह—

विद्युदादिनाऽतिप्रसंगात् ॥ ४३ ॥

तस्याप्यमूर्तताप्राप्तेरित्यर्थः ।

सूत्रार्थ—शब्द अपौरुषेय है; क्योंकि वह अमूर्त्त है। जैसे—इन्द्रिय-सुख, परमाणु और घट ॥ ४१ ॥

इन्द्रिय सुख (यह दृष्टान्त) असिद्ध साध्य है; क्योंकि वह पौरुषेय है। परमाणु यह दृष्ट असिद्ध साधन है; क्योंकि परमाणु मूर्त्त है, घट असिद्धोभय है; क्योंकि घट पौरुषेय भी है और मूर्त्त भी है।

विशेष—इन्द्रियसुख में साधनत्व है, साध्यत्व नहीं है। अतः यह दृष्टान्त साध्यविकल है। परमाणुओं में साध्यत्व है, साधनत्व नहीं है, अतः यह दृष्टान्त साधनविकल है। घट में अपौरुषेय रूप साध्य और अमूर्त्त रूप साधन ये दोनों ही नहीं हैं। अतः यह दृष्टान्त उभयविकल है।

साध्यव्याप्त साधन को दिखलाना चाहिए, यह बात अन्वय दृष्टान्त के अवसर में प्रतिपादन की गई है, उससे विपरीत व्याप्ति को दिखलाना भी अन्वयदृष्टान्ताभास है, इसके विषय में कहते हैं—

सूत्रार्थ—जो अपौरुषेय होता है, वह अमूर्त्त होता है, यह विपरीतान्वय नाम का दृष्टान्ताभास है ॥ ४२ ॥

इसे दृष्टान्ताभासता कैसे है ? इसके विषय में कहते हैं ।

सूत्रार्थ—क्योंकि उसमें विद्युत् आदि से अतिप्रसंग दोष आता है ॥ ४३ ॥

विद्युत् के भी अमूर्तता की प्राप्ति होती है; क्योंकि विद्युत् अपौरुषेय है। किन्तु अपौरुषेय होते हुए भी वह अमूर्त नहीं मूर्त है।

व्यतिरेकोदाहरणाभासमाह—

व्यतिरेकेऽसिद्धतद्व्यतिरेकाः परमाण्विन्द्रियसुखाऽऽकाशवत् ॥४४॥

अपौरुषेयः शब्दोऽमूर्तत्वादित्यत्रैवासिद्धाः साध्यसाधनोभयव्यतिरेका यत्रेति विग्रहः। तत्रासिद्धसाध्यव्यतिरेकः परमाणुस्तस्यापौरुषेयत्वात्। इन्द्रियसुखमसिद्धसाधनव्यतिरेकम्। आकाशं त्वसिद्धोभयव्यतिरेकमिति।

साध्याभावे साधनव्यावृत्तिरिति व्यतिरेकोदाहरणप्रघट्टके स्थापितम्, तत्र तद्विपरीतमपि तदाभासमित्युपदर्शयति—

विपरीतव्यतिरेकश्च यन्नामूर्त्तं तन्नापौरुषेयम् ॥ ४५ ॥

बालव्युत्पत्त्यर्थं तत्रयोपगम इत्युक्तम्। इदानीं तान् प्रत्येव कियद्धीनतायां प्रयोगाभासमाह—

बालप्रयोगाभासः पञ्चावयवेषु कियद्धीनता ॥ ४६ ॥

व्यतिरेकोदाहरणभास के विषय में कहते हैं—

सूत्रार्थ—व्यतिरेक दृष्टान्ताभास में तीन भेद हैं—असिद्ध साध्य व्यतिरेक, असिद्ध साधन व्यतिरेक और असिद्धोभय व्यतिरेक। परमाणु, इन्द्रियसुख और आकाश इनके क्रम से उदाहरण हैं ॥४४॥

शब्द अपौरुषेय है, अमूर्त होने से, इस अनुमान में असिद्ध हैं साध्य, साधन और उभय व्यतिरेक जिस दृष्टान्त में, ऐसा विग्रह करना चाहिए। उनमें असिद्ध साध्य व्यतिरेक दृष्टान्ताभास का उदाहरण परमाणु है, क्योंकि परमाणु अपौरुषेय है। इन्द्रिय सुख असिद्ध साधन व्यतिरेक दृष्टान्ताभास का उदाहरण है। असिद्धोभय व्यतिरेक दृष्टान्ताभास का उदाहरण आकाश है।

साध्य के अभाव में साधन की व्यावृत्ति को व्यतिरेक व्याप्ति कहते हैं। यह बात व्यतिरेकोदाहरण प्रकरण में सिद्ध की जा चुकी है। उससे विपरीत व्यतिरेक दृष्टान्ताभास है, इस बात को बतलाते हैं—

सूत्रार्थ—जो अमूर्त्त नहीं है, वह अपौरुषेय नहीं है, यह विपरीत व्यतिरेक दृष्टान्ताभास का उदाहरण है ॥४५॥

बालव्युत्पत्ति के लिए उदाहरण, उपनय और निगमन स्वीकार किए गए हैं, यह बात पहले ही कही जा चुकी है। उन बालजनों के प्रति कुछ अवयवों के कम प्रयोग करने पर वे प्रयोगाभास हैं, इसके विषय में कहते हैं—

सूत्रार्थ—पाँच अवयवों (प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन) में से कितने ही कम अवयवों का प्रयोग करना बालप्रयोगा-

तदेवोदाहरति—

अग्निमानयं देशो धूमवत्त्वात्, यदित्थं तदित्थं यथा महानस इति ४७

इत्यवयवत्रयप्रयोगे सतीत्यर्थः ।

चतुरवयवप्रयोगे तदाभासत्वमाह—

धूमवांश्चायमिति वा ॥ ४८ ॥

अवयवविपर्ययेऽपि तत्त्वमाह—

तस्मादग्निमान् धूमवांश्चायम् ॥ ४९ ॥

कथमवयवविपर्यये प्रयोगाभास इत्यारेकायामाह—

स्पष्टतया प्रकृतप्रतिपत्तेरयोगात् ॥ ५० ॥

इदानीमागमाभासमाह—

रागद्वेषमोहाक्रान्तपुरुषवचनाज्जातमागमाभासम् ॥ ५१ ॥

भास है ॥४६॥

इसी बालप्रयोगाभास का उदाहरण देते हैं—

सूत्रार्थ—यह प्रदेश अग्नि वाला है; क्योंकि धूम वाला है। जो धूम वाला होता है, वह अग्नि वाला भी होता भी होता है। जैसे—रसोईघर ॥४७॥

यहाँ पर तीन ही अवयवों का प्रयोग किया गया है।

चार अवयवों का प्रयोग करने पर बालप्रयोगाभास को कहते हैं—

सूत्रार्थ—अथवा यह भी धूमवान् है ॥४८॥

विशेष—ऊपर के तीन अवयवों के प्रयोग के साथ उपनय का उपयोग करना, निगमन का प्रयोग न करना बालप्रयोगाभास है।

अवयवों के विपरीत प्रयोग करने पर भी बालप्रयोगाभासपन होता है।

सूत्रार्थ—इसलिए यह अग्नि वाला है और यह भी धूमवाला है ॥४९॥

विशेष—यहाँ निगमन का प्रयोग पहिले कर दिया, उपनय का बाद में प्रयोग किया।

अवयव के विपरीत प्रयोग करने पर प्रयोगाभास कैसे कहा इस सूत्रार्थ में आशंका के होने पर आचार्य कहते हैं कि इसका विस्तार से निरूपण सूत्रार्थ में है क्योंकि स्पष्ट रूप से प्रकृत पदार्थ का ज्ञान नहीं होता है ॥५०॥

अब आगमाभास के विषय में कहते हैं—

सूत्रार्थ—राग, द्वेष और मोह से आक्रान्त पुरुष के वचनों से उत्पन्न

उदाहरणमाह—

यथा नद्यास्तीरे मोदकराशयः सन्ति, धावध्वं माणवकाः ॥ ५२ ॥

कश्चिन्माणवकैराकुलीकृतचेतास्तत्सङ्गपरिजिहीर्षया प्रतारणवाक्येन नद्या देशं तान् प्रस्थापयतीत्याप्तोक्तेरन्यत्वादागमाभासत्वम् ।

प्रथमोदाहरणमात्रेणातुष्यन्नुदाहरणान्तरमाह—

अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्त इति च ॥ ५३ ॥

अत्रापि साङ्ख्यः स्वदुरागमजनितवासनाहितचेता दृष्टेष्टविरुद्धं सर्वं सर्वत्र विद्यत इति मन्यमानस्तथोपदिशतीत्यनाप्तवचनत्वादिदमपि तथेत्यर्थः ।

कथमनन्तरयोर्वाक्ययोस्तदाभासत्वमित्याशंकायामाह—

विसंवादात् ॥ ५४ ॥

अविसंवादरूपप्रमाणलक्षणाभावान्न तद्विशेषरूपमपीत्यर्थः ।

हुए पदार्थ के ज्ञान को आगमाभास कहते हैं ॥५१॥

उदाहरण कहते हैं—

सूत्रार्थ—जैसे—नदी के किनारे मोदकों की राशियाँ हैं, हे बच्चो ! दौड़ो ॥५२॥

कोई व्यक्ति बालकों से व्याकुलचित्त था, उनका संग छुड़ाने की इच्छा से छलपूर्ण वाक्य कहकर उन्हें नदी के तट पर भेजता है, इस प्रकार विश्वस्त व्यक्ति से भिन्न कथन करने पर आगमाभासपना है ।

प्रथम उदाहरण से सन्तुष्ट न होते हुए अन्य उदाहरण कहते हैं—

सूत्रार्थ—अंगुली के अग्रभाग पर हाथियों के सैकड़ों समुदाय विद्यमान हैं ॥५३॥

इस उदाहरण में भी सांख्य अपने मिथ्या आगम जनित वासना से आक्रान्तचित्त होकर प्रत्यक्ष और अनुमान से विरुद्ध सब वस्तुयें सब जगह विद्यमान हैं, इस प्रकार मानता हुआ नदी के तीर पर लड्डू हैं, इस प्रकार का कथन करता है । यह वाक्य अनाप्त पुरुष का वचन होने से आगमाभास है ।

उपर्युक्त दोनों वाक्यों के आगमाभासपना कैसे है ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

सूत्रार्थ—क्योंकि विसंवाद पाया जाता है ॥५४॥

अविसंवाद रूप प्रमाण के लक्षण का अभाव होने के कारण उन

इदानीं संख्याभासमाह—

प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमित्यादि सङ्ख्याभासम् ॥ ५५ ॥

प्रत्यक्षपरोक्षभेदाद् द्वैविध्यमुक्तम् । तद्वैपरीत्येन प्रत्यक्षमेव, प्रत्यक्षानुमाने एवेत्यवधारणं सङ्ख्याभासम् ।

प्रत्यक्षमेवैकमिति कथं सङ्ख्याभासमित्याह—

लोकायतिकस्य प्रत्यक्षतः परलोकादिनिषेधस्य परबुद्ध्यादेश्चासिद्धेरतद्विषयत्वात् ॥ ५६ ॥

अतद्विषयत्वादप्रत्यक्षविषयत्वादित्यर्थः । शेष सुगमम् । प्रपञ्चितमेवैतत्सङ्ख्याविप्रतिपत्तिनिराकरण इति नेह पुनरुच्यते ।

इतरवादिप्रमाणेयत्तावधारणमपि विघटत इति लोकायतिकदृष्टान्तद्वारेण तन्मतेऽपि सङ्ख्याभासमिति दर्शयति—

वाक्यों में प्रामाणिकता नहीं है । उन्हें प्रमाण विशेष रूप आगम कैसे मान सकते हैं ।

अब संख्याभास के विषय में कहते हैं—

सूत्रार्थ—प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है, इत्यादि कहना संख्याभास है ॥५५॥

प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से प्रमाण दो प्रकार का कहा गया है । उससे विपरीत प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है अथवा प्रत्यक्ष और अनुमान ये ही दो प्रमाण हैं, इस प्रकार निश्चय करना संख्याभास है ।

प्रत्यक्ष ही एक मात्र प्रमाण है, यह संख्याभास कैसे है, इसके विषय में कहते हैं—

सूत्रार्थ—चार्वाक का प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानना इसलिए संख्याभास है कि प्रत्यक्ष से परलोक आदि का निषेध और पर की बुद्धि आदि की सिद्धि नहीं होती है; क्योंकि वे उसके विषय नहीं हैं ॥५६॥

वे उसके विषय नहीं हैं का तात्पर्य प्रत्यक्ष के विषय नहीं हैं, यह है। शेष सूत्रार्थ सुगम है । संख्या-विप्रतिपत्ति के निराकरण के समय इसका विस्तार से निरूपण कर चुके हैं, अतः यहाँ पुनः नहीं कहते हैं ।

अन्य वादियों द्वारा मानी गई प्रमाण की संख्या का नियम भी विघटित होता है । अतः चार्वाक के दृष्टान्त द्वारा बौद्धादि के मत में संख्याभास है, इस बात को दिखलाते हैं—

सौगतसाङ्ख्ययौगप्राभाकरजैमिनीयानांप्रत्यक्षानुमानाग - मोपमानार्थापत्त्यभावैरेकैकाधिकैर्व्याप्तिवत् ॥ ५७ ॥

यथा प्रत्यक्षादिभिरेकैकाधिकैर्व्याप्तिः प्रतिपत्तुं न शक्यते सौगतादिभिस्तथा प्रत्यक्षेण लौकायतिकैः परबुद्ध्यादिरपीत्यर्थः ।

अथ परबुद्ध्यादिप्रतिपत्तिः प्रत्यक्षेण माभूदन्यस्माद्भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—

अनुमानादेस्तद्विषयत्वे प्रमाणान्तरत्वम् ॥ ५८ ॥

तच्छब्देन परबुद्ध्यादिरभिधीयते । अनुमानादेः परबुद्ध्यादिविषयत्वे प्रत्यक्षैक-प्रमाणवादो हीयत इत्यर्थः ।

अत्रोदाहरणमाह—

तर्कस्येव व्याप्तिगोचरत्वे प्रमाणान्तरत्वमप्रमाणस्याव्यव-स्थापकत्वात् ॥ ५९ ॥

सौगतादीनामिति शेषः किञ्च प्रत्यक्षैकप्रमाणवादिना प्रत्यक्षाद्येकैकाधिक-

---

सूत्रार्थ—जिस प्रकार सौगत, सांख्य, यौग, प्राभाकर और जैमिनीयों के प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान अर्थापत्ति और अभाव इन एक-एक अधिक प्रमाणों के द्वारा व्याप्ति विषय नहीं की जाती है ॥ ५७ ॥

जिस प्रकार एक-एक अधिक प्रत्यक्षादि से व्याप्ति नहीं जानी जा सकती है, उसी प्रकार एक प्रत्यक्ष प्रमाण से लौकायतिकों के द्वारा अन्य मनुष्य की बुद्धि आदि भी नहीं जाने जा सकते हैं।

शंका—पराई बुद्धि आदि का ज्ञान प्रत्यक्ष से भले ही न हो, अन्य अनुमानादि से हो जायेगा ? ऐसी आशङ्का होने पर कहते हैं—

समाधान—

सूत्रार्थ—अनुमानादि के दूसरे की बुद्धि आदि का विषयपना मानने पर अन्य प्रमाण मानने पड़ेंगे ॥ ५८ ॥

सूत्र में 'तत्' शब्द से पर बुद्धि आदि कहे गये हैं। अनुमानादि के परबुद्धि आदि के विषयपना मानने पर प्रत्यक्षैक प्रमाणवाद विघटित हो जाता है। इस विषय में उदाहरण कहते हैं—

सूत्रार्थ—जैसे कि तर्क को व्याप्ति का विषय करने वाला मानने पर सौगतादिक को उसे एक भिन्न प्रमाण मानना पड़ता है; क्योंकि अप्रमाण ज्ञान पदार्थ की व्यवस्था नहीं कर सकता है ॥ ५९ ॥

सूत्र में "सौगतादीनाम्" यह पद शेष है। प्रत्यक्ष प्रमाणवादी चार्वाक को तथा प्रत्यक्षादि एक-एक अधिक प्रमाणवादी सौगतादिक को प्रत्यक्ष

प्रमाणवादिभिश्च स्वसंवेदनेन्द्रियप्रत्यक्षभेदोऽनुमानादिभेदश्च प्रतिभासभेदेनैव वक्तव्यो गत्यन्तराभावात्। स च तद्भेदो लौकायतिकं प्रति प्रत्यक्षानुमानयोरितरेषां व्याप्तिज्ञानप्रत्यक्षादिप्रमाणेष्विति सर्वेषां प्रमाणसङ्ख्या विघटते। तदेव दर्शयति—

प्रतिभासभेदस्य च भेदकत्वात् ॥ ६० ॥

इदानीं विषयाभासमुपदर्शयितुमाह—

विषयाभासः सामान्यं विशेषो द्वयं वा स्वतन्त्रम् ॥ ६१ ॥

कथमेषां तदाभासतेत्याह—

तथाऽप्रतिभासनात्कार्याकरणाच्च ॥ ६२ ॥

किञ्च—तदेकान्तात्मकं तत्त्वं स्वयं समर्थमसमर्थं वा कार्यकारि स्यात्? प्रथमपक्षे दूषणमाह—

के स्वसंवेदन और इन्द्रिय प्रत्यक्ष रूप भेद तथा प्रमाणों के अनुमानादि भेद प्रतिभास के भेद से (सामग्री और स्वरूप के भेद से) कहना चाहिये; क्योंकि इसके बिना उनकी कोई गति नहीं है। वह प्रतिभास का भेद चार्वाक के प्रति प्रत्यक्ष और अनुमान में तथा सौगतादि अन्य मत वालों के व्याप्तिज्ञान और प्रत्यक्षादि प्रमाणों में अनुभवगम्य है, अतः सभी की प्रमाण संख्या का विघटन हो जाता है। इसी बात को दिखलाते हैं— (अनुमान का प्रामाण्य हो, किन्तु उसका अन्तर्भाव प्रत्यक्ष में ही होता है, ऐसा कहने पर कहते हैं)।

सूत्रार्थ—प्रतिभास का भेद ही प्रमाणों का भेदक होता है ॥ ६० ॥ (अतः प्रत्यक्ष में अनुमान का अन्तर्भाव नहीं हो सकता है)

अब विषयाभास को बतलाने के लिए कहते हैं—

सूत्रार्थ—केवल सामान्य को, केवल विशेष को अथवा स्वतन्त्र दोनों को प्रमाण का विषय मानना विषयाभास है ॥ ६१ ॥

इनकी विषयाभासता कैसे है। इसके विषय में कहते हैं—

सूत्रार्थ—केवल सामान्य रूप से, केवल विशेष रूप से अथवा स्वतन्त्र दोनों रूप से वस्तु का प्रतिभास नहीं होता है तथा केवल सामान्य, केवल विशेष अथवा स्वतन्त्र दोनों अपना कार्य नहीं कर सकते ॥ ६२ ॥

दूसरी बात यह है कि वह एकान्तात्मक तत्त्व स्वयं समर्थ अथवा असमर्थ होकर कार्यकारी होता है, यह प्रश्न है। प्रथम पक्ष मानने पर दोष कहते हैं—

समर्थस्य करणे सर्वदोत्पत्तिरनपेक्षत्वात् ॥ ६३ ॥

सहकारिसान्निध्यात् तत्करणान्नेति चेदत्राह—

परापेक्षणे परिणामित्वमन्यथा तदभावात् ॥ ६४ ॥

वियुक्तावस्थायामकुर्वतः सहकारिसमवधानवेलायां कार्यकारिणः पूर्वोत्तराकार-परिहारावाप्तिस्थितिलक्षणापरिणामोपपत्तेरित्यर्थः । अन्यथा कार्यकरणाभावात् । प्रागभावावस्थायामेवेत्यर्थः ।

अथ द्वितीयपक्षे दोषमाह—

स्वयमसमर्थस्याकारकत्वात्पूर्ववत् ॥ ६५ ॥

सूत्रार्थ—एकान्तात्मक तत्त्व समर्थ होता हुआ कार्य करेगा तो कार्य की सदा उत्पत्ति होना चाहिये; क्योंकि वह किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं रखता है ॥ ६३ ॥

यदि कहा जाय कि वह पदार्थ सहकारी कारणों के सान्निध्य से उस कार्य को करता है, अतः कार्य की सदा उत्पत्ति नहीं होती है तो इसके विषय में कहते हैं—

सूत्रार्थ—दूसरे सहकारी कारणों की अपेक्षा रखने पर परिणामीपना प्राप्त होता है अन्यथा कार्य नहीं हो सकेगा ॥ ६४ ॥

सहकारी कारणों से रहित अवस्था में कार्य नहीं करने वाले और सहकारी कारणों के सन्निधान के समय कार्य करने वाले पदार्थ के पूर्व आकार का परित्याग, उत्तर आकार की प्राप्ति और स्थिति लक्षण परिणाम के सम्भव होने से परिणामीपना सिद्ध होता है, यदि ऐसा न माना जाय तो कार्य करने का अभाव रहेगा, जैसा कि प्रागभाव दशा में कार्य का अभाव था। (जैसे मिट्टी के पिण्ड में पहले घट का अभाव है) कार्य की उत्पत्ति नहीं मानेंगे तो समस्त वस्तुओं का समूह प्रागभाव अवस्था में ही विद्यमान हो जायेगा।

अब असमर्थ रूप दूसरे पक्ष में दोष कहते हैं—

सूत्रार्थ—स्वयं असमर्थ पदार्थ कार्य का करने वाला नहीं हो सकता, जैसे कि सहकारी कारणों से रहित अवस्था में अपना कार्य करने में समर्थ नहीं था, उसी तरह सहकारी कारणों के मिल जाने पर भी कार्य नहीं कर सकेगा ॥ ६५ ॥

अथ फलाभासं प्रकाशयन्नाह—

फलाभासं प्रमाणादभिन्न भिन्नमेव वा ॥ ६६ ॥

कुतः पक्षद्वयेऽपि तदाभासतेत्याशङ्कायामाद्यते तदाभासत्वे हेतुमाह—

अभेदे तद्व्यवहारानुपपत्तेः ॥ ६७ ॥

फलमेव प्रमाणमेव वा भवेदिति भावः ।

व्यावृत्या संवृत्यपरनामधेयया तत्कल्पनाऽस्त्वित्याह—

व्यावृत्यापि न तत्कल्पना फलान्तराद् व्यावृत्याऽफलत्व प्रसंगात् ॥ ६८ ॥

अयमर्थः—यथाऽफलाद्विजातीयात्फलस्य व्यावृत्या फलव्यवहारस्तथा फलान्तरादपि सजातीयाद् व्यावृत्तिरप्यस्तीत्यफलत्वम् ।

अत्रैवाभेदपक्षे दृष्टान्तमाह—

प्रमाणान्तराद्व्यावृत्त्येवाप्रमाणत्वस्य ॥ ६९ ॥

अब फलाभास को प्रकाशित करते हुए कहते हैं—

सूत्रार्थ—प्रमाण से उसके फल को सर्वथा अभिन्न अथवा सर्वथा भिन्न मानना फलाभास है ॥ ६६ ॥

इन दोनों ही पक्षों में फलाभासता कैसे है, ऐसी आशङ्का होने पर आदि पक्ष में (सर्वथा अभिन्न पक्ष में) फलाभासता बतलाने के लिये हेतु कहते हैं—

सूत्रार्थ—यदि प्रमाण से फल सर्वथा अभिन्न माना जाय तो प्रमाण और फल में (यह प्रमाण है, यह फल है, इस प्रकार का) व्यवहार ही नहीं हो सकता है ॥ ६७ ॥

(अभेद पक्ष में) या तो फल ही होगा या प्रमाण ही होगा, यह भाव है ।

सूत्रार्थ—अफल की व्यावृत्ति से भी फल की कल्पना नहीं की जा सकती अन्यथा फलान्तर की व्यावृत्ति से अफलपने की कल्पना का प्रसंग आ जायेगा ॥ ६८ ॥

यह अर्थ है—जिस प्रकार फल से विजातीय अफल की व्यावृत्ति से फल का व्यवहार करते हैं, उसी प्रकार फलान्तर—अन्य प्रमिति रूप सजातीय फल की व्यावृत्ति से अफलपने का प्रसंग आता है ।

अब अभेद पक्ष में दृष्टान्त कहते हैं—

सूत्रार्थ—जैसे प्रमाणान्तर की व्यावृत्ति से अप्रमाणपने का प्रसंग आता है ॥ ६९ ॥

अत्रापि प्राक्तन्येव प्रक्रिया योजनीया ।

अभेदपक्षं निराकृत्य आचार्य उपसंहरति—

तस्माद्वास्तवो भेदः ॥ ७० ॥

भेदपक्षं दूषयन्नाह—

भेदे त्वात्मान्तरवत्तदनुपपत्तेः ॥ ७१ ॥

अथ यत्रैवात्मनि प्रमाणं समवेतं फलमपि तत्रैव समवेतमिति समवायलक्षण-प्रत्यासत्त्या प्रमाणफलव्यवस्थितिरिति, नात्मान्तरे तत्प्रसङ्ग इति चेत्तदपि न सूक्त-मित्याह—

समवायेऽतिप्रसंगः ॥ ७२ ॥

समवायस्य नित्यत्वाद् व्यापकत्वाच्च सर्वात्मनामपि समवायसमानधर्मिकत्वान्न ततः प्रतिनियम इत्यर्थः ।

अन्य प्रमाण की व्यावृत्ति से जैसे प्रमाण के अप्रमाणपने का प्रसंग आता है, उसी प्रकार यहाँ भी पहले वाली ही प्रक्रिया लगानी चाहिये। अभेद पक्ष का निराकरण कर आचार्य उपसंहार करते हैं—

सूत्रार्थ—अतः प्रमाण और फल में वास्तविक भेद है ॥ ७० ॥

(फल का परमार्थ से भेद है, कल्पित भेद नहीं है। वास्तविक भेद के अभाव में प्रमाण और फल व्यवहार ही नहीं बन सकता है)।

भेद पक्ष में दोष दिखलाते हुए कहते हैं—

सूत्रार्थ—भेद मानने पर अन्य आत्मा के समान यह इस प्रमाण का फल है, ऐसा व्यवहार नहीं हो सकता है ॥ ७१ ॥

नैयायिक—जिस आत्मा में प्रमाण समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध है, उस आत्मा में फल भी समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध है, अतः समवाय स्वरूप प्रत्यासत्ति से प्रमाण और फल की व्यवस्था बन जायगी, अन्य आत्मा में फल के मानने का प्रसंग नहीं आयगा।

जैन—आपका उपर्युक्त कथन भी ठीक नहीं है। इसके विषय में कहते हैं—

सूत्रार्थ—समवाय के मानने पर अति प्रसंग दोष आता है ॥ ७२ ॥

समवाय के नित्य तथा व्यापक होने से वह सभी आत्माओं में समान धर्म रूप से रहेगा। अतः यह फल इसी प्रमाण का है, अन्य का नहीं है, इस प्रकार के प्रतिनियम का अभाव होगा।

इदानीं स्वपरपक्षसाधनदूषणव्यवस्थामुपदर्शयति—

प्रमाणतदाभासौ दुष्टतयोद्भावितौ परिहृतापरिहृतदोषौ वादिनः साधनतदाभासौ प्रतिवादिनो दूषणभूषणे च ॥ ७३ ॥

वादिना प्रमाणमुपन्यस्तम्, तच्च प्रतिवादिना दुष्टतयोद्भावितम्। पुनर्वादिना परिहृतम्, तदेव तस्य साधनं भवति; प्रतिवादिनश्च दूषणमिति। यदा तु वादिना प्रमाणाभासमुक्तम्, प्रतिवादिना तथैवोद्भावितम्, वादिना चापरिहृतम्; तदा तद्वादिनः साधनाभासो भवति, प्रतिवादिनश्च भूषणमिति।

अथोक्तप्रकारेणाशेषविप्रतिपत्तिनिराकरणद्वारेण प्रमाणतत्त्वं स्वप्रतिज्ञातं परीक्ष्य नयादितत्त्वमन्यत्रोक्तमितिदर्शयन्नाह—

सम्भवदन्यद् विचारणीयम् ॥ ७४ ॥

सम्भवद्विद्यमानमन्यत्प्रमाणतत्त्वान्नय[1]स्वरूपं शास्त्रान्तरप्रसिद्धं विचारणीय-

---

अब अपने पक्ष के साधन और परपक्ष के दूषण व्यवस्था को दर्शाते हैं—

सूत्रार्थ—वादी के द्वारा प्रयोग में लाए गए प्रमाण और प्रमाणाभास प्रतिवादी के द्वारा दोष रूप में प्रकट किए जाने पर वादी से परिहृत दोष वाले रहते हैं तो वे वादी के लिए साधन और साधनाभास हैं और प्रतिवादी के लिए दूषण और भूषण हैं ॥ ७३ ॥

वादी ने प्रमाण को उपस्थित किया, उसे प्रतिवादी ने दोष बतलाकर उद्भावन कर दिया। पुनः वादी ने उस दोष का निराकरण कर दिया तो वादी के लिए वह साधन और प्रतिवादी के लिए दूषण हो जायगा। जब वादी ने प्रमाणाभास कहा, प्रतिवादी ने दोष बतलाकर उसका उद्भावन कर दिया। तथा यदि वादी ने उसका परिहार नहीं किया तो वह वादी के लिए साधनाभास हो जायगा और प्रतिवादी के लिए भूषण होगा।

उक्त प्रकार से समस्त विप्रतिपत्तियों के निराकरण द्वारा स्वप्रतिज्ञात प्रमाण तत्त्व की परीक्षा कर अन्य ग्रन्थों (नयचक्रादि) में नयादि तत्त्व कहे गए हैं, इस बात को दिखलाते हुए कहते हैं—

सूत्रार्थ—सम्भव अन्य (नय-निपेक्षादि) भी विचारणीय हैं ॥ ७४ ॥

प्रमाण तत्त्व से भिन्न अन्य सम्भव अर्थात् विद्यमान, जो अन्य शास्त्रों

---

१. अनिराकृतप्रतिपक्षो वस्त्वंशग्राही ज्ञातुरभिप्रायो नय इति नयसामान्यलक्षणम्। तदुक्तम्—

नयो वक्तृविवक्षा स्याद् वस्त्वंशे स हि वर्तते।
द्विधाऽसौ भिद्यते मूलाद् द्रव्य-पर्यायभेदतः ॥

मिह युक्त्या प्रतिपत्तव्यम् । तत्र मूल नयौ द्वौ द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकभेदात् । तत्र द्रव्यार्थिकस्त्रेधा—नैगमसङ्ग्रहव्यवहारभेदात् । पर्यायार्थिकश्चतुर्धा—ऋजुसूत्र-शब्दसमभिरूढैवम्भूतभेदात् ।

अन्योन्यगुण प्रधानभूतभेदाभेदप्ररूपणो नैगमः । नैकं गमो नैगम इति निरुक्तेः । सर्वथा भेदवादस्तदाभासः ।

प्रतिपक्षसव्यपेक्षः सन्मात्रग्राही सङ्ग्रहः । ब्रह्मवादस्तदाभासः ।

में प्रसिद्ध नयों का स्वरूप है, वह यहाँ विचारणीय है, उसे युक्ति से जान लेना चाहिये । उनमें से मूल नय दो हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक । इनमें से द्रव्यार्थिक नय तीन प्रकार का है—१. नैगम, २. संग्रह और ३. व्यवहार । पर्यायार्थिक नय चार प्रकार का है—१. ऋजुसूत्र, २. शब्द ३. समभिरूढ और ४. एवंभूत ।

वस्तु में विद्यमान धर्मों के भेद और अभेद को परस्पर गौण और प्रधान करके निरूपण करना नैगम नय है । यह नय केवल एक ही धर्म को ग्रहण नहीं करता है । 'नैकं गमो नैगम' यह इसकी निरुक्ति है । सर्वथा भेद का कथन नैगमाभास है ।

विशेष—वस्तुगत का विद्यमान धर्मों के भेद और अभेद को परस्पर गौण और प्रधान करके निरूपण करना नैगमनय है । जैसे जीव का गुण सुख है । यहाँ पर जीव अप्रधान है, क्योंकि विशेषण है, सुख प्रधान है क्योंकि विशेष्य है । सुखी जीव—यहाँ जीव को प्रधानता है; क्योंकि जीव विशेष्य है । सुख को अप्रधानता है; क्योंकि सुख विशेषण है । अनिष्पन्न अर्थ के संकल्प मात्र को ग्रहण करने वाला नैगम नय है । निगम संकल्प को कहते हैं, वहाँ उत्पन्न हुआ अथवा वह जिसका प्रयोजन है, उसे नैगम कहते हैं । जैसे कोई पुरुष कुठार लेकर जा रहा है । आप किसलिये जा रहे हैं, ऐसा पूछे जाने पर कहता है—प्रस्थ लाने के लिए । यद्यपि प्रस्थ पर्याय सन्निहित नहीं है, किन्तु प्रस्थ पर्याय की निष्पत्ति के लिये संकल्प मात्र करने पर प्रस्थ का व्यवहार हुआ है । भूत, भावि और वर्तमान काल के भेद से नैगमनय तीन प्रकार का होता है ।

प्रतिपक्ष की अपेक्षा सहित सत् मात्र को ग्रहण करने वाला संग्रहनय है । ब्रह्मवाद संग्रहनयाभास है ।

विशेष—केवल सामान्य धर्म का ग्रहण कराने वाला संग्रह नय है । इसके दो भेद हैं—१. महासंग्रह और २. अवान्तर संग्रह । सम्पूर्ण विशेष धर्मों पर उदासीन होकर लक्ष्य न देता हुआ केवल सत् रूप शुद्ध द्रव्य को

सङ्ग्रहगृहीतभेदको व्यवहारः। काल्पनिको भेदस्तदाभासः। शुद्धपर्यायग्राही प्रतिपक्षसापेक्ष ऋजुसूत्रः। क्षणिकैकान्तनयस्तदाभासः।

जो सच्चा मानता है, उस नय को महासंग्रह कहते हैं। जैसे सामान्य सत्त्व धर्म की अपेक्षा सम्पूर्ण विश्व एक है। सत्तासामान्य को केवल स्वीकार करने वाला तथा शेष अन्य धर्मों का निषेध करने वाला जो एक सत्ता सामान्य रूप विचार है, वह महासंग्रहाभास है। जैसे सत्ता ही केवल सच्चा तत्त्व या पदार्थ है; क्योंकि सत्ता के अतिरिक्त जो विशेष धर्म माने जायँ, उन धर्मों का कुछ भी अवलोकन नहीं होता है। द्रव्यत्वादि अवान्तर सामान्य धर्मों को मानने वाला तथा उन सामान्य धर्मों के साथ रहने वाले विशेष विशेष धर्मों की तरफ हस्ति की दृष्टि के समान नहीं देखने वाला अवान्तर संग्रह या अपरसंग्रह कहलाता है। जैसे द्रव्यत्व धर्म की अपेक्षा धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गलादि सभी द्रव्य एक हैं। केवल द्रव्यत्वादि सामान्य धर्मों को स्वीकार करता हुआ जो उन सामान्य धर्मों के साथ के विशेष विशेष धर्मों का निषेध करता हो, वह अपर-संग्रहाभास है। जैसे—द्रव्यत्व ही सच्चा तत्त्व है; क्योंकि द्रव्यत्व से भिन्न द्रव्य का कभी भी प्रत्यक्ष नहीं होता है।

(स्याद्वाद मंजरी, पृ० २०३)

संग्रहनय से गृहीत पदार्थ का भेद करने वाला व्यवहारनय है।
भेद व्यवहार काल्पनिक है। इस प्रकार कहना व्यवहाराभास है।

विशेष—संग्रहनय के द्वारा जो एक रूप माने जाते हैं उनमें जो विचार ऐसा स्वीकार कराता हो कि व्यवहार के अनुकूल यह जुदा-जुदा है, उसको व्यवहार से कहते हैं जैसे—जो संग्रह की अपेक्षा एक सद्रूप कहा है, वह द्रव्य है या पर्याय ? यह नय और भी इस प्रकार के भेदों को ठीक मानता है जो द्रव्य पर्यायादिकों में झूठा भेद मानता है, वह व्यव-हारनयाभास समझा जाता है। जैसे—चार्वाक का मत

(स्याद्वाद मञ्जरी, पृ० २०३)

प्रतिपक्ष की अपेक्षा रहित शुद्ध पर्याय को ग्रहण करने वाला ऋजुसूत्र-नय है। क्षणिक एकान्तरूप तत्त्व को मानना ऋजुसूत्राभास है।

विशेष—ऋजु अर्थात् केवल वर्तमान क्षणवर्ती, पर्याय को जो प्रधानता से ग्रहण करता हो, उस अभिप्राय को ऋजुसूत्र कहते हैं। जैसे—इस समय सुखी है, इस समय दुःखी है, इत्यादि वर्तमान पर्याय रूप जैसा हो

काल-कारकलिङ्गानां भेदाच्छब्दस्य कथञ्चिदर्थभेदकथनं शब्दनयः। अर्थभेदं विना शब्दानामेव नानात्वैकान्तस्तदाभासः। पर्यायभेदात्पदार्थनानात्वनिरूपकः

तैसा कहने का नाम ऋजुसूत्र है। जो सर्वथा अनादिनिधन द्रव्य का निषेध कर केवल पर्यायों को ही अपने-अपने समय में सच्चा मानता है, वह ऋजुसूत्राभास है। जैसे—बौद्धमत

(स्याद्वाद मञ्जरी, पृ० २०४)

काल, कारक, लिङ्ग आदि के भेद से शब्द के कथञ्चित् अर्थ-भेद का कथन करना शब्दनय है। अर्थ-भेद के बिना शब्दों की एकान्तरूप से भिन्नता का कथन करना शब्दनयाभास है।

विशेष—लिंग, संख्या और साधन आदि के व्यभिचार की निवृत्ति करने वाला शब्दनय है। लिंग व्यभिचार, यथा—पुष्य, तारका और नक्षत्र। ये भिन्न-भिन्न लिंग के शब्द हैं। इनका मिलाकर प्रयोग करना लिंग व्यभिचार है। संख्या व्यभिचार यथा—'जलं आपः, वर्षाः ऋतुः, आम्रा वनम्, वरणाः नगरम्' ये एकवचनान्त और बहुवचनान्त शब्द हैं। इनका विशेषण विशेष्य रूप से प्रयोग करना संख्या व्यभिचार है। साधन व्यभिचार यथा—'सेना पर्वतमधिवसति' सेना पर्वत पर है। यहाँ अधिकरण कारक के अर्थ में सप्तमी विभक्ति न होकर द्वितीया विभक्ति है, इसलिये यह साधन व्यभिचार है। पुरुष व्यभिचार यथा—'एहि मन्ये रथेन यास्यसि, न हि यास्यसि यातस्ते पिता' = आओ, तुम समझते हो कि मैं रथ से जाऊँगा, नहीं जाओगे। तुम्हारे पिता गये। यहाँ मन्यसे के स्थान में मन्ये और यास्याभि के स्थान पर यास्यसि क्रिया का प्रयोग किया गया है, इसलिए यह पुरुष व्यभिचार है।

काल व्यभिचार—विश्वदृश्वास्य पुत्रो जनिता = इसका विश्वदृश्वा पुत्र होगा। यहाँ विश्वदृश्वा कर्त्ता रखकर जनिता क्रिया का प्रयोग किया गया है इसलिए यह उभय व्यभिचार है अथवा भाविकृत्यासीत् होने वाला कार्य हो गया यहाँ होने वाले कार्य को हो गया बतलाया गया है। इसलिए यह काल व्यभिचार है। उपग्रह व्यभिचार यथा—सतिष्ठते प्रतिष्ठित विरमति उपरमति यहाँ सम् और प्र उपसर्ग के कारण स्था धातु का आत्मने पद प्रयोग तथा 'वि' और 'उप' उपसर्ग के कारण रम् धातु का परस्मैपद में प्रयोग किया गया है, इसलिए यह उपग्रह है। यद्यपि व्यवहार में ऐसे प्रयोग होते हैं, तथापि इस प्रकार के व्यवहार को शब्दनय अनुचित

समभिरूढः । पर्यायनानात्वमन्तरेणापीन्द्रादिभेदकथनं तदाभासः क्रियाश्रयेण भेदप्ररूपणमित्थम्भावः । क्रियानिरपेक्षत्वेन क्रियावाचकेषु काल्पनिको व्यवहारस्तदाभास इति ।

इति नय-तदाभासलक्षणं सङ्क्षेपेणोक्तम्, विस्तरेण नयचक्रात्प्रतिपत्तव्यम् ।

मानता है और पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से अन्य अर्थ का अन्य अर्थ के साथ सम्बन्ध नहीं बन सकता । (सर्वार्थसिद्धि, १।३३)

पर्याय के भेद से पदार्थ के नानापने का निरूपण करने वाला समभिरूढ़नय है । पर्याय के नानात्व के बिना ही इन्द्रादि के भेद का कथन करना समभिरूढ़नयाभास है ।

विशेष—पर्यायवाची शब्दों में भी शब्द सिद्धिविषयक भेद है, इसलिये उनके वाच्य अर्थों को जुदा मानने वाला समभिरूढ़ नय है । जैसे—परम ऐश्वर्य की अपेक्षा इन्द्र कहना उचित है, शक्ति की अपेक्षा शक्र कहना उचित है, पुरों को विदीर्ण करने वाले की अपेक्षा पुरंदर कहना ठीक है । इत्यादि और भी जो पर्यायवाची शब्द होते हैं वे सब शब्दभेद के कारण कुछ न कुछ भेद ही दिखाते हैं । (स्याद्वाद मञ्जरी, पृ० २०४)

क्रिया के आश्रय से भेद का निरूपण करना एवम्भूत नय है । क्रिया की अपेक्षा से रहित होकर क्रियावाचक शब्दों में काल्पनिक व्यवहार एवम्भूताभास है ।

विशेष—जो वस्तु जिस पर्याय को प्राप्त हुई है, उसी रूप निश्चय कराने वाले नय को एवंभूत नय कहते हैं । आशय यह है कि जिस शब्द का जो वाच्य है, उस रूप क्रिया के परिणमन के समय ही उस शब्द का प्रयोग करना युक्त है, अन्य समय में नहीं । जभी आज्ञा ऐश्वर्य वाला हो, तभी इन्द्र है, अभिषेक करने वाला नहीं, और न पूजा करने वाला ही । जब गमन करती हो, तभी गाय है, बैठी हुई नहीं और न सोती हुई ही । अथवा जिस रूप से अर्थात् जिस ज्ञान से आत्मा परिणत हो, उसी रूप से उसका निश्चय कराने वाला नय एवम्भूत नय है । यथा—इन्द्र रूप ज्ञान से परिणत आत्मा इन्द्र है और अग्नि रूप ज्ञान से परिणत आत्मा अग्नि है । (सर्वार्थसिद्धि, १।३३)

इस प्रकार नय और नयाभास के लक्षण संक्षेप में कहे गये हैं विस्तार से नयचक्र से जानना चाहिये ।

विशेष—नय की अनेक परिभाषायें दी गई हैं जिनमें से कुछ निम्नलिखित हैं—

१. प्रमाण के द्वारा गृहीत ज्ञान के अंश को ग्रहण करने वाला नय है।

२. श्रुतविकल्प नय है।

३. ज्ञाता का अभिप्राय विशेष नय है।

४. नाना स्वभाव से जो अलग कर एक स्वभाव में वस्तु को जान-कराये वह नय है।

इन सब नयों में पूर्व-पूर्व नय बहुविषय वाला और कारण भूत है। बाद बाद वाले नय अल्पविषय और कार्यभूत हैं। संग्रहनय की अपेक्षा नैगम बहुविषय वाला है, क्योंकि भाव और अभाव दोनों को विषय करता है। जैसे सत् वस्तु के विषय में संकल्प होता है, उसी प्रकार असत् के विषय में भी होता है। संग्रहनय का विषय नैगम नय से अल्प विषय वाला, क्योंकि वह सत्ता मात्र को विषय करता है, उसका कार्य नैगम पूर्वक है। संग्रह से व्यवहार भी तत्पूर्वक है, वह सत् मात्र की जानकारी कराने वाले संग्रह नय की अपेक्षा अल्पविषय वाला ही है। तीनों कालों के पदार्थों को विषय बनाने वाले व्यवहारनय से ऋजुसूत्र भी तत्पूर्वक है, क्योंकि ऋजुसूत्र का विषय वर्तमानकालवर्ती पदार्थ है। इस प्रकार ऋजुसूत्र व्यवहार नय की अपेक्षा अल्पविषय वाला है। कारकादि भेद से अभिन्नार्थ का प्रतिपादन करने वाला ऋजुसूत्र है। तत्पूर्वक शब्द नय है, जो कि अल्पविषय वाला है। पर्याय भेद से अर्थभेद का प्रतिपादन करने वाले शब्दनय से तत्पूर्वक होने वाला समभिरूढ़ नय अल्पविषय वाला ही है। क्रिया भेद से भिन्न अर्थ को प्रकट करने वाले समभिरूढ़ नय से तत्पूर्वक होने वाला एवम्भूत अल्पविषय वाला ही है। जहाँ उत्तर उत्तर नय पदार्थ के अंश में प्रवृत्त करते हैं, वहाँ पूर्व-पूर्व नय विद्यमान रहता ही है। जैसे एक हजार में सात सौ अथवा सात सौ में पाँच सौ।

किसी पक्षी की आवाज को उदाहरण मानकर सातों नयों में इस प्रकार घटित किया है। नैगम नय वाला कहता है कि ग्राम में पक्षी की आवाज हो रही है। संग्रह नय वाला कहता है कि वृक्ष पर पक्षी बोल रहा है। व्यवहार नय वाला कहता है कि तने पर पक्षी बोल रहा है। ऋजुसूत्र नय वाला कहता है कि शाखा पर पक्षी बोल रहा है। शब्द नय वाला कहता है कि घोंसले में पक्षी बोल रहा है। समभिरूढ़ नय वाला कहता है कि अपने शरीर में पक्षी बोल रहा है। एवम्भूत नय वाला कहता है कि पक्षी कण्ठ में बोल रहा है। (टिप्पण)

अथवा सम्भवद्विद्यमानमन्यद्वादलक्षणं पत्रलक्षणं वाऽन्यत्रोक्तमिह द्रष्टव्यम् । तथा चाह—समर्थवचनं वाद इति ।

प्रसिद्धावयवं वाक्यं स्वेष्टस्यार्थस्य साधकम् ।
साधुगूढपदप्रायं पत्रमाहुरनाकुलम् ॥ ४२ ॥ इति

परीक्षामुखमादर्शं हेयोपादेयतत्त्वयोः ।
संविदे मादृशो बालः परीक्षादक्षवद्व्यधाम् ॥ २ ॥

व्यधामकृतवानस्मि । किमर्थम् ? संविदे । कस्य ? मादृशः । अहं च कथम्भूत इत्याह—बालो मन्दमतिः । अनौद्धत्यसूचकं वचनमेतत् । तत्त्वज्ञत्वञ्च प्रारब्धनिर्वहणादेवावसीयते । किं तत् ? परीक्षामुखम् । तदेव निरूपयति आदर्शमिति । कयोः ? हेयोपादेयतत्त्वयोः यथैवाऽऽदर्शः आत्मनोऽलङ्कारमण्डितस्य सौरूप्यं वैरूप्यं वा प्रतिबिम्बोपदर्शनद्वारेण सूचयति, तथेदमपि हेयोपादेयतत्त्वं साधनदूषणोपदर्शनद्वारेण निश्चाययतीत्यादर्शत्वेन निरूप्यते । क इव ? परीक्षादक्षवत् परीक्षादक्ष इव । यथा

अथवा शास्त्रार्थ में सम्भव अर्थात् विद्यमान अन्य जो वाद का लक्षण है अथवा पत्र का लक्षण है जो कि पत्र परीक्षा आदि ग्रन्थों में वर्णित है; वह यहाँ पर दर्शनीय है। जैसा कि कहा है—समर्थ वचन को वाद कहते हैं।

श्लोकार्थ—जिसमें (अनुमान के) अवयव पाए जायँ जो अपने इष्ट अर्थ का साधक हो, जो निर्दोष गूढ़ रहस्य वाले पदों से व्याप्त हो, ऐसे अनाकुल (अबाधित) वाक्य को पत्र कहते हैं ॥४२॥

श्लोकार्थ—छोड़ने योग्य और ग्रहण करने योग्य तत्त्व के ज्ञान के लिए दर्पण के समान इस परीक्षामुख ग्रन्थ को मुझ सदृश बालक ने परीक्षा में निपुण पुरुष के समान रचा ॥२॥

व्यधाम् = किया है। किसलिए ? ज्ञान के लिए। किसके ज्ञान के लिए ? मुझ जैसे मन्दबुद्धियों के ज्ञान के लिए। मैं कैसा हूँ, इसके विषय में कहा है—बाल-मन्दबुद्धि। यह वचन अनुद्धतता का सूचक है। तत्त्वज्ञता तो प्रारम्भ किए हुए कार्य के निर्वाह से जानी जाती है। वह कार्य क्या है ? परीक्षामुख। उसी का आदर्श के समान निरूपण कर रहे हैं। किनका ? हेय और उपादेय तत्त्वों का। जिस प्रकार आदर्श (दर्पण) अलंकारों से मण्डित अपनी स्वरूपता या विरूपता को प्रतिबिम्ब दिखलाने के द्वारा सूचित करता है, उसी प्रकार यह ग्रन्थ भी हेतु और उपादेय तत्त्व का साधन और दूषण दिखलाने के द्वार से निश्चय कराता है अतः

परीक्षादक्षः स्वप्रारब्धशास्त्रं निरूढवांस्तथाऽहमपीत्यर्थः ।

अकलङ्कशशाङ्केर्यत्प्रकटीकृतमखिलमाननिभनिकरम् ।
तत्सङ्क्षिप्तं सूरिभिरुद्धमतिभिर्व्यक्तमेतेन ॥ १२ ॥

इति परीक्षामुखलघुवृत्तौ प्रमाणाद्याभाससमुद्देशः षष्ठः ।

उसका आदर्श के रूप में निरूपण है ।

किसके समान ? परोक्ष में दक्ष के समान । जैसे परीक्षा में दक्ष अपने प्रारम्भ किये हुए शास्त्र को पूरा करके निर्वाह करता है उसी प्रकार मैंने भी अपने कर्त्तव्य का निर्वाह किया है ।

श्लोकार्थ—अकलंक देव रूपी चन्द्रमा के द्वारा जो प्रमाण और प्रमाणाभास का समूह प्रकट किया गया है उसे विशाल बुद्धि आचार्य माणिक्यनन्दि ने संक्षिप्त किया, उसे ही इस टीका द्वारा (अनन्तवीर्य ने) व्यक्त किया है ॥१२॥

विशेष—समस्त वादियों ने प्रमाणों की संख्या भिन्न-भिन्न कही है । चार्वाक केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं । बौद्धों के यहाँ प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाण हैं । प्रत्यक्ष, अनुमान और शाब्द ये तीन प्रमाण सांख्य मानता है, नैयायिक लोग प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द ये चार प्रमाण मानते हैं । भाट्ट लोग प्रत्यक्ष, अनुमान, शाब्द, उपमान और अर्थापत्ति ये पाँच प्रमाण मानते हैं । मीमांसक प्रत्यक्ष, अनुमान, शाब्द, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव प्रमाण मानते हैं । जैन परोक्ष और प्रत्यक्ष दो प्रमाण मानते हैं ।

टिप्पणकार ने अपने-अपने तर्क के भेद से छह दर्शन माने हैं—जैन, मीमांसक, बौद्ध, सांख्य, शैव और चार्वाक ।

इस प्रकार परीक्षामुख की लघुवृत्ति में प्रमाणाभासादि
वर्णनपरक षष्ठ समुद्देश पूर्ण हुआ ।

●

टीकाकारस्य प्रशस्तिः

श्रीमान् वैजेयनामाभूदग्रणीर्गुणशालिनाम् ।
बदरीपालवंशालिव्योमद्युमणिरूर्जितः ॥ १ ॥

तदीयपत्नी भुवि विश्रुताऽऽसीन्नाणाम्बनाम्ना गुणशीलसीमा ।
यां रेवतीति प्रथिताम्बिकेति प्रभावतीति प्रवदन्ति सन्तः ॥ २ ॥

तस्यामभूद्विश्वजनीनवृत्ति र्दानाबुवाहो भुवि हीरपाख्यः ।
स्वगोत्रविस्तारनभोंऽशुमाली सम्यक्त्वरत्नाभरणार्चिताङ्गः ॥ ३ ॥

तस्योपरोधवशतो विशदोरुकीर्त्तेर्माणिक्यनन्दिकृतशास्त्रमगाधबोधम् ।
स्पष्टीकृतं कतिपयैर्वचनैरुदारै र्बालप्रबोधकरमेतदनन्तवीर्यैः ॥ ४ ॥

इति प्रमेयरत्नमालाऽपरनामधेया परीक्षामुखलघुवृत्तिः समाप्ता ।

टीकाकार प्रशस्ति

श्लोकार्थ—बदरीपाल वंशावली रूपी आकाश में सूर्य के समान ओजस्वी गुणशालियों में अग्रणी वैजेय नामक श्रीमान् हुए ॥१॥

श्लोकार्थ—गुण और शील की सीमा स्वरूप 'नाणम्ब' नाम से पृथ्वी पर प्रसिद्ध उसकी पत्नी थी। जो रेवती इस नाम से प्रसिद्ध थी तथा जिसे सज्जन लोग अम्बिका, प्रभावती इस नाम से भी पुकारते थे ॥२॥

श्लोकार्थ—उसके विश्व का हित करने की मनोवृत्ति वाला, दान देने के लिए मेघ स्वरूप, अपने गोत्र के विस्तार रूप आकाश का सूर्य और सम्यक्त्व रूप रत्नाभरण से अर्चित अङ्ग वाला संसार में हीरप नाम से प्रसिद्ध पुत्र हुआ।

श्लोकार्थ—विशद और विस्तीर्ण कीर्ति वाले उस हीरप के आग्रह वश इस अनन्तवीर्य ने माणिक्यनन्दिकृत अगाध बोध वाले इस शास्त्र को कुछ संक्षिप्त किन्तु उदार (गम्भीर और उत्कट) वचनों के द्वारा बालकों (अश्रद्धान लक्षण रूप अनादि मिथ्यात्व के कारण हेयोपादेय तत्त्व से अनभिज्ञों) को प्रबोध करने वाले (यथार्थ श्रद्धान लक्षण सम्यक्त्व रूप उद्योत से हेयोपादेय का परिज्ञान कराने वाले) इस शास्त्र को स्पष्ट किया है ॥४॥

इस प्रकार जिसका दूसरा नाम प्रमेयरत्नमाला है,
ऐसी यह परीक्षामुख लघुवृत्ति समाप्त हुई।

●

परिशिष्टम्

परीक्षामुख-सूत्रपाठः

सूत्राङ्काः		पृष्ठाङ्काः
प्रथमः समुद्देशः		**१-२८**
	प्रमाणाद्वर्थसंसिद्धस्तदाभासाद्विपर्ययः ।	
	इति वक्ष्ये तयोर्लक्ष्म सिद्धमल्पं लघीयसः ॥ १ ॥	४
१.	स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम् ।	१०
२.	हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत् ।	१३
३.	तन्निश्चयात्मकं समारोपविरुद्धत्वादनुमानवत् ।	१४
४.	अनिश्चितोऽपूर्वार्थः ।	१६
५.	दृष्टोऽपि समारोपात्तादृक् ।	१७
६.	स्वोन्मुखतया प्रतिभासनं स्वस्य व्यवसायः ।	१७
७.	अर्थस्येव तदुन्मुखतया ।	१८
८.	घटमहमात्मना वेद्मि ।	१८
९.	कर्मवत्कर्तृकरणक्रियाप्रतीतेः ।	१९
१०.	शब्दानुच्चारणेऽपि स्वस्यानुभवनमर्थवत् ।	१९
११.	को वा तत्प्रतिभासिनमर्थमध्यक्षमिच्छंस्तदेव तथा नेच्छेत् ।	१९
१२.	प्रदीपवत् ।	२०
१३.	तत्प्रामाण्यं स्वतः परतश्च ।	२१
द्वितीयः समुद्देशः		**२९-८२**
१.	तद् द्वेधा ।	२९
२.	प्रत्यक्षेतरभेदात् ।	२९
३.	विशदं प्रत्यक्षम् ।	४२
४.	प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन विशेषवत्तया वा प्रतिभासनं वैशद्यम्	४३
५.	इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं देशतः सांव्यवहारिकम् ।	४५
६.	नार्थालोकौ कारणं परिच्छेद्यत्वात्तमोवत् ।	४७
७.	तदन्वयव्यतिरेकानुविधानभावाच्च वेशद्येऽक्षज्ञानवन्नक्षजज्ञानवच्च ।	४७

सूत्राङ्काः पृष्ठाङ्काः

८. अतज्जन्यमपि तत्प्रकाशकं प्रदीपवत् । ४८
९. स्वावरणक्षयोपशमलक्षणयोग्यतया हि प्रतिनियतमर्थं व्यवस्थापयति । ४९
१०. कारणस्य च परिच्छेद्यत्वे करणादिना व्यभिचारः । ५१
११. सामग्रीविशेषविश्लेषिताखिलावरणमतीन्द्रियमशेषतो मुख्यम् । ५१
१२. सावरणत्वे करणजन्यत्वे च प्रतिबन्धसम्भवात् । ५२

तृतीयः समुद्देशः ८३-१५३

१. परोक्षमितरत् । ८३
२. प्रत्यक्षादिनिमित्तं स्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदम् । ८३
३. संस्कारोद्बोधनिबन्धना तदित्याकारा स्मृतिः । ८४
४. स देवदत्तो यथा । ८४
५. दर्शनस्मरणकारणकं सङ्कलनं प्रत्यभिज्ञानम् । तदेवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादि । ८४
६. यथा स एवायं देवदत्तः । गोसदृशो गवयः । गोविलक्षणो महिषः । इदमस्माद् दूरम् । वृक्षोऽयमित्यादि । ८५
७. उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः । ८६
८. इदमस्मिन् सत्येव, भवत्यसति तु न भवत्येवेति च । ८६
९. यथाऽग्नावेव धूमस्तदभावे न भवत्येवेति च । ८७
१०. साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम् । ८७
११. साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुः । ८७
१२. सहक्रमभावनियमोऽविनाभावः । ९१
१३. सहचारिणोर्व्याप्यव्यापकयोश्च सहभावः । ९१
१४. पूर्वोत्तरचारिणोः कार्यकारणयोश्च क्रमभावः । ९१
१५. तर्कात्तन्निर्णयः । ९२
१६. इष्टमबाधितमसिद्धं साध्यम् । ९२
१७. सन्दिग्धविपर्यस्ताव्युत्पन्नानां साध्यत्वं यथा स्यादित्यसिद्धपदम् । ९२
१८. अनिष्टाध्यक्षादिबाधितयोः साध्यत्वं माभूदितीष्टाबाधितवचनम् । ९३
१९. न चासिद्धवदिष्टं प्रतिवादिनः । ९४
२०. प्रत्यायनाय हीच्छा वक्तुरेव । ९४
२१. साध्यं धर्मः क्वचित्तद्विशिष्टो वा धर्मी । ९५
२२. पक्ष इति यावत् । ९५
२३. प्रसिद्धो धर्मी । ९६

सूत्राङ्काः		पृष्ठाङ्काः
२४.	विकल्पसिद्धे तस्मिन् सत्तेतरे साध्ये ।	९६
२५.	अस्ति सर्वज्ञो नास्ति खरविषाणम् ।	९७
२६.	प्रमाणोभयसिद्धे तु साध्यधर्मविशिष्टता ।	९८
२७.	अग्निमानयं देशः परिणामी शब्द इति यथा ।	९९
२८.	व्याप्तौ तु साध्यं धर्म एव ।	९९
२९.	अन्यथा तदघटनात् ।	१००
३०.	साध्यधर्माधारसन्देहापनोदाय गम्यमानस्यापि पक्षस्य वचनम् ।	१००
३१.	साध्यधर्मिणि साधनधर्मावबोधनाय पक्षधर्मोपसंहारवत् ।	१०१
३२.	को वा त्रिधा हेतुमुक्त्वा समर्थयमानो न पक्षयति ।	१०२
३३.	एतद्-द्वयमेवानुमानाङ्गं नोदाहरणम् ।	१०३
३४.	न हि तत्साध्यप्रतिपत्त्यङ्गं तत्र यथोक्तहेतोरेव व्यापारात् ।	१०३
३५.	तदविनाभावनिश्चयार्थं वा विपक्षे बाधकादेव तत्सिद्धेः ।	१०४
३६.	व्यक्तिरूपं च निदर्शनं सामान्येन तु व्याप्तिस्तत्रापि तद्विप्रतिपत्तावनवस्थानं स्याद् दृष्टान्तान्तरापेक्षणात् ।	१०४
३७.	नापि व्याप्तिस्मरणार्थं तथाविधहेतुप्रयोगादेव तत्स्मृतेः ।	१०५
३८.	तत्परमभिधीयमानं साध्यधर्मिणि साध्यसाधने सन्देहयति ।	१०५
३९.	कुतोऽन्यथोपनयनिगमने ।	१०६
४०.	न च ते तदङ्गे, साध्यधर्मिणि हेतुसाध्ययोर्वचनादेवासंशयात् ।	१०६
४१.	समर्थनं वा वरं हेतुरूपमनुमानावयवो वाऽस्तु, साध्ये तदुपयोगात् ।	१०७
४२.	बालव्युत्पत्त्यर्थं तत्त्रयोपगमे शास्त्र एवासौ, न वादेऽनुपयोगात् ।	१०७
४३.	दृष्टान्तो द्वेधा—अन्वयव्यतिरेकभेदात् ।	१०८
४४.	साध्यव्याप्तं साधनं यत्र प्रदर्श्यते सोऽन्वयदृष्टान्तः ।	१०८
४५.	साध्याभावे साधनाभावो यत्र कथ्यते स व्यतिरेकदृष्टान्तः ।	१०८
४६.	हेतोरुपसंहार उपनयः ।	१०९
४७.	प्रतिज्ञायास्तु निगमनम् ।	१०९
४८.	तदनुमानं द्वेधा ।	११०
४९.	स्वार्थपरार्थभेदात् ।	११०
५०.	स्वार्थमुक्तलक्षणम् ।	११०
५१.	परार्थं तु तदर्थपरामर्शिवचनाज्जातम् ।	११०
५२.	तद्वचनमपि तद्धेतुत्वात् ।	१११
५३.	स हेतुर्द्वेधोपलब्ध्यनुपलब्धिभेदात् ।	११२

सूत्राङ्काः		पृष्ठाङ्काः
५४.	उपलब्धिर्विधिप्रतिषेधयोरनुपलब्धिश्च ।	११३
५५.	अविरुद्धोपलब्धिर्विधौ षोढा व्याप्यकार्यकारणपूर्वोत्तरसहचरभेदात् ।	११३
५६.	रसादेकसामग्र्यनुमानेन रूपानुमानमिच्छद्भिरिष्टमेव किञ्चित्कारणं हेतुर्यत्र सामर्थ्यप्रतिबन्धकारणान्तरावैकल्ये ।	११४
५७.	न च पूर्वोत्तरचारिणोस्तादात्म्यं तदुत्पत्तिर्वा कालव्यवधाने तदनुपलब्धेः	११५
५८.	भाव्यतीतयोर्मरणजाग्रद्बोधयोरपि नारिष्टोद्बोधौ प्रति हेतुत्वम् ।	११६
५९.	तद्व्यापाराश्रितं हि तद्भावभावित्वम् ।	११६
६०.	सहचारिणोरपि परस्परपरिहारेणावस्थानात्सहोत्पादाच्च ।	११७
६१.	परिणामी शब्दः कृतकत्वात्, य एवं स एवं दृष्टो यथा घटः, कृतकश्चायम्, तस्मात्परिणामीति । यस्तु न परिणामी स न कृतको दृष्टो यथा बन्ध्यास्तनन्धयः, कृतकश्चायम् । तस्मात्परिणामी ।	११८
६२.	अस्त्यत्र देहिनि बुद्धिर्व्याहारादेः ।	११८
६३.	अस्त्यत्रच्छाया छत्रात् ।	११९
६४.	उदेष्यति शकटं कृत्तिकोदयात् ।	११९
६५.	उद्गाद्भरणिः प्राक्तत एव ।	११९
६६.	अस्त्यत्र मातुलिङ्गे रूपं रसात् ।	११९
६७.	विरुद्धतदुपलब्धिः प्रतिषेधे तथा ।	११९
६८.	नास्त्यत्र शीतस्पर्शः औष्ण्यात् ।	१२०
६९.	नास्त्यत्र शीतस्पर्शो धूमात् ।	१२०
७०.	नास्मिन् शरीरिणि सुखमस्ति हृदयशल्यात् ।	१२०
७१.	नोदेष्यति मुहूर्त्तान्ते शकटं रेवत्युदयात् ।	१२१
७२.	नोदगाद्भरणिर्मुहूर्त्तात्पूर्वं पुष्योदयात् ।	१२१
७३.	नास्त्यत्र भित्तौ परभागाभावोऽवभागदर्शनात् ।	१२१
७४.	अविरुद्धानुपलब्धिः प्रतिषेधे सप्तधा स्वभावव्यापककार्यकारणपूर्वोत्तर-सहचरानुपलम्भभेदात् ।	१२१
७५.	नास्त्यत्र भूतले घटोऽनुपलब्धेः ।	१२२
७६.	नास्त्यत्र शिंशपा वृक्षानुपलब्धेः ।	१२२
७७.	नास्त्यत्राप्रतिबद्धसामर्थ्योऽग्निर्धूमानुपलब्धेः ।	१२२
७८.	नास्त्यत्र धूमोऽनग्नेः ।	१२३
७९.	न भविष्यति मुहूर्त्तान्ते शकटं कृत्तिकोदयानुपलब्धेः ।	१२३
८०.	नोदगाद्भरणिर्मुहूर्त्तात्प्राक् तत एव ।	१२३

सूत्राङ्काः पृष्ठाङ्काः

८१. नास्त्यत्र समतुलायामुन्नामो नामानुपलब्धेः । १२३
८२. विरुद्धानुपलब्धिर्विधौ त्रेधा—विरुद्धकार्यकारणस्वभावानुपलब्धि-भेदात् । १२३
८३. यथाऽस्मिन् प्राणिनि व्याधिविशेषोऽस्ति निरामयचेष्टानुपलब्धेः । १२४
८४. अस्त्यत्र देहिनि दुःखमिष्टसंयोगाभावात् । १२४
८५. अनेकान्तात्मकं वस्त्वेकान्तस्वरूपानुपलब्धेः । १२४
८६. परम्परया सम्भवत्साधनमत्रैवान्तर्भावनीयम् । १२५
८७. अभूदत्र चक्रे शिवकः स्यात् । १२५
८८ कार्यकार्यमविरुद्धकार्योपलब्धौ । १२५
८९. नास्त्यत्र गुहायां मृगक्रीडनं मृगारिसंशब्दनात् कारणविरुद्धकार्यं विरुद्धकार्योपलब्धौ यथा । १२६
९०. व्युत्पन्नप्रयोगस्तु तथोपपत्त्याऽन्यथानुपपत्त्यैव वा । १२६
९१. अग्निमानयं देशस्तथैव धूमवत्त्वोपपत्तेर्धूमवत्त्वान्यथानुपपत्तेर्वा । १२६
९२. हेतुप्रयोगो हि यथा व्याप्तिग्रहणं विधीयते सा च तावन्मात्रेण व्युत्पन्नैरवधार्यते । १२७
९३. तावता च साध्यसिद्धिः । १२७
९४. तेन पक्षस्तदाधारसूचनायोक्तः । १२८
९५. आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः । १२८
९६. सहजयोग्यतासङ्केतवशाद्धि शब्दादयो वस्तुप्रतिपत्तिहेतवः । १४७
९७. यथा मेर्वादयः सन्ति । १४८

चतुर्थः समुद्देशः १५४-१८९

१. सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः । १५४
२. अनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययगोचरत्वात् पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिस्थिति-लक्षणपरिणामेनार्थक्रियोपपत्तेश्च । १८१
३. सामान्यं द्वेधा तिर्यगूर्ध्वताभेदात् । १८२
४. सदृशपरिणामस्तिर्यक् खण्डमुण्डादिषु गोत्ववत् । १८२
५. परापरविवर्तव्यापि द्रव्यमूर्ध्वता मृदिव स्थासादिषु । १८२
६. विशेषश्च । १८३
७. पर्यायव्यतिरेकभेदात् । १८३
८. एकस्मिन् द्रव्ये क्रमभाविनः परिणामाः पर्याया आत्मनि हर्षविषादादिवत् । १८३

सूत्राङ्काः पृष्ठाङ्काः

९. अर्थान्तरगतो विसदृशपरिणामो व्यतिरेको गोमहिषादिवत् । १८८

पञ्चमः समुद्देशः १९०-१९१

१. अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलम् । १९०

२. प्रमाणादभिन्नं भिन्नं च । १९०

३. यः प्रमिमीते स एव निवृत्ताज्ञानो जहात्यादत्त उपेक्षते चेति प्रतीतेः । १९०

षष्ठः समुद्देशः १९२-२२७

१. ततोऽन्यत्तदाभासम् । १९२

२. अस्वसंविदितगृहीतार्थदर्शनसंशयादयः प्रमाणाभासाः । १९२

३. स्वविषयोपदर्शकत्वाभावात् । १९६

४. पुरुषान्तर पूर्वार्थगच्छतृणस्पर्शस्थाणुपुरुषादिज्ञानवत् । १९६

५. चक्षूरसयोर्द्रव्ये संयुक्तसमवायवच्च । १९६

६. अवैशद्ये प्रत्यक्षं तदाभासं बौद्धस्याकस्माद्धूमदर्शनाद्वह्निविज्ञानवत् । २००

७. वैशद्येऽपि परोक्षं तदाभासं मीमांसकस्य करणज्ञानवत् । २००

८. अतस्मिंस्तदिति ज्ञानं स्मरणाभासं जिनदत्ते स देवदत्तो यथा । २००

९. सदृशे तदेवेदं तस्मिन्नेव तेन सदृशं यमलकवदित्यादि प्रत्यभिज्ञानाभासम् । २०१

१०. असम्बद्धे तज्ज्ञानं तर्काभासं यावांस्तत्पुत्रः स श्यामो यथा । २०१

११. इदमनुमानाभासम् । २०१

१२. तत्रानिष्टादिः पक्षाभासः । २०२

१३. अनिष्टो मीमांसकस्यानित्यः शब्दः । २०२

१४. सिद्धः श्रावणः शब्दः । २०२

१५. बाधितः प्रत्यक्षानुमानागमलोकस्ववचनैः । २०२

१६. तत्र प्रत्यक्ष बाधितोयथा-अनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वाज्जलवत् । २०३

१७. अपरिणामी शब्दः कृतकत्वाद् घटवत् । २०३

१८. प्रेत्यासुखप्रदो धर्मः पुरुषाश्रितत्वादधर्मवत् । २०३

१९. शुचिनरशिरःकपालं प्राण्यङ्गत्वाच्छङ्खशुक्तिवत् । २०३

२०. माता मे वन्ध्या पुरुषसंयोगेऽप्यगर्भत्वात्प्रसिद्धवन्ध्यावत् २०४

२१. हेत्वाभासा असिद्धाविरुद्धानैकान्तिकाकिञ्चित्कराः । २०४

२२. असत्सत्तानिश्चयोऽसिद्धः । २०४

२३. अविद्यमानसत्ताकः परिणामी शब्दश्चाक्षुषत्वात् । २०४

सूत्राङ्काः		पृष्ठाङ्काः
२४.	स्वरूपेणामत्त्वात् ।	२०४
२५.	अविद्यमाननिश्चयो मुग्धबुद्धि प्रत्यग्निरत्र धूमात् ।	२०५
२६.	तस्य बाष्पादिभावेन भूतसंघाते सन्देहात् ।	२०५
२७.	सांख्यं प्रति परिणामी शब्दः कृतकत्वात् ।	२०६
२८.	तेनाज्ञातत्वात् ।	२०६
२९.	विपरीतनिश्चितविनाभावो विरुद्धोऽपरिणामी शब्दः कृतकत्वात् ।	२०६
३०.	विपक्षेऽप्यविरुद्धवृत्तिरनैकान्तिकः ।	२०६
३१.	निश्चितवृत्तिरनित्यः शब्दः प्रमेयत्वाद् घटवत् ।	२०७
३२.	आकाशे नित्येऽप्यस्य निश्चयात् ।	२०७
३३.	शङ्कितवृत्तिस्तु नास्ति सर्वज्ञो वक्तृत्वात् ।	२०८
३४.	सर्वज्ञत्वेन वक्तृत्वाविरोधात् ।	२०८
३५.	सिद्धे प्रत्यक्षादिबाधिते च साध्ये हेतुरकिञ्चित्करः ।	२०८
३६.	सिद्धः श्रावणः शब्दः शब्दत्वात् ।	२०८
३७.	किञ्चिदकरणात् ।	२०८
३८.	यथानुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वादित्यादौ किञ्चित्कर्तुमशक्यत्वात् ।	२०९
३९.	लक्षण एवासौ दोषो व्युत्पन्नप्रयोगस्य पक्षदोषेणैव दुष्टत्वात् ।	२०९
४०.	दृष्टान्ताभासा अन्वयेऽसिद्धसाधनोभयाः ।	२०९
४१.	अपौरुषेयः शब्दोऽमूर्त्तत्वाद्विद्रियसुखपरमाणुघटवत् ।	२१०
४२.	विपरीतान्वयश्च यदपौरुषेयं तदमूर्तम् ।	२१०
४३.	विद्युदादिनाऽतिप्रसङ्गात् ।	२१०
४४.	व्यतिरेकेऽसिद्धतद्व्यतिरेकाः परमाण्विन्द्रियसुखाकाशवत् ।	२११
४५.	विपरीतव्यतिरेकश्च यन्नामूर्त्तं तन्नापौरुषेयम् ।	२११
४६.	बालप्रयोगाभासः पञ्चावयवेषु क्रियद्धीनता ।	२११
४७.	अग्निमानयं देशो धूमवत्त्वात्, यदित्थं तदित्थं यथा महानस इति ।	२१२
४८.	धूमवांश्चायमिति वा ।	२१२
४९.	तस्मादग्निमान् धूमवांश्चायमिति ।	२१२
५०.	स्पष्टतया प्रकृतप्रतिपत्तेरयोगात् ।	२१२
५१.	रागद्वेषमोहाक्रान्तपुरुषवचनाज्जातमागमाभासम् ।	२१२
५२.	यथानद्यास्तीरे मोदकराशयः सन्ति धावध्वं माणवकाः ।	२१३
५३.	अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्त इति च ।	२१३
५४.	विसंवादात् ।	२१३

सूत्राङ्काः		पृष्ठाङ्काः
५५.	प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमित्यादि संख्याभासम् ।	२१४
५६.	लौकायतिकस्य प्रत्यक्षतः परलोकादिनिषेधस्य परबुद्धयादेश्चासिद्धेरतद्विषयत्वात् ।	२१४
५७.	सौगत-सांख्य-यौग-प्राभाकरजैमिनीयायां प्रत्यक्षानुमानागमोपमानार्थापत्त्यभावैरेकैकाधिकैर्व्याप्तिवत् ।	२१५
५८.	अनुमानादेस्तद्विषयत्वे प्रमाणान्तरत्वम् ।	२१५
५९.	तर्कस्येव व्याप्तिगोचरत्वे प्रमाणान्तरत्वमप्रमाणस्याव्यवस्थापकत्वात् ।	२१५
६०.	प्रतिभासभेदस्य च भेदकत्वात् ।	२१६
६१.	विषयाभासः सामान्य विशेषो द्वयं वा स्वतन्त्रम् ।	२१६
६२.	तथाऽप्रतिभासनात्कार्याकरणाच्च ।	२१६
६३.	समर्थस्य करणे सर्वदोत्पत्तिरनपेक्षत्वात् ।	२१७
६४.	परापेक्षणे परिणामित्वमन्यथा तदभावात् ।	२१७
६५.	स्वयमसमर्थस्याकारकत्वात्पूर्ववत् ।	२१७
६६.	फलाभासं प्रमाणादभिन्नं भिन्नमेव वा ।	२१८
६७.	अभेदे तद्व्यवहारानुपपत्तेः ।	२१८
६८.	व्यावृत्त्याऽपि न तत्कल्पना फलान्तराद् व्यावृत्त्याऽफलत्वप्रसङ्गात् ।	२१८
६९.	प्रमाणान्तराद् व्यावृत्त्येवाप्रमाणत्वस्य ।	२१८
७०.	तस्माद्वास्तवो भेदः ।	२१९
७१.	भेदे त्वात्मान्तरवत्तदनुपपत्तेः ।	२१९
७२.	समवायेऽतिप्रसङ्गः ।	२१९
७३.	प्रमाणतदाभासौ दुष्टतयोद्भावितौ परिहृतापरिहृतदोषौ वादिनः साधनतदाभासौ प्रतिवादिनो दूषणभूषणे च ।	२२०
७४.	सम्भवदन्यद्विचारणीयम् ।	२२०

परीक्षामुखमादर्शं हेयोपादेयतत्त्वयोः ।
संविदे मादृशो बालः परीक्षादक्षवद् व्यधाम् ॥ २ ॥

●